गौड़ीय वैष्णव साहित्य और कविकर्णपूर रचित चैतन्यचन्द्रोदय

JACL-KRC
020972

डॉ॰ सिप्रा बैनर्जी

गौड़ीय वैष्णव साहित्य और कविकर्णपूर रचित चैतन्यचन्द्रोदय

20972

92v

प्रतकालागी
3.11 16/1/08

गौड़ीय वैष्णव साहित्य और कविकर्णपूर रचित चैतन्यचन्द्रोदय

राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान
प्राप्ति क्रं. 182
दिनांक 22/1/1
मानित विश्वविद्यालय, जयपुर परिसर, जयपुर

डा० सिप्रा बैनर्जी
रीडर एवं अध्यक्ष संस्कृत विभाग
मुन्ना लाल जयनारायण खेमका गर्ल्स पोस्ट ग्रेजुएट कालेज
सहारनपुर

Forwarded Free of Cost
With The Compliments of
Rashtriya Sanskrit Sansthan
NEW DELHI

आई० बी० ए० पब्लिकेशन्स
अम्बाला छावनी– 133 001

SV-2024

JACL-KRC
020972

प्रकाशक : आई॰ बी॰ ए॰ पब्लिकेशन्स
6269-P, निकलसन रोड,
अम्बाला छावनी - 133 001
© : डॉ॰ सिप्रा बैनर्जी
संस्करण : प्रथम, जुलाई 2000
लेजर टाईप सैटिंग : एटोज कंप्युटर, सहारनपुर
मुद्रक : कैंब्रिज प्रैस, कश्मीरी गेट, दिल्ली
आवरण : डॉ॰ मधु जैन
मूल्य : Rs. 425.00

GAURIYA VAISHNAVA SAHITYA AUR KAVIKARNAPURA RACHIT CHAINTANYACHANDRODAYA
by Dr. Sipra Banerjee.

Published by: IBA Publications, 6269-P, Nicholson Road, Ambala Cantt. 133 001

Price Rs. 425.00 ISBN 81-87883-00-6

SV-2024

समर्पण

मेरी इस कृति की प्राणप्रतिष्ठा में जिनका मार्गदर्शन,
प्रेरणा, प्रोत्साहन और शुभाशीष रहा
उन गोलोकवासी
पूज्य पितृदेव मनमोहन बैनर्जी
और
कीर्तिशेष गुरुवर प्रो० गोपिकामोहन भट्टाचार्य
को सादर सश्रद्ध समर्पित।

सिप्रा बैनर्जी

अपनी बात

शाक्त परिवार की माता और वैष्णव परिवार के पिता की सन्तान मैंने बचपन में ही अपने अनजाने में श्रीकृष्ण की उपासिका पितामही के संस्कारों को ग्रहण कर लिया था। स्कूल की शिक्षा प्रारम्भ हुई अम्बाला के सनातन धर्म पाठशाला में जहाँ संन्यासिनीप्राय: प्रधानाचार्या नामशेष नन्दिनी सदाशिव उषा भटनागर, यश:काय विमला नरुला बहन जी, धर्म बहन जी, शीला बहन जी, पुष्पा बहन जी जितना पाठ्यपुस्तक पढ़ातीं उससे अधिक धर्मकथा करतीं। भागवत की कथा उस बचपन में कहीं भीतर तक हृदय में धंसती चली गई थी। श्री कृष्ण का सङ्कीर्तन हम लोगों के लिए नित्य कर्म था, नाम–जप अनिवार्य था और परिवार के साथ कुरुक्षेत्र के गौड़ीय मठ में जाना नैमित्तिक कार्य था। इस परिवेश की पृष्ठभूमि के साथ जब मैंने अपने गुरु कीर्तिशेष प्रो० डा० गोपिकामोहन भट्टाचार्य, अध्यक्ष संस्कृत, पाली एवं प्राकृत विभाग, निदेशक प्राच्य विद्या संस्थान, कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र, से शोध के सन्दर्भ में सम्पर्क किया और उन्होंने गौड़ीय वैष्णव साहित्य में समादृत कविकर्णपूर के नाटक चैतन्यचन्द्रोदय पर शोध करने का सुझाव दिया तथा अपने निर्देशन में कार्य करने की अनुमति प्रदान की तब मुझे यह अपना सौभाग्य ही प्रतीत हुआ। मातृभाषा बंगला होने के कारण बङ्गलिपि तथा बङ्गभाषा की पुस्तकों का अध्ययन करना भी मेरे लिये कोई समस्या नहीं थी और इस प्रकार आज से लगभग पचीस वर्ष पूर्व 'कविकर्णपूर रचित चैतन्यचन्द्रोदय का समीक्षात्मक अध्ययन' विषयक शोध प्रबन्ध वी०एन०सी० विश्वविद्यालय (कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय) में प्रस्तुत किया तथा मार्च 1977 में पी- एच०डी० की उपाधि प्राप्त की।

उस समय गौड़ीय वैष्णव साहित्य की अधिकतर पुस्तकें देवनागरी लिपि में अनुपलब्ध थी। यह शोध प्रबन्ध उस दृष्टि से हिन्दी माध्यम में प्राय: प्रारम्भिक कार्य था। इसका तत्काल प्रकाशन करवाने का गुरुजनों का आदेश तथा स्नेहीजनों का सत्परामर्श मिलने पर भी यह कार्य अब तक टलता ही रहा। अब उस

शोधप्रबन्ध को संक्षिप्त तथा कुछ परिवर्तित कर 'गौड़ीय वैष्णवसाहित्य और कर्णपूररचित चैतन्यचन्द्रोदय' नाम से प्रकाशित किया जा रहा है।

नाटक विधा के अन्तर्गत होने पर भी चैतन्यचन्द्रोदय सामान्य नाटकों की कोटि से विलक्षण है। लेखक के समसामायिक इतिहास–पुरुष चैतन्य इसके नायक हैं। सामान्य नाटकों से विलक्षण भक्ति इसका अङ्गी रस है। इस भाँति वस्तु, नेता और रस की विलक्षणता के साथ 'चैतन्यचन्द्रोदय' में दार्शनिकता का प्रचुर मात्रा में समावेश हुआ है। कर्णपूर ने गौड़ीय वैष्णव दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन नाटक के स्थल विशेषों पर किया है। इस प्रकार चैतन्यचन्द्रोदय में ऐतिहासिक कथानक के निर्वाह के साथ गौड़ीय वैष्णव धर्म एवं दर्शन के सिद्धान्तों का भी प्रतिपादन हुआ है।

चैतन्य के समसामयिक तथा परवर्ती गौड़ीय वैष्णव साहित्य का अनुशीलन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो चैतन्य रूपी पारसमणि के सम्पर्क में आने वाले उनके अधिकतर भक्त कवि बन गए और तभी व्यापक और विविध साहित्य की रचना उनके द्वारा सम्पन्न हुई। वह साहित्य संस्कृत में रचित हुआ, वहीं बंगला में भी लिखा गया। चैतन्य के निकटस्थ पार्षद तथा स्वयं पदकर्ता शिवानन्द सेन के आत्मज कर्णपूर ऐसे ही एक कवि थे जिनकी काव्य–प्रतिभा का स्फुरण चैतन्य कृपा से हुआ था। ऐसे कवि कर्णपूर की रचना का अध्ययन गौड़ीय वैष्णव साहित्य के, चाहे वह साहित्यिक हो अथवा सैद्धान्तिक, परिप्रेक्ष्य में ही करना उचित लगा।

प्रस्तुत अध्ययन से पूर्व तक गौड़ीय वैष्णव साहित्य की आलोचना के अन्तर्गत ही चैतन्यचन्द्रोदय नाटक पर भी प्रकाश डाला गया था। उसका सर्वाङ्गीण अध्ययन कुत्रापि नहीं हुआ था। प्रस्तुत अध्ययन में लेखिका ने श्री चैतन्य के जीवन पर आधारित गौड़ीय वैष्णव साहित्य के परिप्रेक्ष्य में चैतन्यचन्द्रोदय; वैष्णव सिद्धान्त तथा दर्शन की दृष्टि से चैतन्यचन्द्रोदय – इन तीनों दृष्टिकोणों से अध्ययन करने का प्रयास किया है। अध्ययन की सुविधा के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ को नौ परिच्छेदों में विभाजित किया गया है।

गौड़ीय वैष्णव साहित्य तथा दर्शन से अपरिचित मुझे वाङ्मय की इस अपूर्व सम्पदा से परिचित करवाने का श्रेय श्रद्धेय गुरुवर डा० भट्टाचार्य को ही है।

उनके पाण्डित्यपूर्ण निर्देशन के साथ नामशेष आदरणीय डा० श्रीनिवास शास्त्री, दयानन्द प्रोफेसर तथा मेरे अध्ययनपथ के प्रेरणा स्वरूप प्रो० डा० देवव्रत सेन शर्मा का मार्गदर्शन मुझे सदा सुलभ रहा। उन सभी के प्रति मैं श्रद्धावनत हूँ। साहित्य की दुर्लभ पुस्तकों को सुलभ बनाने में अनेक व्यक्तियों तथा संस्थाओं का योगदान रहा। मेरे पितृव्य स्वर्गीय सरोजमोहन बैनर्जी ने जहाँ कलकत्ता से अनेकों पुस्तकें उपलब्ध करवाईं वहीं वृदानन्द के गोविन्द मन्दिर के सर्वेसर्वा स्व० पञ्चानन गोस्वामी मेरे वृन्दावन प्रवास में संरक्षक ही नहीं रहे वरन् उन्होंने वहां के पण्डित-वर्ग तथा पुस्तकालयों से भी मुझे परिचित करवाया। वृन्दावन के चैतन्य प्रेमसंस्थान के श्री वत्स गोस्वामी ने कर्णपूर रचित एवं हरिदास शर्मा द्वारा प्रकाशित दुर्लभ पुस्तकों को निःशुल्क देकर मुझे चिरऋणी बना लिया। यशःकाय परमपूज्य वनमहाराज जी का आशीर्वाद, प्रोत्साहन तथा उनकी संस्था ओरिएन्टल फिलोसोफिकल इन्स्टीटयूट, वृन्दावन के पुस्तकालय के उपयोग की अनुमति से मैं धन्य हुई थी। वृन्दावन शोधसंस्थान के अधिकारियों को आन्तरिक कृतज्ञता ज्ञापन करना मेरा कर्तव्य है जिन्होंने अपनी संस्था के माध्यम से मेरे अध्ययन में पूर्ण सहयोग प्रदान किया। वृन्दावन में मेरे साथ पुस्तकों की खोज में भटकने में मेरे अनुज सत्यव्रत बैनर्जी तथा स्व० पञ्चानन गोस्वामी जी की उस समय मात्र किशोरी पुत्री लाली ने सदा साथ दिया। उनको मेरा आशीर्वाद। बारम्बार वृन्दावन-यात्रा में मुझे अपने स्नेहाञ्चल के साथ संरक्षण में समेटने वाली माता श्रीमती पारुल बैनर्जी को नमन! महाविद्यालय में कार्यरत मुझे शोध के लिए प्रेरित करने वाली मेरे महाविद्यालय की तत्कालीन प्राचार्या, मेरी स्नेहमयी दीदी स्वर्गीया अ०कमलाजी को आज कैसे विस्मृत कर सकती हूँ? उनकी स्मृति को मेरी श्रद्धाञलि।

अन्त में, इस कार्य को सम्पन्न करने में प्रत्यक्ष तथा परोक्ष रूप से जिनका भी सहयोग प्राप्त हुआ उन सभी के प्रति मेरा कृतज्ञचित्त का आभार। आभार उन अपनों का भी जिनकी पच्चीस वर्ष की निष्क्रियता ने मुझे आज सक्रिय बना दिया।

सिप्रा बैनर्जी

रथयात्रा, जुलाई, 2000

सङ्केत सूची

अभि० भारती	अभिनव भारती
आ०वृ०च०	आनन्दवृन्दावनचम्पू
कड़चा	मुरारिगुप्त रचित श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृत
गौ०ग०दी०	गौरगणोद्देशदीपिका
गौ०प०त०	गौरपदतरङ्गिणी
चै०च०	कृष्णदास कविराज रचित चैतन्यचरितामृत
चै०च०उ०	चैतन्यचरितेर उपादान
चै०च० (काव्य)	कविकर्णपूर रचित श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृत महाकाव्य
चै०भा०	वृन्दावनदास ठकुररचित चैतन्यभागवत
नाटक	कविकर्णपूर रचित चैतन्यचन्द्रोदय नाटक, काव्यमाला 87, निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई
भ०र०सि०	श्रीरूप गोस्वामी रचित भक्तिरसामृतसिन्धु
भ०र०सि० बिन्दु	विश्वनाथ चक्रवर्ती रचित भक्ति रसामृत सिन्धु बिन्दु
भा०पु०	श्रीमद्भागवतपुराण
ABORI	Annals of Bhandarkar Oriental Reseach Institute
C C	Caitanya Candrodaya
HCSL	History of Classical Sanskrit Literature
HSL	A History of Sanskrita Literature
JASB	Journal of the Asiatic Society of Bangal
VFM	Early History of the Vaisnava Faith and Movement in Bengal
VLMB	Vaishnava Literature of Medieval Bengal

अनुक्रमणिका

अपनी बात

सङ्केत सूची

प्रथम परिच्छेद 3–20

श्री चैतन्य के जीवन पर आधारित गौड़ीय संस्कृत काव्य– एक विहङ्गम परिचय

द्वितीय परिच्छेद 23–79

कविकर्णपूर– व्यक्तित्व एवं कृतित्व

तृतीय परिच्छेद 83–163

चैतन्यचन्द्रोदय– कथावस्तु

चतुर्थ परिच्छेद 167–199

चैतन्यचन्द्रोदय– चरित्र चित्रण

पञ्चम परिच्छेद 203–232

चैतन्यचन्द्रोदय– रस विवेचन

षष्ठ परिच्छेद 235–262

चैतन्यचन्द्रोदय– गौड़ीय वैष्णव दर्शन

सप्तम परिच्छेद 265–286

चैतन्यचन्द्रोदय– काव्यात्मकता

अष्टम परिच्छेद 289–299

चैतन्यचन्द्रोदय– सामाजिक चित्रण

नवम परिच्छेद 303–307

गौड़ीय वैष्णव साहित्य में चैतन्यचन्द्रोदय का स्थान

परिशिष्ट (क) सूक्ति – समावेश 311–312

(ख) चैतन्यचन्द्रोदय– विविध संस्करण 313

पुस्तक में प्रयुक्त ग्रन्थ–सूची 314–322

प्रथम परिच्छेद

श्री चैतन्य के जीवन पर आधारित गौड़ीय संस्कृत काव्य – एक विहङ्गम परिचय

मुरारिगुप्त	–	श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृत (कड़चा)
स्वरूप दामोदर	–	कड़चा
सार्वभौम भट्टाचार्य	–	स्तोत्रकाव्य
रघुनाथदास	–	चैतन्यस्तव
रूपगोस्वामी	–	चैतन्याष्टक
प्रबोधानन्द सरस्वती	–	चैतन्यचन्द्रामृतम्
गोविन्ददेवकवि	–	गौरकृष्णोदय
रघुनन्ददास गोस्वामी	–	गौराङ्गविरुदावली

श्री चैतन्य के जीवन पर आधारित गौड़ीय संस्कृत काव्य-एक विहङ्गम परिचय

प्रेमतत्त्व के प्रचारक, भक्ति आन्दोलन के प्रवर्तक श्रीचैतन्य ने धार्मिक क्षेत्र में आडम्बर तथा पाखण्ड से जर्जरित समाज को भक्ति रस से सिञ्चित कर पुनः पल्लवित किया। श्रीकृष्णचैतन्य ने अपने आगमन एवं कृत्यों से धर्म, दर्शन तथा समाज के साथ साहित्य को भी आलोड़ित किया, उसमे एक नई परम्परा का प्रवर्तन कर दिया। साहित्य में जो स्थान पौराणिक पात्रों तथा देवी-देवताओं के लिये आरक्षित था, चैतन्यदेव के आगमन से वह एकाधिकार की भावना समाप्त हो गई तथा उस स्थान पर चैतन्य देव को अभिषिक्त किया गया। चैतन्य के भक्तों ने उनके जीवन-काल में ही उनको नायक के पद पर प्रतिष्ठित कर साहित्य-रचना प्रारम्भ कर दी थी। यह परम्परा चैतन्यदेव के तिरोधान के अनन्तर भी गतिशील रही। उनको आश्रय बनाकर बङ्गदेश का साहित्यिक पुनरुत्थान भी हुआ। उनके अनुयायी-वर्ग द्वारा रचित साहित्य पर दृष्टिपात करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि मानो चैतन्यदेव वह पारस-मणि थे जिनके संस्पर्श में आने वाला प्रायः प्रत्येक व्यक्ति ही काव्य-प्रतिभा सम्पन्न हो गया। चैतन्यदेव से अनुप्राणित व्यक्तियों की संख्या पर्याप्त थी जिन्होंने कविरूप के अतिरिक्त सैद्धान्तिक आचार्य के रूप में भी प्रसिद्धि प्राप्त की थी।

श्री चैतन्य से सम्बन्धित काव्यों में अधिकांश काव्य बंगला भाषा में निबद्ध हुए तथापि संस्कृत भाषा में रचित चैतन्य-साहित्य भी उल्लेखनीय है। इस चैतन्य-साहित्य के रचयिताओं में कविकर्णपूर गरिमा की दृष्टि से अतुलनीय हैं परन्तु इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य लेखक भी स्मरणीय हैं जिनके द्वारा रचित चैतन्य चरितकाव्य के साथ चैतन्य के स्तुति-परक स्तोत्र भी महत्त्वपूर्ण हैं क्योंकि उनसे चैतन्य के जीवन-चरित का कोई न कोई अंश अवश्यमेव उद्भासित होता है। चैतन्य-जीवन-चरित पर आधारित काव्यों के रचयिताओं में सर्वप्रथम उल्लेखनीय कवि मुरारिगुप्त हैं।

मुरारिगुप्त तथा उनका श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृत उर्फ कड़चा :

चैतन्य-चरितकारों में काल की दृष्टि से प्रथम कवि मुरारिगुप्त हैं। संस्कृत तथा बंगला दोनों में रचित चरित-ग्रन्थों के रचयिताओं में से मुरारि ही एक मात्र ऐसे व्यक्ति हैं जो श्री चैतन्य से वयोज्येष्ठ थे तथा महाप्रभु की नवद्वीप-लीला के एक प्रधान-परिकर होने

का सौभाग्य प्राप्त कर चुके थे। अतः प्रत्यक्षदर्शी चरितकार होने का गौरव उन्हें प्राप्त है।

मुरारिगुप्त के जीवन का परिचय तथा श्री चैतन्य से उनकी घनिष्ठता का पता उनकी रचना तथा पश्चाद्वर्ती चरितकारों की रचनाओं से होता है। तदनुसार जाति तथा कर्म से वैद्य मुरारिगुप्त श्रीवास, श्रीराम, श्रीचन्द्रशेखर आदि वैष्णवों के साथ श्रीहट्ट में रहते थे।[1] बाद में उन्होंने नवद्वीप में रहना प्रारम्भ किया। मुरारि चैतन्य की बाल्य-काल से प्रारम्भ कर उनके संन्यास ग्रहण करके नवद्वीप परित्याग पर्यन्त सभी लीलाओं के प्रत्यक्षदर्शी थे। सम्भवतः इसी कारण श्रीवास ने उस अनुभव को लिपिबद्ध करने के लिए मुरारि को आज्ञा दी थी।[2] मुरारिगुप्त के साथ प्रभु का अत्यधिक नैकट्य था अतएव प्रभु ने अपने वराह आवेश का प्रदर्शन मुरारि के घर पर ही किया था।[3]

मुरारि प्रारम्भ में अध्यात्मवादी थे। तदनन्तर अद्वैत के आग्रह तथा श्रीचैतन्य के अनुग्रह से उनका मन भक्ति की ओर आकर्षित हुआ।[4] मुरारि राम के अनन्य भक्त थे तथा बहुत प्रयत्न करने पर भी राम के प्रति उनका अनुराग म्लान नहीं हुआ। उनको 'हनुमान्' के अवतार के रूप में भी माना जाता है। रामभक्ति के परिणामस्वरूप उन्होंने अपने आराध्य देव श्रीराम की स्तुति में श्लोकाष्टक की रचना की थी जो उनके कड़चा में सन्निविष्ट है।[5] उनकी रामभक्ति से प्रभावित होकर श्रीचैतन्य ने स्वयं उनके माथे पर 'रामदास' लिखकर उनके हनुमान् होने की घोषणा की थी।[6]

मुरारिगुप्त की चैतन्यदेव के सहचर-रूप में महत्ता के साथ उनकी भक्ति-विह्वलता तथा कृपालुता का अन्य चैतन्यचरित-काव्यों में भी सादर उल्लेख हुआ है।[7]

मुरारिगुप्त की चारित्रिक विशेषता यह थी कि भक्ति-विह्वल होने पर भी वे चिकित्सा-वृत्ति के आधार पर कुटुम्ब का भरण-पोषण करते रहे। वे दान नहीं लेते थे।[8]

---

[1] श्री वासपण्डित आर श्री राम पण्डित। श्री चन्द्रशेखर देव त्रैलोक्यपूजित।
भवरोगनाश वैद्य मुरारि नाम जार। श्री हट्टे ए सब वैष्णवेर अवतार।चै०च०, आदि, 2, पृ०10

[2] भक्त श्रीवासनाम द्विजकुलकमलप्रोल्लासचित्रभानुः।
प्राहेदं श्रीमुरारिं त्वमिह वद हरेः श्रीचरित्रं नवीनम्।। कड़चा, 1/1/8

[3] वही, 2/2/11-17

[4] नाटक, पृ० 20-21

[5] कड़चा, 2/4/10-17

[6] वही, 2/7/18

[7] द्र०चै०भा०, मध्य, 10, पृ० 188

[8] प्रतिग्रह ना कोरेन ना लॅन काहार धन । आत्मवृत्ति करि करे कुटुम्बभरण ।
चै०च०, आदि, 10, पृ० 47

उनकी शरण में आने वाले रोगी का भवरोग भी देहरोग के साथ-साथ नष्ट हो जाता था।[1]

स्पष्ट है कि मुरारिगुप्त ने अपने गुणों के कारण चैतन्य-पार्षदों में तो अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना ही लिया था, पश्चाद्वर्ती भक्तों में भी उनकी अच्छी प्रतिष्ठा थी।

श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृत अथवा कड़चा

मुरारिगुप्त द्वारा रचित ग्रन्थ का नाम 'श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृत' है। संस्कृत भाषा में निवद्ध प्रस्तुत रचना एक विशाल काव्य है परन्तु बंगला भाषा में इसे 'कड़चा' अथवा 'करचा' के नाम से ही पुकारा जाता है। 'कड़चा' अथवा 'करचा' सामान्यतः संक्षिप्त जीवन-चरित का वाचक हुआ करता है। सुकुमार सेन महोदय ने कड़चा को मेमोरेण्डा (Memoranda), जर्नल (Journal) तथा शार्ट डाकुमैण्टरी नोट्स (Short Documentary Notes) का पर्याय माना है। उनके अनुसार कड़चा विस्तृत हो अथवा संक्षिप्त, उसे कदापि साहित्यिक कृति के रूप में स्वीकृति नहीं दी जा सकती है।[2] इसी कारण सेन महोदय की मान्यता है कि मुरारिगुप्त ने चैतन्य के जीवन पर प्रारम्भिक नोट्स की भांति कुछ कड़चा श्लोकों की रचना की होगी। इनकी रचना श्रीचैतन्य के नवद्वीप-वास के समय अथवा उनके संन्यास ग्रहण के तुरन्त बाद की गई होगी। बाद में इन्हीं कड़चा श्लोकों के साथ अन्य नूतन रचित श्लोकों का योग करके उसे प्रस्तुत बृहत् काव्य का आकार दे दिया होगा। मुरारि के इन कड़चा श्लोकों के साथ नवीन श्लोकों का योग करने वाले कौन हैं, वे इस विषय में कुछ निश्चित नहीं कहते हैं।[3]

इस 'कड़चा' की प्रामाणिकता के विषय में विद्वानों को ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक ने सन्दिग्ध बनाया है। इस श्लोक में मुरारि ने ग्रन्थ की समाप्ति की घोषणा करते हुए कहा है-

चतुर्दशशताब्दान्ते पञ्चत्रिंशतिवत्सरे।
आषाढसितसप्तम्यां ग्रन्थोऽयं पूर्णतां गतः।।[4]

इस श्लोक के अनुसार ग्रन्थ की समाप्ति 1435 शक (1513 ई०) में हुई थी स्वभावतः ग्रन्थ में केवल इस काल से पूर्व तक की घटनाओं का ही समावेश होना चाहिए था। ऐतिहासिक नायक चैतन्य देव का आविर्भाव 1407 शकाब्द (1485 ई०) तथा उनका तिरोभाव 1455 शकाब्द (1533 ई०) निश्चित है।[5] ग्रन्थ में मुरारिगुप्त ने न

---

[1] चिकित्सा करेन जारे होइया सदय। देहरोग भवरोग दुइ तार क्षय । वही, आदि, 10, पृ० 47

[2] वही, भूमिका, पृ० 8, पादटीका

[3] वही, भूमिका, पृ० 8

[4] कड़चा, 4/26/32

[5] विमान विहारी मजुमदार, चै०च०उ०, पृ० 4-6

केवल चैतन्य देव के संन्यास (अर्थात् 1431 शकाब्द 1509 ई०) वरन् उसके बाद के बारह वर्ष की गम्भीरा लीला तथा अन्ततः श्रीचैतन्य के लीलावसान का भी वर्णन किया है। इससे दो बातें सामने आती हैं, प्रथमतः इस अन्तिम श्लोक को या तो प्रक्षिप्त मान लिया जाये अथवा ग्रन्थ के स्थल विशेष को ही अप्रामाणिक स्वीकार कर लें। 'कड़चा' को अप्रामाणिक स्वीकार करने के पक्ष में कतिपय अन्य युक्तियां भी प्रस्तुत की गई हैं। विमान विहारी मजुमदार ने इन युक्तियों का खण्डन करके 'कड़चा' को इस प्रकार प्रामाणिक सिद्ध किया है-

परवर्ती नरहरि चक्रवर्ती रचित 'भक्तिरत्नाकर' में 'कड़चा' के केवल चौथे प्रक्रम के पहले सर्ग तक के श्लोक उद्धृत होने के कारण 'कड़चा' के अन्तिम भाग को प्रक्षिप्त मानना उचित नहीं है क्योंकि 'भक्तिरत्नाकर' से पूर्ववर्ती लोचनदास रचित 'लोचनमङ्गल' काव्य में 'कड़चा' के अन्तिम भाग का प्रभाव स्पष्ट होता है। लोचनदास ने स्पष्ट शब्दों में मुरारि का ऋण भी स्वीकार किया है।

कृष्णदास कविराज के अनुसार दामोदर पण्डित चैतन्य के नीलाचलवास के सहचर थे। मुरारि ने उन्हीं दामोदर पण्डित से चैतन्य की लीला के सम्बन्ध में जिज्ञासा व्यक्त करवाई है। प्रत्यक्षदर्शी द्वारा ऐसी जिज्ञासा उचित न होने पर भी इसे केवल लेखक मुरारि की शैली-विशेष मानना उचित होगा। मुरारि ने चैतन्यदेव को युगावतार माना था अतः 'शुक-परीक्षित-संवाद', 'शिव-पार्वती-संवाद' आदि के समान पौराणिक रीति से 'मुरारि-दामोदर-संवाद' के रूप में चैतन्य-लीला का वर्णन किया गया है।

अन्ततः कविकर्णपूर द्वारा अपने महाकाव्य 'चैतन्यचरितामृत' के केवल ग्यारह सर्ग पर्यन्त मुरारि के 'कड़चा' का अनुसरण करना कोई अस्वाभाविक अथवा 'कड़चा' के अन्तिम भाग को अप्रामाणिक सिद्ध करने का विषय नहीं है। मुरारि चैतन्य की नवद्वीप-लीला के निकटतम सहचर थे अतः उस भाग तक की रचना कर्णपूर ने मुरारि के अनुसार की है। कर्णपूर के पिता शिवानन्द सेन तथा अन्य अनेक व्यक्ति नीलाचल-लीला के प्रत्यक्षदर्शी थे जिनकी सहायता से कर्णपूर ने काव्य के अन्तिम भाग की रचना की होगी।

मजुमदार महोदय इन युक्तियों के आधार पर 'कड़चा' के अन्तिम भाग को न तो प्रक्षिप्त मानते हैं और न ही 'कड़चा' के प्रकाशित संस्करण में अनेक अशुद्धियों के होने पर ग्रन्थ की प्रामाणिकता को सन्देहास्पद मानते हैं। ऊपर उद्धृत 'कड़चा' के अन्तिम श्लोक के अनुसार 'कड़चा' का रचना-काल 1435 शकाब्द न मानकर वे इसे कर्णपूर रचित 'चैतन्यचरितामृत' काव्य के रचनाकाल अर्थात् 1464 शकाब्द से पूर्ववर्ती स्वीकार करते हैं।[1]

---

[1] वही, पृ० 74-82

एस०के० दे० महोदय का इस विषय में भिन्न विचार है। 'कड़चा' के अन्तिम श्लोक के आधार पर वे इसके रचना-काल को तो सन्देहास्पद मानते ही हैं, साथ ही ग्रन्थ के अन्तिम भाग को भी प्रामाणिक स्वीकार नहीं करते हैं। कर्णपूर द्वारा 'चैतन्यचरितामृत'[1] तथा 'गौरगणोद्देशदीपिका'[2] में मुरारि और 'कड़चा' के नामोल्लेख तथा कृष्णदास कविराज आदि के उल्लेखों से वे 'कड़चा' की स्थिति को तो स्वीकार करते हैं परन्तु उनकी मान्यता यही है कि यह 'कड़चा' मूलतः चैतन्य के जीवन के प्रारम्भिक वर्षों से ही सम्बद्ध था।[3]

मृणालकान्ति घोष महाशय मुरारि के 'कड़चा' को पूर्णतः प्रारम्भिक एवं प्रामाणिक रचना स्वीकार करते हैं क्योंकि पश्चाद्वर्ती चैतन्य-चरित-कारों ने इसी 'कड़चा' को अपना आधार बनाया है।[4] इसकी रचना-तिथि के विषय में घोष महाशय की मान्यता यह है कि 'कड़चा' के अन्तिम श्लोक के अनुसार इसकी रचना वस्तुतः 1435 शकाब्द में न होकर उसके पर्याप्त पश्चात् हुई होगी क्योंकि श्रीचैतन्य ने 1431 शकाब्द में संन्यास ग्रहण किया तथा चार वर्ष पश्चात् नवद्वीप गये। अतः 1435 शकाब्द की रचना होने से इसमें केवल इस काल तक का वर्णन होना चाहिए था जबकि उसमें गम्भीरा लीला के अन्तिम भाग तक का भी वर्णन हुआ है।[5]

मुरारिगुप्त के 'कड़चा' के सम्बन्ध में विद्वानों में मत-वैविध्य होने पर भी इतना तो स्पष्ट है कि मुरारि को चैतन्य के आदि चरितकार के रूप में सर्वत्र स्वीकार किया गया है। उनके प्रस्तुत 'कड़चा' को अप्रामाणिक मानना सम्भवतः युक्तियुक्त न हो क्योंकि उनके प्रायः समसामयिक तथा चैतन्य-लीला के निकट सहचर शिवानन्द सेन के पुत्र कर्णपूर ने मुरारि के 'कड़चा' को न केवल समादृत किया वरन् बहुत अंशों में अपने काव्य 'चैतन्यचरितामृत' तथा नाटक 'चैतन्यचन्द्रोदय' की सामग्री भी 'कड़चा' से ही संग्रहीत की है। 'कड़चा' की रचना के केवल कुछ वर्षों के अन्तराल में रचित 'चैतन्यचरितामृत' में कर्णपूर की मुरारि की ऋण-स्वीकृति की घोषणा ही 'कड़चा' की प्रामाणिकता को सिद्ध करने में अलम् है।

कड़चा-मूल्याङ्कन :

मुरारिगुप्त श्रीचैतन्य के निकटतम सहचर तथा प्रधान अनुयायी थे। उन्होंने निकट से

---

[1] चै०च० (काव्य), 20/42

[2] मुरारिगुप्तश्चरणैश्चैतन्यचरितामृते, गौ०ग०दी०, 94

[3] VFM, P. 36

[4] कड़चा, परिचय भाग, पृ० 7

[5] वही, पृ० 36

जिस व्यक्ति को देखा तथा उससे अनुप्राणित हुए, उसी के जीवनचरित को उन्होंने श्लोकों में निबद्ध किया। उनकी काव्य-सृष्टि 'यशसे' अथवा 'अर्थकृते' नहीं थी वरन् कलि के कालुष्य का हरण करना ही उसका प्रधान उद्देश्य था।[1] इस प्रकार के उद्देश्य-विशेष को स्वीकार करके रचित काव्य में कला-पक्ष की अपेक्षा भाव-पक्ष पर अधिक ध्यान दिया जाता है अर्थात् काव्य में वर्ण्यशैली की अपेक्षा वर्ण्य-विषय की प्रधानता होती है। छन्द, अलङ्कारादि के द्वारा भाषा के प्रसाधन पर कवि का ध्यान नहीं होता है और न ही वह शब्द-चमत्कार पर बल देता है। प्रस्तुत विशाल महाकाव्य इसका कोई अपवाद नहीं है। मुरारिगुप्त ने चैतन्यदेव के समस्त जीवन चरित को अपने ग्रन्थ में चार प्रक्रमों में विभक्त किया है। ये प्रक्रम आगे सर्गों में विभाजित हैं। प्रथम प्रक्रम में सोलह, द्वितीय में अट्ठारह, तृतीय में अट्ठारह तथा चतुर्थ में छब्बीस सर्ग हैं। इस प्रकार पूरा काव्य अठहत्तर सर्गो में फैला है। यद्यपि प्रस्तुत रचना काव्य-कोटि के अन्तर्गत आती है तथापि इसका उपस्थापन पुराणों के अनुसार किया गया है। पुराणों की परम्परा में इसमें वक्ता मुरारि तथा श्रोता दामोदर हैं।

इस विशाल काव्य में कृत्रिमता का अभाव सर्वत्र परिलक्षित होता है। गौड़ीय कवि मुरारिगुप्त ने अक्षराडम्बर और दीर्घ तथा क्लिष्ट समास-बहुल भाषा का प्रयोग न करके अपने भावों की अभिव्यक्ति सीधे सादे सरल शब्दों में की है। भाव कैसा भी क्यों न हो, मुरारिगुप्त उसे अपनी सरल शैली में अभिव्यक्त करने में निष्णात हैं। प्रेम-विह्वल पुत्र से भक्ति की याचना माता शची जिस सरलता से करती हैं, वह दर्शनीय है -

यत्र तत्र धनं प्राप मह्यं तद्दत्तवान् भवान्।
प्रेमाख्यं किं धनं लब्धं गयायां देवदुर्लभम्।।
त्वन्मां प्रयच्छ तताद्य यद्यस्ति करुणा मयि।
यथा कृष्णरसाम्बोधौ विहरामि निरन्तरम्।।[2]

अध्यात्म-तत्त्व के समान दार्शनिक तथा दुरूह विषय भी मुरारि की लेखनी से स्पृष्ट होकर सरल तथा बोधगम्य हो जाता है-

ततः सोऽध्यात्मतत्त्वार्थं वक्तुमारभे ईश्वरः।
एक एव हरिः स्वामी व्यष्टिरूपतया स्थितः।।
संहृष्टः स्वयमेवैकस्तिष्ठत्यात्मा स्वयं प्रभुः।
सर्वस्यान्तर्बहिः साक्षी कारणानाञ्च कारण[3]।।[4]

---

[1] श्रीमच्चैतन्यमूर्ते कलिकलुषहरां कीर्तिमाह स्वयं सः । कड़चा. 1/1/9

[2] वही 2/1/12-13

[3] व्याकरण की दृष्टि से कारणम् शुद्ध होने पर भी ग्रन्थ का पाठ उद्धृत किया गया है।

[4] वही, 2/5/20-21

कष्टसाध्य अलङ्कार कृत्रिमता की योजना करके काव्य की स्वाभाविकता को नष्ट कर देते हैं परन्तु मुरारि के अलङ्कार भाषा पर ऊपर से थोपे हुए प्रतीत नहीं होते हैं। भावों के समान ही उनके अलङ्कार भी सहज स्फुटित हैं। उनके कतिपय सरल तथा हृदयग्राही अलङ्कारों का उद्धरण प्रस्तुत करना अनुचित न होगा।

तप्तकाञ्चनगौराङ्गो लसत्पद्मायतेक्षणः।
प्रभञ्जनमाम्बरो मालालको हरिः।।[1]

प्रस्तुत पद्य में श्रीगौराङ्ग के शारीरिक सौन्दर्य की अभिव्यक्ति के लिये मुरारिगुप्त ने अत्यन्त साधारण तथापि भावाभिव्यञ्जन में समर्थ उपमानों का चयन किया है। इनसे काव्य में क्लिष्टता तो आई ही नहीं साथ ही अलङ्कार से काव्यात्मकता का समावेश हो गया है। इसी प्रकार निम्न श्लोक में-

पार्श्वद्वये श्यामलगौरसुन्दरौ पश्यन्ति भक्ताः सुखसिन्धुमग्नाः।
न तृप्तिमापुः कृपणाः धनं यथा सम्प्राप्य कुत्रापि न वक्तुमीशिरे।। [2]

कृपण व्यक्ति द्वारा प्राप्त धन को उपमान बनाकर मुरारि ने चैतन्य के भक्तों की मानसिक स्थिति की सुन्दर अभिव्यञ्जना की है। जगन्नाथ देव के दर्शन करते हुये चैतन्य भक्तों के मन में दर्शनाकांक्षा को ही जागृत करते हैं। ऐसे सरल तथा भावाभिव्यञ्जक अलङ्कार 'कड़चा' के वैशिष्ट्य हैं।

वास्तव में मुरारि के काव्य का प्रधान आकर्षण उनकी भाषा की सरलता है जो असंस्कृतज्ञों के लिये भी बोधगम्य है, साथ ही छोटे सरल छन्दों का प्रयोग भी सुन्दर है। सर्वाधिक सर्गों की रचना 'श्लोकछन्द' में हुई है। सुन्दरी, वियोगिनी, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति आदि उनके अन्य उल्लेखनीय छन्द हैं।

प्राचीन संस्कृत आचार्यों द्वारा स्थापित महाकाव्य के माप-दण्ड के आधार पर मुरारि का उक्त काव्य सम्भवतः पूरा सफल न उतरे। रस परिपाक, प्रकृति चित्रण आदि का अभाव होने पर भी गौड़ीय वैष्णव साहित्य में कड़चा का विशिष्ट स्थान है। चैतन्य-लीला-प्रसार में प्रस्तुत काव्य कितना सफल हुआ है यह तो उसके पश्चाद्वर्ती चरितकारों द्वारा की गई उसकी उन्मुक्त प्रशस्ति से ही स्पष्ट हो जाता है। संस्कृत भाषा में चैतन्यचरित रचयिता कविकर्णपूर ने अपनी प्रथम रचना 'चैतन्यचरितामृत' में मुरारि का ऋण स्वीकार किया है[3] तथा पर्याप्त अंशों में उसी के काव्य को अपना आधार बनाया है। बंगला

---

[1] वही, 1/6/4

[2] वही, 3/16/15

[3] चै०च० (काव्य), 20/42

चरितकारों ने भी अनेक स्थलों पर मुरारि का ऋण स्वीकार करते हुए उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त की है। नरहरि रचित 'भक्तिरत्नाकर' में तो अनेक स्थल मुरारि से ही उद्धृत हैं। न केवल चैतन्य-जीवन सम्बन्धी घटनाओं को ही पश्चाद्वर्ती चरितकारों ने कड़चा से लिया है वरन् अनेक स्थलों पर तो उन्होंने मुरारि का अक्षरशः अनुवाद ही कर दिया है। अनेकधा घटनाओं की वर्णन-शैली भी मुरारि से ही ली गई है।[1]

अन्ततोगत्वा यह मानना पड़ता है कि संस्कृत महाकाव्य की शृङ्खला में मुरारिगुप्त के प्रस्तुत महाकाव्य की गणना न होने पर भी तथा काव्य प्रतिभा का उत्तम निदर्शन न होने पर भी चैतन्य-साहित्य में उसका महत्त्व अनुपेक्षणीय है। चैतन्यचरितकारों में चैतन्य लीला के एकमात्र प्रत्यक्षद्रष्टा मुरारि की 'कड़चा' श्रीचैतन्य के जीवन-चरित के मूल स्रोत के रूप में अतुलनीय है। यही कारण है कि पश्चाद्वर्ती चरितकारों ने उनको अपना आधार बनाया है।

स्वरूप दामोदर-कड़चा

स्वरूप दामोदर की रचना के अनुपलब्ध होने पर भी चैतन्य चरितकारों में मुरारि गुप्त के पश्चात् उन का नाम लिया जा सकता है। स्वरूप दामोदर को जगन्नाथपुरी में चैतन्य के सहचर के रूप में चरितकारों ने चित्रित किया है।[2] वे चैतन्य के प्रिय पार्षद तथा चैतन्यानन्द के शिष्य थे।[3] वे वेदान्त के प्रकाण्ड पण्डित तथा विरक्त थे। अतएव शिक्षा समापन के पश्चात् गुरुद्वारा वेदान्त-अध्यापन का आदेश मिलने पर भी उन्होंने उस कार्य को स्वीकार नहीं किया और सर्वस्व त्यागकर संन्यासी बन गये ।[4]

कृष्णदास कविराज ने स्वरूप दामोदर को चैतन्यदेव की मध्य तथा अन्त्यलीला का रचयिता स्वीकार किया है। उनकी दृष्टि में मुरारि के समान ही स्वरूप दामोदर भी लीला-रचयिता के रूप में उल्लेखनीय हैं।[5] कर्णपूर ने मुरारि की कड़चा को स्पष्ट स्वीकृति दी है परन्तु स्वरूप दामोदर की 'कड़चा' का कोई उल्लेख नहीं किया है। इस आधार पर स्वरूप की 'कड़चा' को सन्देहास्पद नहीं माना जा सकता है क्योंकि रघुनाथ दास के निकट के व्यक्ति कृष्णदास कविराज स्वरूप दामोदर के विषय में कोई अवास्तविक सूचना नहीं दे सकते हैं।

आज स्वरूप दामोदर की कोई रचना उपलब्ध न होने पर भी 'गौरगणोद्देशदीपिका' में

---

1 द्र०वि०वि० मजुमदार, चै०च० उ०, पृ० 77-81

2 कड़चा, 4/17/19-23

3 नाटक, पृ० 149

4 वही, पृ० 141

5 प्रभुर मध्य शेष लीला स्वरूप दामोदर । सूत्रकरि गांथिलेन ग्रन्थेर भीतर। चै०च०, आदि, 13, पृ० 65

कतिपय सिद्धान्त उनके नाम से मिलते हैं।[1] वटतला से प्रकाशित किसी व्यर्थ की रचना को स्वरूप दामोदर की रचना के रूप में प्रचारित किया गया था परन्तु वह कृष्णदास द्वारा प्रशंसित स्वरूप दामोदर की 'कड़चा' कथमपि नहीं हो सकती है।[2] अस्तु, यही कहा जा सकता है कि स्वरूप दामोदर ने चैतन्य महाप्रभु की लीलाओं को 'कड़चा' के आकार में लिखा होगा, दुर्भाग्य से जो आज अनुपलब्ध है।

सार्वभौम भट्टाचार्य-स्तोत्र काव्य

अपने पूर्ववर्ती जीवन में प्रकाण्ड नैयायिक तथा वेदान्ती सार्वभौम भट्टाचार्य का चैतन्य-लीला-ग्रन्थों में उल्लेखनीय स्थान है। चैतन्य-कृपा कटाक्ष से भक्तिमार्ग में सार्वभौम का पदार्पण चैतन्य-जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना है। 'अद्वैतमकरन्द' के समान अद्वैत-वेदान्त का ग्रन्थ लिखने वाले सार्वभौम को चैतन्य सम्बन्धित ग्रन्थों के रचयिता के रूप में भी स्वीकृति दी जाती है।

चरितकार जयानन्द के अनुसार 'चैतन्य-चरित' नामक संस्कृत पद्य-काव्य का रचयिता तो सार्वभौम को स्वीकार किया ही गया है, उसके साथ ही 'चैतन्याष्टक' तथा 'चैतन्यसहस्रनाम' जैसे स्तोत्र-काव्यों को भी सार्वभौम की रचना माना जाता है।[3] उनके अतिरिक्त 'चैतन्य-द्वादश-नाम-स्तोत्र', तथा 'चैतन्य-अष्टोत्तर शतनाम' भी सार्वभौम रचित माने जाते हैं।[4] 'श्रीगौराङ्गशतक' के रचयिता के रूप में भी सार्वभौम को मान्यता मिली हुई है।[5]

मुरारिगुप्त ने सार्वभौम के द्वारा चैतन्य की स्तुति करवाते हुये सार्वभौम के मुख से दो श्लोकों-

वैराग्यविद्या निजभक्तियोगाद्शिक्षार्थमेकः पुरुषः पुराणः।
श्रीकृष्णचैतन्यशरीरधारी कृपाम्बुधिर्यस्तमहं प्रपद्ये।।

तथा

कालान्नष्टं भक्तियोगं निजं यः प्रादुष्कर्तुं कृष्णचैतन्यनामा।
आविर्भूतस्तस्य पादारविन्दे गाढ़ं गाढं लीयतां चित्तभृङ्गः।। को कहलवाया है।[6]

कर्णपूर ने भी इन्हीं श्लोकों को सार्वभौम के मुख से कहलवाया है।[7] कृष्णदास

---

1 द्र० 9, 13, 148
2 S.K. De, VFM, P. 40, Footnote
3 वही, पृ० 60, पादटीका
4 वही, पृ० 87, पादटीका
5 द्र० गौ०प०त०, पृ० 40
6 कड़चा, 3/12/17-18
7 नाटक, पृ० 123

कविराज ने भी इन दोनों श्लोकों का उल्लेख किया है।[1] परम्परा के अनुसार वस्तुतः सार्वभौम भट्टाचार्य ही इन श्लोकों के रचयिता हैं।[2] यदि यह परम्परा उचित है तो सार्वभौम की रचनाओं में से केवल ये दो श्लोक ही आज उपलब्ध हैं। शेष अनुपलब्ध रचनाओं के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है।

रघुनाथ दास-चैतन्य-स्तव

रघुनाथ दास ही वृन्दावन के छः गोस्वामियों में अन्यतम हैं जिन्हें श्रीचैतन्य के सम्पर्क में रहने का अवसर मिला था। जगन्नाथपुरी में वे चैतन्य के साथ अनेक वर्षों तक रहे। कृष्णदास कविराज, जो रघुनाथ दास के घनिष्ठ मित्र तथा शिष्य भी थे, ने 'चैतन्य-चरितामृत' में रघुनाथदास का विस्तृत-परिचय दिया है। तदनुसार सांसारिक वैभव विलास को छोड़कर वे भक्तिमार्ग के पथिक बन गये थे।[3] रघुनाथ दास के कतिपय चैतन्यस्तव ही उपलब्ध हैं जो 'चैतन्याष्टकम्' तथा 'गौराङ्गस्तवकल्पतरु :' के नाम से 'स्तवावली' में संग्रहीत किये गये हैं।

'चैतन्याष्टकम्' में शिखरिणी छन्द में निबद्ध चैतन्य-स्तुति परक नौ पद्य हैं। संख्या में कम होने पर भी ये पद्य चैतन्य-चरित सम्बन्धी काव्य में महत्त्वपूर्ण हैं। प्रस्तुत श्लोक में शचीपुत्र चैतन्य के कृष्ण से ऐक्य के साथ राधा की रूप माधुरी का भी उल्लेख हुआ है -

हरिर्दृष्ट्वा गोष्ठे मुकुरगतमात्मानमतुलम्, स्वमाधुर्या राधाप्रियतरसखीवाप्तुमभितः।
अहो गौडे जातः प्रभुरपरगौरेकतनुभाक्, शचीसूनुः किं मे नयनशरणीं यास्यति पुनः।[4]

इसी प्रकार संन्यासी चैतन्य के नाम-सङ्कीर्तन का सुन्दर चित्रण इस प्रकार किया गया है-

दधानः कौपीनं तदुपरि बहिर्वस्त्रमरुणम्, प्रकाण्डो हेमाद्रिद्युतिभिरभितः सेविततनुः।
मुदा गायन्नुच्चैर्निजमधुरनामावलिमसौ. शचीसूनुः किं मे नयनशरणीं यास्यति पुनः।।[5]

'गौराङ्गस्तवकल्पतरुः' के प्रस्तुत पद्य में चैतन्य की प्रेमविह्वल अवस्था का स्वाभाविक चित्रण हृदयावर्जक है-

रसोल्लासैस्तिर्यग्गतिभिरभितो वारिभिरलम् दृशोः सिञ्चल्लोकान्नरुणजलयन्त्रत्वमितयोः।
मुदा दन्तैर्दष्ट्वा मधुरमधरं कम्पचलितैर्नटन् श्रीगौराङ्गो हृदये उदयन्मां मदयति।।[6]

रघुनाथदास गोस्वामी के इन चैतन्य-स्तव-परक 'गौराङ्गस्तवकल्पतरुः' के पांच

---

[1] चै०च०, मध्य, 6, पृ० 166

[2] द्र० S.K. VFM. p. 87, footnote

[3] अन्त्य 6, पृ० 484

[4] स्तवावली, 1

[5] वही, 3

[6] 6, वही, 7

श्लोकों को कृष्णदास कविराज द्वारा अपने 'चैतन्यचरितामृत' के चौहदवें से लेकर उन्नीसवें सर्ग तक में क्रमशः ग्रहण किया गया है।

कृष्णदास कविराज के 'चैतन्यचरितामृत' में रघुनाथदास को भी चैतन्य-जीवन से सम्बद्ध-'कड़चा' का रचयिता स्वीकार किया गया है।[1] मजुमदार रघुनाथ को कड़चाकार स्वीकार नहीं करते हैं क्योंकि उनके अनुसार रघुनाथ की 'कड़चा' के अस्तित्व में होने पर कृष्णदास निश्चित रूप से उसमें से उद्धरण देते।[2] दे महोदय का वक्तव्य यह है कि रघुनाथदास की कथित यह 'कड़चा' सम्भवतः कोई स्वतन्त्र कृति नहीं थी। उन्होंने केवल अपने गुरु स्वरूप दामोदर को 'कड़चा' लिखने में सहायता की थी[3]। अस्तु, इस विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है।

रघुनाथदास के चैतन्य-स्तवों में चैतन्य की अन्त्य-लीला का रस-सिक्त वर्णन है यह तो उद्धृत उदाहरणों से स्पष्ट हो गया है परन्तु ये वर्णन चैतन्य के जीवन का क्रमबद्ध चित्रण न होकर इधर-उधर विकीर्ण कुछ दृश्य मात्र हैं। फिर भी इन वर्णनों का वैशिष्ट्य यही है कि सामान्यतः बंगला चरितकारों के प्रिय विषय 'नवद्वीप लीला' को छोड़कर रघुनाथदास नीलाचल की लीला के वर्णन में अधिक आनन्द लेते हैं।

श्री रूपगोस्वामी-चैतन्याष्टक

चैतन्यगोष्ठी में महत्त्वपूर्ण स्थान के अधिकारी तथा सैद्धान्तिक ग्रन्थों के रचयिता के रूप में विख्यात श्रीरूप गोस्वामी ने 'चैतन्याष्टक' लिखकर चैतन्य-जीवन-चरित पर कुछ प्रकाश डाला है। श्रीरूप अपने अग्रज सनातन गोस्वामी तथा भ्रातुष्पुत्र श्रीजीव गोस्वामी के साथ चैतन्य-चरित-काव्यों में सादर उल्लिखित हुये हैं। आरम्भिक जीवन में वे राजा के पदाधिकारी थे परन्तु श्रीचैतन्य से मिलने के पश्चात् सर्वस्व त्यागकर वृन्दावनवासी हो गये थे। श्रीचैतन्य ने उन्हें वृन्दावन की लुप्त केलि-वार्ता का पुनरुद्धार करने का आदेश दिया था।[4] अपने अग्रज सनातन के साथ रूपगोस्वामी अपने पाण्डित्य, कवि-प्रतिभा तथा सर्वोपरि मानवता के कारण सुप्रसिद्ध थे। धर्म के क्षेत्र में उनके क्रिया-कलाप से आकर्षित होकर स्वयं सम्राट् अकबर उनसे मिलने वृन्दावन आये तथा उनके गुण-मुग्ध प्रशंसक बन गये।[5]

श्रीरूप गोस्वामी ने विविध विषयों पर अनेकों ग्रन्थ लिखे हैं। प्रस्तुत विवेचन में केवल चैतन्य-जीवन-चरित सम्बन्धित काव्य पर प्रकाश डालना अपेक्षित है। श्रीरूप ने

[1] अन्त्य, 14, पृ० 570

[2] चै० च० उ०, पृ० 320

[3] VFM, p. 39, footnote

[4] नाटक, पृ० 176

[5] D.C. Sen, VLMB, p. 26

चैतन्यदेव पर किसी स्वतन्त्र काव्य की रचना नहीं की है। उन्होंने चैतन्य के स्तव के रूप में तीन 'चैतन्याष्टकों' की रचना मात्र की है जिनमें कुल मिलाकर सत्ताइस श्लोक हैं। ये श्लोक श्रीजीव गोस्वामी के भाष्य-सहित 'स्तवमाला' में सङ्कलित हैं।

श्रीचैतन्य के जीवन-चरित से ज्ञात होता है कि श्रीरूप उनसे केवल तीन बार, वह भी संन्यास ग्रहण के पश्चात् मिले थे। चैतन्यपार्षदों के प्रिय विषय नवद्वीप-लीला से उनका प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं था। अतः इन अष्टकों में नवद्वीप-लीला वर्ण्य विषय नहीं है। 'चैतन्याष्टकों' की रचना के समय सम्भवतः उनका चैतन्य-जीवनी लिखना ध्येय भी नहीं था। इस कारण से केवल जिन लीलाओं का उन्होंने प्रत्यक्ष दर्शन किया था तथा जिन लीलाओं ने उनका मर्म स्पर्श किया था, श्रीचैतन्य का स्तवन करते हुए उन्हीं लीलाओं की स्मृति उनके मानस पटल पर उभर आई थी। इसी कारण इन तीनों अष्टकों के विषय अलग-अलग हैं। प्रथम अष्टक में श्रीरूप ने नीलाचल में अवस्थित भक्त रूप से अवतरित श्रीचैतन्य की रथ-यात्राकालीन लीलाओं का वर्णन किया है तथा स्वयं कविकर्णपूर ने भी 'चैतन्यचन्द्रोदय' में इस प्रसङ्ग को विशेष स्थान दिया है, तथापि श्रीरूप की इस विषय में की गई अभिव्यक्ति का अपना महत्त्व है। नीलाचलपति के रथारूढ़ होने के समय परिकरों सहित नृत्य करते हुए गौरचन्द्र का वर्णन दर्शनीय है-

रथारूढस्यारादधिपदवि नीलाचलपतेरदभ्रप्रेमोर्मिस्फुरितनटनोल्लासविवशः।
सहर्षं गायद्भिः परिवृततनुर्वैष्णवजनैः स चैतन्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम्।।[1]

इन अष्टकों से चैतन्य के विषय में कुछ नूतन सूचनाएं भी मिलती हैं। यथा निम्न श्लोक में चैतन्य के कटि में 'करङ्क-अलङ्कार' धारण करने की बात सर्वथा नूतन है-

तनूमाविष्कुर्वन्नवपुरटभासं कटिलसत्करङ्कालङ्कारस्तरुणगजराजाञ्चितगतिः।
प्रियेभ्यो यः शिक्षां दिशति निजनिर्माल्यरुचिभिः स देवश्चैतन्याकृतिरतितरां नः कृपयतु।[2]

श्रीरूप प्रतिभा-सम्पन्न कवि हैं। इन अष्टकों में भक्तिभाव की अभिव्यक्ति, लीला सम्बन्धित नूतन तथ्यों के वर्णन आदि के अतिरिक्त उनकी काव्यात्मकता दृष्टि को आकर्षित करती है। अलङ्कार के निदर्शन रूप में एक पद्य प्रस्तुत है-

स्वरूपं विभ्राणो जगदतुलमद्वैतदयितः प्रपन्नश्रीवासो जनितपरमानन्दगरिमा।
हरिर्दीनोद्धारी गजपतिकृपोत्सेकतरलः स चैतन्यः किं मे पुनरपि दृशोर्यास्यति पदम्।[3]

इस पद्य में स्वरूप, अद्वैत, श्रीवास, परमानन्द तथा गजपति ये पद एक ओर तो

---

[1] स्तवमाला, प्रथम अष्टकम्, 7

[2] वही, द्वितीयाष्टकम्, 7

[3] वही, प्रथमाष्टकम्, 3

चैतन्य के प्रधान परिकरों को सूचित कर रहे हैं तो दूसरी ओर कृष्ण के पक्ष में 'स्वरूप' विग्रह के वाचक हैं। यथा 'अद्वैत' श्रीहरि के नाना रूप धारण करने पर भी उनके अभेद को व्यंजित करता है। 'प्रपन्न श्रीवास' पादसेविनी लक्ष्मी का आश्रय हरि इस अर्थ को व्यक्त कर रहा है। स्पष्ट है कि शब्द तथा अर्थश्लेष के सुन्दर सङ्कर के उदाहरण रूप में प्रस्तुत श्लोक को लिया जा सकता है।

साधारण उपमानों के प्रयोग से अर्थालङ्कार का एक शोभन प्रयोग द्रष्टव्य है-

मृगाङ्कमधुराननस्फुरदनिद्रपद्मेक्षण स्मितस्तबकसुन्दराधरविशङ्कटोरस्तट।
भुजोद्धतभुजङ्गमप्रभमनोजकोटिद्युते शचीसुत मयि प्रभो कुरु मुकुन्द मन्देक्षणम्।[1]

काव्यात्मक-सौन्दर्य से युक्त ये अष्टक अन्य अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों के प्रतिपादन में भी सहायक हैं। श्रीरूप ने यद्यपि शास्त्रीय विवेचन में कहीं भगवान् रूप में चैतन्य के तत्त्व को स्पष्ट नहीं किया है परन्तु इन अष्टकों में की गई चैतन्य की स्तुति के माध्यम से श्रीरूप का उन्हें भगवान् के रूप में मान्यता देने का आभास होता है। निम्न पद में श्रीरूप ने चैतन्य को रुद्र आदि देवताओं का उपासित बतलाकर उनकी भगवत्ता की स्थापना की है-

उपासितपदाम्बुजस्त्वमनुरक्तरुद्रादिभिः प्रपद्य पुरुषोत्तमं पदमदभ्रमुद्भ्राजितः।
समस्तनतमण्डलीस्फुरदभीष्टकल्पद्रुमः शचीसुत मयि प्रभो कुरु मुकुन्द मन्देक्षणम्।[2]

स्पष्ट है कि श्रीरूप ने यद्यपि चैतन्य-जीवन का सर्वाङ्गीण चित्रण इन अष्टकों में प्रस्तुत नहीं किया है तथापि अनेक महत्त्वपूर्ण सूचना देने वाले ये 'अष्टक' चरित-काव्यों की विविध घटनाओं के पोषक रूप में उपादेय हैं।

प्रबोधानन्द सरस्वती-चैतन्यचन्द्रामृतम्

श्रीचैतन्य के स्तुति-परक ग्रन्थ 'चैतन्यचन्द्रामृतम् के रचयिता प्रबोधानन्द सरस्वती का व्यक्तिगत जीवन विद्वानों के लिये विवेचना का विषय बना हुआ है। कविकर्णपूर ने 'गौरगणोद्देशदीपिका' में प्रबोधानन्द का उल्लेख किया है[3]। इससे प्रबोधानन्द तथा उनके ग्रन्थ 'चैतन्यचन्द्रामृतम्' का समय 1506 ई० से पूर्व निर्धारित होता है। परवर्ती वैष्णव वन्दनाओं में उनका सादर उल्लेख हुआ है परन्तु कृष्णदास कविराज ने उनका वर्णन नहीं किया है। कृष्णदास ने 'प्रकाशानन्द' का उल्लेख किया है। अतः प्रबोधानन्द ही संन्यास-ग्रहण से पूर्व प्रकाशानन्द थे, ऐसी भी मान्यता प्रचलित है[4] परन्तु इस विषय में कोई

---

[1] वही, तृतीयाष्टकम्, 7

[2] वही, 1

[3] तुङ्गविद्या व्रजे यासीत् सर्वशास्त्रे विशारदा । सा प्रबोधानन्दयतिगौरोद्गानसरस्वती ।। 163

[4] द्र० विमानविहारी मजुमदार, चै०च०उ०, पृ०171

प्रमाण उपलब्ध नहीं होता है।

प्रबोधानन्द के नाम से कतिपय स्तोत्र काव्य मिलते हैं जिनमें 'चैतन्यचन्द्रामृत' उल्लेखनीय है। यह काव्य बारह विभागों में विभाजित है तथा इसमें 142 श्लोक हैं। स्तुति, नति, आशिर्, भक्त-महिमा आदि नामों से ये विभाग अभिहित हुये हैं। इन वर्णनों से स्पष्ट होता है कि लेखक श्रीचैतन्य की पुरी की लीलाओं के प्रत्यक्षदर्शी थे तथा चैतन्य के सम्पर्क में भी आये थे।

नामसङ्कीर्तन को सर्वोत्कृष्ट बतलाते हुए कवि अन्य सभी मार्गों की हेयता प्रतिपन्न करते हुये कहते हैं-

यत्राप्तं कर्मनिष्ठैर्नच समधिगतं यत्तपोध्यानयोगै-
वैराग्यैस्त्यागतत्त्वस्तुतिभिरपि न यत्तर्कितञ्चापि कैश्चित्।
गोविन्दप्रेमभाजामपि न च कलितं यद्रहस्यं स्वयं त-
न्नाम्नैव प्रादुरासीदवतरति परे यत्र तं नौमि गौरम्।।[1]

श्रीचैतन्य राधा-माधव के युगल रूप को धारण करके अवतरित हुये हैं, इस सिद्धान्त का स्पष्ट शब्दों में समर्थन 'चैतन्यचन्द्रामृत' में किया गया है-

बिभ्रत्कान्तिं विकचकनकाम्भोजगर्वाभिरामामेकीभूतं वपुरवतु वो राधाया माधवस्य[2]।

प्रस्तुत ग्रन्थ की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें स्पष्ट शब्दों में चैतन्य की उपासना का विधान किया गया है। महान् पुण्यों से तथा अनन्य मन से हरि की शरण लेने से भी मति को तब तक धन्य नहीं माना गया है जब तक चैतन्य की उपासना न की जाये, यथा-

अप्यगण्यमहापुण्यमनन्यशरणं हरेः अनुपासितचैतन्यमधन्यं मन्यते मतिः।[3]

लेखक ने चैतन्य-उपासना का अनेक प्रकार से अपने ग्रन्थ में प्रवर्तन किया है। उनकी दृष्टि में चैतन्य ब्रह्म, शिव आदि देवताओं के भी मूल, अतः अत्याश्चर्य महिमा वाले हैं जो लेखक की बालसुलभ एवं मूर्खतापूर्ण बातों को सुनकर स्नेहसिक्त हो जायेंगे-

'ब्रह्मेशादिमहाश्चर्यमहिमापि महाप्रभु:। मुग्धबालोदितं श्रुत्वा स्निग्धोऽवश्यं भविष्यति।[4]

'चैतन्यचन्द्रामृत' में चैतन्य-जीवन की घटनाओं का उल्लेख न करके उनके प्रेम विह्वल रूप का चित्रण किया गया है परन्तु सबसे प्रमुख विषय है चैतन्य को उपास्य देव-

[1] चैतन्यचन्द्रामृतम्, 3

[2] वही, 13

[3] वही, 31

[4] वही, 141

रूप में चित्रित करना। यद्यपि अन्य स्तुतिकारों ने भी चैतन्य को कृष्ण रूप में नमन किया है परन्तु प्रबोधानन्द सरस्वती तो 'चैतन्य' को ही परमदेव स्वीकार करते हैं-

श्रवणमननसङ्कीर्त्यादिभक्तया मुरारेः यदि परमपुमर्थं साधयेत्कोऽपि भद्रम्।
मम तु परमपारप्रेमपीयूषसिन्धोः किमपि रसरहस्यं गौरधाम्नो नमस्यम्।।[1]

प्रबोधानन्द की यही भावना 'गौर-पारम्यवाद' है। इसी मत को नर हरि सरकार तथा शिवानन्द सेन ने भी स्वीकार किया था।[2] इस कारण से चैतन्य जीवनी-काव्य में 'चैतन्यचन्द्रामृत' का विशेष महत्त्व है।

गोविन्ददेवकवि-गौरकृष्णोदयः

गोविन्द देव कवि विरचित 'गौरकृष्णोदय काव्य' चैतन्य जीवन-चरित की एक अन्य अल्प-ख्यात कृति है। सम्पूर्ण काव्य महाकाव्य की शैली में विरचित है जो अट्ठारह सर्गों में विभाजित है। गोविन्द कवि वक्रेश्वर पण्डित के परिवार के तथा उत्कलदेशीय कवि हैं।[3] इसके अतिरिक्त इनके विषय में अधिक सूचना प्राप्त नहीं होती।

प्रस्तुत काव्य में 'केलावतरण', 'भगवत्प्रभावविषय', 'बाल्यनिर्णयमय', 'विहितवैवाहिक', 'यौवनमय', 'संन्यासिलीला', 'नीलाद्रियात्रामय' आदि नाम के अट्ठारह सर्ग हैं जिनमें चैतन्यदेव के जीवन की प्रमुख घटनाओं को सङ्कलित किया गया है। महाकाव्य की शैली में रचित होने के कारण विविध् छन्दों की योजना की गई है। प्राञ्जल संस्कृत में आलङ्कारिक कृतित्व के साथ रचना सम्पन्न हुई है।

शचीनन्दन चैतन्य की प्रार्थना के साथ ही काव्य का प्रारम्भ इस प्रकार किया गया है-

अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ। समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम्।
हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसन्दीपितः। सदा हृदयकन्दरे स्फुरन्तु वः शचीनन्दनः।।[4]

'गौरकृष्णोदय' में लीला-वर्णन कृष्णदास कविराज के 'चैतन्यचरितामृत' के वर्णन के अनुरूप है। केवल 'चैतन्यचरितामृत' के शास्त्रीय विचार भाग का उन्होंने वर्णन किया है। गोविन्द कवि स्वयं इस बात के प्रति सचेत थे कि उनके काव्य में कोई मौलिक उद्भावना नहीं है तथापि उन्होंने चैतन्य-लीला के वर्णन का प्रयास किया है। एक सुन्दर उपमा के द्वारा उन्होंने अपनी इस भावना को अभिव्यक्त किया है-

---

[1] वही, 58

[2] द्र० चै० च० उ०, पृ० 178,

[3] गौरकृष्णोदय, भूमिका

[4] वही, 1/1

यद्यप्यमीभिश्चरितामृतञ्च चैतन्यचन्द्रस्य निपीतमग्रे।
तथापि तत्रास्ति ममावकाशः पीते चकोरस्य सुरैरिवेन्दौ।।[1]

काव्य को अलङ्कारों से सज्जित करना गोविन्द कवि को प्रिय रहा है। अर्थालङ्कारों के साथ बाहुल्य से शब्दालङ्कारों का भी प्रयोग दृष्टिगत होता है। अनुप्रास की छटा प्रस्तुत पद्य में दर्शनीय है-

तदवेक्षणसक्षणे क्षणोऽसौ पुनरगात् कटकं जनानुरागात्।
स्फटिकाद्रिनिभस्फुटाट्टकोटिस्फुरणास्फालितविस्फुरद्द्युवीथि।।[2]

इसी प्रकार यमक का प्रयोग इस काव्य का अपना वैशिष्ट्य है-

निषीदतं वेश्मनि नौ विषीदतं पुनः प्रसादात् मम सङ्गमाप्स्यथ।[3]

परम्परा के अनुरूप गोविन्दकवि ने प्रत्येक सर्ग के अन्त में आत्मपरिचयात्मक एक ही पद्य का प्रयोग किया है जो इस प्रकार है-

श्रीगौराङ्गयतीन्द्रपुङ्गवपदद्वन्द्वारविन्दोदर-
प्रोन्मीलन् मकरन्दबिन्दुनिकरास्वादप्रमत्तालिना।
गोविन्देन कृते कृति प्रियकृते श्रीगौरकृष्णोदये
सर्गो निर्गतवान्................नामायम्............।[4]

प्रायः चैतन्यचरितकार चैतन्य-लीला का विस्तृत वर्णन करने पर भी उनके तिरोधान के विषय में या तो मौन हैं अथवा अत्यन्त संक्षेप में उसका सङ्केत्त मात्र कर देते हैं। गोविन्दकवि ने भी उसी प्रकार इस प्रसङ्ग का सङ्केत्त मात्र करके ग्रन्थ का समापन किया गया है। यथा-

एवं देवः केवलं केलिलोभादष्टोचत्वारिंशदब्दान् विहृत्य-
गूढाद् गूढं भक्तिचर्चारहस्यं व्यक्तीकृत्य स्वैरमाप स्वरङ्गम्।[5]

प्रस्तुत काव्य रचना की समाप्ति 1680 शकाब्द के आश्विन मास की कृष्णा तृतीया को हुई थी, इसका उल्लेख गोविन्दकवि ने स्वयं ग्रन्थ की समाप्ति पर किया है-

साशीति षोडशशतप्रमिते शकाब्दे, याते तथाश्विनसितेतरनेत्रतिथ्याम्।
काव्यं कवेरहनि च प्लवनामवर्षे, पूर्णं पुनर्भगवदर्पितमेतदासीत्।[6]

---

[1] वही, 1/4

[2] वही, 7/38

[3] वही, 13/51

[4] वही, प्रत्येक सर्ग का अन्तिम श्लोक

[5] वही, 18/62

[6] वही, अन्तिम निवेदन

यद्यपि काव्य की दृष्टि से 'गौरकृष्णोदय' कोई उच्च स्तरीय कृति नहीं है तथा चैतन्य-चरित काव्यों में इसका कोई मौलिक योगदान भी नहीं है तथापि उत्कल-कवि का चैतन्य-लीला सम्बन्धित यह पूर्णाङ्ग काव्य उपेक्षणीय नहीं है।

रघुनन्दनदास गोस्वामी - गौराङ्गविरुदावली

रघुनाथदास गोस्वामी ने काव्य-विधा 'विरुद' के रूप में 'गौराङ्गविरुदावली' की रचना की है। 'विरुद' की परिभाषा करते हुयेआचार्य विश्वनाथ ने उसे 'गद्य-पद्यमयीराजस्तुति' कहा है[1] परन्तु बङ्गीय वैष्णव कवियों द्वारा रचित विरुद-काव्य देवताओं की प्रार्थना अथवा स्तुतिपरक हैं अतः ये कवि एक नूतन काव्य विधा के प्रवर्तक कहे जा सकते हैं[2]। अस्तु, चैतन्य के जीवन-चरित पर एकमात्र 'विरुद-काव्य' के रचयिता रघुनन्दन दास हैं जिन्होंने गद्यपद्यमयी शैली में गौराङ्ग श्रीचैतन्य की स्तुति की है। 'गौराङ्गविरुदावली' पर्याप्त पश्चाद्वर्ती अर्थात् अट्ठारहवीं शताब्दी की रचना है[3]।

सामान्य विरुद की प्रवृत्ति के अनुरूप चैतन्य के वर्णन में उनकी लीला अथवा जीवन की किसी घटना विशेष का महत्त्व न होकर इसकी आलङ्कारिता दर्शनीय है। निम्न पद्य में उपमा, उत्प्रेक्षा तथा रूपक की संसृष्टि अवलोकनीय है -

शुद्धस्वर्णतनुच्छटासमुदयैर्विद्योतयन् दिक्तटीः।
श्रीगौराङ्गमन्दरः प्रणयतान्मन्नेत्रचित्तोत्सवम्।।[4]

प्रस्तुत ग्रन्थ में लेखक की शैली कहीं क्लिष्ट तथा अलङ्कारों से बोझिल प्रतीत होती है तो कहीं भावों की अपेक्षा भाषा का लालित्य अधिक चमत्कारक है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

जयजयगौर प्रियतमपौर व्यसनसुचौर स्फिरनवशौर
च्छविवरवासश्चटुलविलास प्रमुदितहास व्रजकृतरास।[5]

कल्पना-विलास का सुन्दर प्रयोग काव्य में मिलता है, यथा-

त्वत्केशपाशो ननु गौरचन्द्रस्यस्याच्छम्बरारेः किमु पाश एव।
यतो वधूनामिह दृक्कुरङ्गा निपत्य निपत्य नोत्थातुमलं भवन्ति।।[6]

---

[1] गद्यपद्यमयी राजस्तुतिः विरुदमुच्यते । साहित्यदर्पण, 6/236

[2] द्र० S.K. De, VFM, P. 664

[3] वही

[4] गौराङ्गविरुदावली, 8

[5] वही, 15

[6] वही, 82

गद्य भाग में विरोधाभास का चमत्कार प्रयोग पद-पद पर हृदयावर्जक है, यथा-
नीरागा अपि रागं निर्दर्पा अपि सदर्पकताम् गौरजनास्त्वत्कृपया निर्माया अपि समायतां यान्ति।[1]

उपस्थापित उदाहरणों से रघुनन्दनदास का पाण्डित्य तथा काव्य नैपुण्य अवश्यमेव स्पष्ट होता है पर चैतन्य सम्बन्धित रचना से चैतन्य के जीवन-चरित पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ा है। 'विरुदावली' के अन्तिम पद्य से प्रतीत होता है कि लेखक वृन्दावनवासी थे तथा गोवर्धन गिरि के समीपस्थ गौर-भक्तों के निर्देशानुसार ही इस काव्य की रचना में प्रवृत्त हुये थे-

येषां निर्देशवशतो विरुदावलीयं गौरप्रभोर्विरचिता रघुनन्दनेन।
गोवर्धनक्षितिभृदन्तिकवासिनस्ते गृह्णन्त्विमां कृतकृपां कृपणे महन्तः।[2]

स्पष्ट है कि चैतन्य जीवन-चरित पर आधारित एक मात्र विरुद होने पर भी प्रस्तुत ग्रन्थ चरित काव्य की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है।

उक्त रचनाओं के अतिरिक्त चैतन्यदेव के मातुल विष्णुदास के जामाता गोपीनाथ कविकण्ठाभरण रचित 'चैतन्यचरित' का उल्लेख मिलता है[3] परन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित तथ्य उपलब्ध नहीं हैं । इनके अतिरिक्त कुछ अन्य संस्कृत ग्रन्थ भी उपलब्ध हो सकते हैं, जो अन्वेषणीय हैं ।

संस्कृत ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य भारतीय भाषाओं में, विशेषकर बंगला भाषा में चैतन्य के जीवनचरित पर कतिपय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चरितकाव्यों की रचना हुई है । इनमें सर्वप्रथम 'चैतन्यभागवत' का नाम स्मरणीय है जो वृन्दावनदास ठाकुर रचित है । श्रीचैतन्य का उपास्य ग्रन्थ जहाँ 'श्रीमद्भागवत' था, वहीं गौड़ीय-वैष्णवों का उपास्य ग्रन्थ 'चैतन्यभागवत' है । इस के अतिरिक्त लोकप्रियता तथा पूर्णता की दृष्टि से कृष्णदास कविराज का 'चैतन्यचरितामृत' उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। अधिकतर विद्वान् श्रीचैतन्य के जीवन की घटनाओं की प्रामाणिकता इसी ग्रन्थ के आधार पर सिद्ध करते हैं । इन दोनों ग्रन्थों के अतिरिक्त जयानन्द रचित 'चैतन्यमङ्गल', लोचनदास रचित 'चैतन्यमङ्गल' तथा गोविन्ददास का 'कड़चा' विशेषतया उल्लेखनीय ग्रन्थ है । बंगला के अतिरिक्त असमिया, उड़िया, गुजराती तथा हिन्दी आदि में भी समय-समय पर चैतन्य-चरित सम्बन्धित ग्रन्थ लिखे जाते रहे हैं । वस्तुतः चैतन्य-जीवन पर आधारित साहित्य अत्यन्त व्यापक है।

---

1 वही, 96

2 वही, 124

3 Chintaharan Chakravarti, Sanskrit Literature of the Vaishavas of Bengal, ABORI, Vol. X, Part I-II, 1929, p. 123.

द्वितीय परिच्छेद

कविकर्णपूर–व्यक्तित्व एवं कृतित्व

पितृ–परिचय – शिवानन्द सेन

कविकर्णपूर – जन्मकाल

नामकरण तथा गुरू

कवित्वशक्ति– प्रकाश

कर्णपूर तथा श्रीरूप

कर्णपूर–वृन्दावन दास

अप्रामाणिक रचनाएं

प्रामाणिक रचनाएं–कालक्रम

श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृत महाकाव्य

कृष्णाह्निककौमुदी

आनन्दवृन्दावन चम्पू

चैतन्यचन्द्रोदय नाटक

अलङ्कारकौस्तुभ

गौरगणोद्देशदीपिका

द्वितीय परिच्छेद
कविकर्णपूर व्यक्तित्व एवं कृतित्व

पितृ परिचय- शिवानन्द सेन

कविकर्णपूर का परिचय प्राप्त करने से पूर्व उनका पितृ-परिचय तथा वंशगौरव जान लेना आवश्यक है। प्रत्येक व्यक्ति पर उसके पारिवारिक-परिवेश का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। यदि साहित्यकार को अपनी शैशवावस्था से ही उपयुक्त परिवेश तथा पैतृक-दाय में साहित्यिक अभिरुचि मिल जाए तो कहना ही क्या ? कवि-कर्णपूर को सौभाग्य से ऐसे ही पिता की छत्र-छाया में प्रतिपालित होने का अवसर मिला था जिस कारण चैतन्यदेव के प्रति दृढ़ आस्था पनपने के साथ उनकी काव्य-प्रतिभा भी मुखरित हो उठी थी।

कविकर्णपूर के पिता शिवानन्द सेन पश्चिम बंगाल के वर्धमान जिले के काञ्चनपल्ली (कांचड़ापाड़ा) नामक स्थान के समादृत वैद्य थे। मूलतः वे कुमारहट्ट, जो हालिशहर के नाम से विख्यात है, के वासी थे। वहाँ से कुछ ही दूर कांचड़ापाड़ा में उन्होंने 'गौरगोपाल' देवता की प्रतिष्ठा की थी। शिवानन्द द्वारा निर्मित कृष्णराय का देव मन्दिर आज भी है[1]।

कविकर्णपूर ने 'गौरगणोद्देशदीपिका' में श्रीचैतन्य तथा उनके परिकरों के वृन्दावन-कालीन तत्त्व का निरूपण किया है। इन परिकरों में उन्होंने अपने माता, पिता, दोनों बड़े भाई तथा ममेरे भाई का भी समावेश किया है। कवि ने वृन्दावन की लीला के समय उनका जिस-जिस रूप में योगदान था, उसका भी वर्णन किया है। शिवानन्द सेन के सांसारिक परिचय को जानने के साथ इस परिकर रूपी परिचय को भी जानना आवश्यक है। इस परिचय से कर्णपूर की दृष्टि में अपने परिवार का महत्त्व प्रतिपादित होता है। कर्णपूर ने 'गौरगणोद्देशदीपिका' में शिवानन्द को कृष्णकालीन वृन्दावन की वीरा नामक दूती के रूप में स्वीकार किया है[2]। कर्णपूर के अतिरिक्त शिवानन्द के चैतन्यदास तथा रामदास नामक दो और भी पुत्र थे जो चैतन्य महाप्रभु के परम भक्त थे[3]। कर्णपूर ने अपने इन दोनों अग्रजों का तत्त्व-निरूपण करते हुए उन्हें कृष्ण-लीला के दक्ष तथा विचक्षण नामक दो शुक स्वीकार किया है[4]। वहीं अपनी माता को व्रज की बिन्दुमती के रूप में

---

[1] द्र० D.C. Sen, VLMB, pp. 71-74

[2] पुरा वृन्दावने वीरादूती सर्व्वांश्च गोपिकाः। निनाय कृष्णनिकटं सेदानीं जनको मम। 176

[3] चैतन्य दास रामदास आर कर्णपूर। तिनपुत्र शिवानन्देर प्रभुर भक्त शूर। चै०च०,आदि, 10, पृ० 47

[4] वृन्दावने यौ विख्यातौ शुकौ दक्षविचक्षणौ। तावद्य जातौ मज्ज्येष्ठौ चैतन्यरामदासकौ। गौ०ग०दी०, 145

स्वीकार किया है।[1] परन्तु उनका वास्तविक नाम क्या था, इसका कहीं भी सङ्केत नहीं मिलता है। सम्भवतः तत्कालीन सामाजिक मर्यादा के अनुकूल ही ऐसा हुआ हो।

शिवानन्दसेन तथा चैतन्य-गोष्ठी

कविकर्णपूर ने अपने ग्रन्थों में

इह परमकृपालोर्गौरचन्द्रस्य कोऽपि प्रणयरसशरीरः श्री शिवानन्दः[2]

तथा '**श्रीकृष्णचैतन्यस्य प्रियपार्षदस्य शिवानन्दसेनस्य**'[3] इत्यादि कहकर अपने पिता शिवानन्द सेन की चैतन्य-प्रीति तथा चैतन्य-गोष्ठी में उनकी प्रसिद्धि को स्पष्ट किया है। पश्चाद्वर्ती चैतन्यचरितकारों की उक्ति[4] से भी शिवानन्द की इसी प्रकार की महत्ता प्रतिपादित होती है।

शिवानन्द सेन की चैतन्य-भक्ति मात्र सैद्धान्तिक न थी। चैतन्य-भक्तों के चैतन्य-दर्शन का दायित्व ग्रहण करके उन्होंने अपनी भक्ति-भावना को मूर्त रूप प्रदान किया था। महाप्रभु के नीलाचल-वास के समय प्रत्येक वर्ष वे गौड़ से भक्त-समुदाय को अपने व्यय पर नीलाचल ले जाते थे। नीलाचल-यात्रा का दिन निर्धारित करने से लेकर मार्ग का समस्त दाय-दायित्व भी शिवानन्द का ही होता था[5]। अभिभावक के रूप में यात्रियों को नीलाचल ले जाते हुए शिवानन्द तत्कालीन नियमानुसार मार्ग में दिए जाने वाले यात्रा कर का भुगतान स्वयं ही करते थे[6]। इस यात्रा-दल में चाण्डाल तक सम्मिलित हुआ करता था[7]। उन पर यह दायित्व स्वयं चैतन्य ने सौंपा था इसका स्पष्ट उल्लेख शिवानन्द ने अपने पद में किया है[8]।

कृष्णदास कविराज के अनुसार शिवानन्द अपने साथी भक्त-जनों को पूर्ण सचेतनता एवं कर्तव्य परायणता से अपने साथ ले जाते थे। सबके निवास-स्थान की व्यवस्था करने का दायित्व भी उनका ही था। वह उत्कल के मार्ग से भी परिचित थे[9]।

---

[1] ब्रजे बिन्दुमती यासीदद्य सा जननी मम। वही, 176

[2] चै०च० (काव्य) 20/46

[3] नाटक, पृ० 3

[4] वासुदेवदत्त आइलेन सेइक्षणे। शिवानन्द सेन आदि आप्तवर्ग सने। चै०भा०, अन्त्य, 5, पृ० 367

[5] शिवानन्दस्त्वया भण्यताम् प्रस्थानस्य दिनं विधाय लिखतु....... नाटक, पृ० 178

[6] घट्टदेयस्य प्रतिभवी भूत्वा स्वयमेव जनं प्रति यल्लगति तस्य निर्णयानुरूपं परिच्छेद्यं दत्वा यातिं। वही, पृ० 180

[7] तेषामभिभावकतया शिवानन्दनामा.....आचाण्डालमपि प्रतिपाल्यनयति। वही, पृ० 178

[8] गौडीय यात्रिक सने वत्सरान्ते दरशने कहिला जाइते नीलाचले। गौ० प० त०, पद 52

[9] शिवानन्द सेन करे घाटि समाधान। सबाके पालन करि सुखे लइया जान।
सबार सर्व्व कार्य करेन देन वासस्थान। शिवानन्द जानेन उडिया पथेर सन्धान।
चै०च०, मध्य, 16, पृ० 298

शिवानन्द सेन ऐसी यात्रा में सपरिवार जाया करते थे[1]। एकाधिक बार उनकी पत्नी तथा पुत्र उनके सहगामी बने[2]।

उदार मनोवृत्ति तथा विनम्र व्यवहार वाले शिवानन्द एक निपुण चिकित्सक भी थे। तत्कालीन भौगोलिक स्थिति तथा आवागमन के अपर्याप्त साधनों की स्थिति में उस दीर्घकालीन तथा सुदूर की यात्रा में ऐसे चिकित्सक अभिभावक की उपस्थिति में यात्रियों को अत्यधिक सुविधा थी[3]। इस प्रकार के दायित्वपूर्ण कार्य से शिवानन्द की आसपास के प्रान्तों में बहुत प्रतिष्ठा थी। इस दल में अनेक सम्मानित तथा विख्यात व्यक्ति भी योगदान करते थे। रघुनाथ दास के अपने वास-स्थान सप्तग्राम से गोपनीय रूप से चले जाने पर रघुनाथ के पिता गोवर्धनदास ने शिवानन्द की ही शरण ली। पुत्र की सूचना पाने के उपरान्त भी उन्होंने शिवानन्द से ही रघुनाथ का दायित्व ग्रहण करने का अनुरोध किया। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि शिवानन्द लोगों के स्नेह भाजन होने के साथ ही उनके विश्वास-पात्र भी थे[4]।

चैतन्य पार्षद- शिवानन्द

शिवानन्द के हृदय में चैतन्य के प्रति कैसी गहरी आस्था तथा अनाविल भक्ति थी, उसका परिचय तो उनकी इस प्रतिवर्ष की तीर्थयात्रा से मिल जाता है परन्तु चैतन्य के विशेष कृपापात्र शिवानन्द थे, इसका ज्ञान नाटक में वर्णित कतिपय घटनाओं से हो जाता है, यथा-किसी वर्ष नीलाचल जाते हुए 'रेमुणा' में अधिक कर-प्राप्ति के लोभ से कराधिकारियों द्वारा शिवानन्द को बन्दी बना लेने पर भावी अपमान एवं ताड़ना की आशंका से कातर होकर शिवानन्द ने श्री चैतन्य का स्मरण किया। फलस्वरूप चैतन्य ने उस अधिकारी को स्वप्नादेश दिया जिससे उसने तत्काल ही शिवानन्द को मुक्त करके उनका शोक दूर किया[5]।

शिवानन्द के जीवन में चैतन्य का साक्षात् अनुग्रह भी हुआ था। तदनुसार नीलाचल से श्रीचैतन्य जब वृन्दावन गए तो वे गौड़देश होते हुए ही गए। उस समय श्रीचैतन्य कुछ समय के लिए शिवानन्द के घर भी गए थे। जगदानन्द ने उस समय मार्ग के दोनों भागों को केले के स्तम्भों, पूर्ण कुम्भों तथा दीप-मालाओं से सुसज्जित किया। जगदानन्द के कहने पर वे शिवानन्द के घर गये। वहाँ जगदानन्द ने जब उनका चरणोदक ग्रहण किया

---

1 शिवानन्दसेनश्च पुत्रदारासमन्वितः। कड़चा, 4/17/6

2 शिवानन्द सङ्गचले चले ताँहार गृहिणी। शिवानन्देर बालक नाम चैतन्य दास।
तेहो चलितेछे प्रभु देखिते उल्लास। चै०च०, मध्य, 16, पृ० 298

3 D.C. Sen, VLMB p. 65

4 चै०च०, अन्त्य 6, पृ० 495-500

5 नाटक, पृ० 180

तो चैतन्य शिवानन्द के देवगृह में गये। तत्पश्चात् उस चरणोदक के कुछ भाग को घर पर छिड़ककर कुछ को समस्त पारिवारिक सदस्यों तथा परिकरों में जगदानन्द ने वितरित किया[1]।

श्रीचैतन्य के प्रधान पार्षदों के साथ शिवानन्द का घनिष्ठ सम्पर्क था। अद्वैत भी सपत्नीक शिवानन्द के सहगामी होकर नीलाचल जाते थे[2]। श्रीवासादि से शिवानन्द का पर्याप्त नैकट्य था अतः यात्रादि के सम्बन्ध में वे उनसे परामर्श लेते थे[3]। चैतन्य के स्नेहास्पद, यदुनन्दन-शिष्य रघुनाथ दास शिवानन्द के प्राणाधिक स्नेही जन थे[4]। इन सभी उल्लेखों से स्पष्ट होता है कि चैतन्य-भक्तों में शिवानन्द का महत्त्वपूर्ण स्थान था तथा अन्य भक्तों के साथ उनका अच्छा सम्पर्क था। गौड़ीय-भक्तों के दलपति शिवानन्द के लिए सरलता से अनुमान किया जा सकता है कि उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली रहा होगा जिस कारण प्रत्येक वर्ष वे नीलाचल यात्रा रूप इस गुरु दायित्व का पालन करते रहे। इन विशेषताओं के परिणामस्वरूप शिवानन्द के अपने परिकरों की एक उपशाखा बन गई थी जिससे उनके पुत्र, भृत्यादि सभी चैतन्य के अनुचर हो गए थे। शिवानन्द के सम्बन्ध से ही श्रीवल्लभ सेन तथा श्रीकान्त चैतन्य के परम भक्त हो गए थे।[5]

शिवानन्द सेन प्रगाढ़ भक्त तथा एकनिष्ठ आस्थावान् होने पर भी अन्ध-विश्वासी नहीं थे। वे उचित युक्ति एवं प्रमाण के आधार पर ही किसी असाधारण अथवा अलौकिक बात पर विश्वास करते थे। उदाहरणस्वरूप नकुल ब्रह्मचारी पर चैतन्य का

---

1 ततो जगदानन्देनोभयोः पार्श्वयोः कदलीस्तम्भपूर्णकुम्भमुकुलदीपावलीभिः सुरचना विशेषेण शिवानन्दवाटीपर्यन्तमभिमण्डितं वर्त्मरूढः स्मितसुमधुरवदनो जगदानन्दकृतमिति मन्यमानो वामे वासुदेववाटीपथमपि तथाविधमालोक्य किमितोऽग्रे गन्तव्यं किमिति इति संदिहानो वासुदेवेनोचे 'भगवन्, अग्रतः शिवानन्दवाटीमेवालङ्कुरु' इति। तथा कुर्वाणो जगदानन्देन धारितचरणाम्बुजस्तदीयभगवद्गृहं प्रविष्टः अनन्तरं तच्चरणोदकं गृहपटलोपरिकिञ्चिद्विकीर्य कियदन्तःपुरे परिजनेभ्यो जगदानन्देनैव दत्तम् वही, पृ० 171

2 से वत्सरे प्रभु देखिते सब ठाकुराणी चलिला आचार्य सङ्गेअच्युत जननी।
शिवानन्द सेन करे सब समाधान घाटियाल प्रबोधि देन वासस्थान। चै०च०मध्य, 16, पृ०,298 299 भावार्थ- उस वर्ष प्रभु के दर्शन के लिए सब ठकुरानियां भी चलीं। आचार्य के साथ अच्युत की माता भी गयीं। शिवानन्द सेन ने समस्त आवासादि का प्रबन्ध किया।

3 तावदहं श्रीवासपण्डितप्रभृतिभिर्निर्णेतुं तत्र गच्छामि। नाटक, पृ० 182

4 आचार्यो यदुनन्दनः सुमधुरः श्रीवासुदेवप्रियस्तच्छिष्यो रघुनाथ इत्यधिगुणः प्राणाधिको मादृशाम्। वही, पृ०181

5 शिवानन्देर उपशाखा ताँर परिकर पुत्र भृत्य आदि चैतन्येर अनुचर।
.....श्रीवल्लभसेन नाम आर श्रीकान्त शिवानन्द सम्बन्ध प्रभुर-भक्त एकान्त।
चै०च०, आदि 10, पृ० 47

आवेश होने पर शिवानन्द ने प्रमाण के बिना उस पर विश्वास नहीं किया[1]। इसी प्रकार नृसिंहानन्द द्वारा अर्पित भोजन के चैतन्य द्वारा स्वीकार करने की बात पर भी उन्होंने तब तक विश्वास नहीं किया जब तक स्वयं चैतन्य देव ने उन्हें आश्वस्त नहीं कर दिया[2]। दृढ़ आस्था के साथ प्रत्येक बात को बुद्धि द्वारा विश्लेषित करके स्वीकार करना उनकी मानसिक जागरूकता का ही परिचायक है। उनमें भक्ति तथा वैष्णव जन के प्रति प्रीति तथा श्रद्धा का भी अभाव नहीं था। यही कारण है कि चैतन्य-कृपा प्राप्त तथा परमपद को जाने वाले कुक्कुर से भी क्षमा याचना करने में वे कुण्ठित नहीं होते हैं[3]।

शिवानन्द सेन का एक परिचय उनका कवि रूप भी है। उन्होंने चैतन्य-सम्बन्धित किसी काव्य-ग्रन्थ की रचना न करके बंगला भाषा में कतिपय पदों[4] की रचना की है।

'गौरपदतरङ्गिणी' में 'शिवानन्द-भणिता' में छः तथा 'शिवाइ-भणिता' में एक पद का सङ्कलन हुआ है। ये समस्त पद अत्यन्त चित्ताकर्षक हैं। साक्षात् चैतन्यलीला के द्रष्टा हुए बिना इस प्रकार का वर्णन सम्भव प्रतीत नहीं होता है।

शिवानन्द के पद चैतन्य की प्रेम-पूर्ण लीला के परिचायक हैं एवं चैतन्य के पार्षद तथा भक्तों के स्वरूप विवेचन में भी सहायक हैं, यथा- चैतन्य तथा गदाधर के पारस्परिक सम्पर्क का द्योतक यह पद द्रष्टव्य है-

गौरगत प्राण प्रेम के बुझिते पारे। क्षेत्रवास कृष्ण-सेवा जार लागि छाड़े।
गदाइर गौरङ्ग गौराङ्गेर गदाधर। श्रीराम जानकी जेन एक कलेवर।
जेन एक प्राण राधा वृन्दावन चन्द्र। जेन गौर गदाधर प्रेमेर तरङ्ग।
कहे शिवानन्द पहुँ जार अनुरागे। श्याम तनु गौर हइया प्रेम माँगे।[5]

---

[1] वही, पृ० 163

[2] वही, पृ० 165

[3] वही, पृ० 178-179 तथा 'शस्य खाये कुक्कुर कृष्ण कहे बार-बार। देखिया लोकेर मन हैल चमत्कार।। शिवानन्द कुक्कुरदेखि दण्डवत् कैला। दैन्य करि निज अपराध क्षमाइला।।' चै०च०, अन्त्य, 1, पृ० 424। (कुत्ता शस्य खा रहा था तथा बार-बार कृष्ण-कृष्ण कह रहा था। इसे देखकर लोग आश्चर्यचकित रह गये। शिवानन्द ने कुत्ते को देखकर दण्डवत् प्रणाम किया तथा अत्यन्त दीन बनकर अपने अपराध की क्षमा याचना भी की)।

[4] प्रस्तुत सन्दर्भ में पद से तात्पर्य संक्षिप्त गीत से है तथा गीतकार को ही पदकर्ता कहा गया है। इन पदों को संक्षिप्त भक्तिमूलक गीत भी कह सकते हैं। साहित्यिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण होने के साथ ऐतिहासिक दृष्टि से भी इन पदों का अत्यन्त महत्त्व है, क्योंकि चैतन्य के सम्पूर्ण जीवन का चित्रण प्रस्तुत न करने पर भी प्रत्यक्षदर्शियों का वर्णन होने के कारण चैतन्य-चरित से सम्बन्धित कोई सामान्य घटना भी यदि इन पदों से सूचित हो तो उसका भी मूल्य है। शिवानन्द सेन इन्हीं महत्त्वपूर्ण पदकर्ताओं में से एक हैं।

[5] गौ०प०त०, पद 3

अर्थात् जगन्नाथपुरी से वृन्दावन जाते हुये चैतन्य का साहचर्य गदाधर को अभीष्ट था। इस कारण वे अपने आराध्य कृष्ण की सेवा तथा जगन्नाथ क्षेत्र का त्याग करने को भी प्रस्तुत थे। चैतन्य के प्रति गदाधर के इस एकनिष्ठ प्रेम के ऐतिहासिक साक्ष्य रूप में प्रस्तुत पद महत्त्वपूर्ण है। गदाधर तथा चैतन्य के रहस्यात्मक सम्पर्क को भी कवि ने यहाँ राम-सीता तथा कृष्ण-राधा के उपमानों से स्पष्ट किया है। उनके प्रति प्रेमाधिक्य के लिये शिवानन्द ने उत्प्रेक्षा की है कि मानो श्रीकृष्ण ने उसी अनुराग के वशीभूत श्याम (कृष्ण) शरीर का परित्याग करके गौर तनु धारण किया है। यहाँ केवल काव्य को अलङ्कार से सम्पन्न ही नहीं किया गया है वरन् प्रेम सर्वस्व चैतन्य-मान्यता के मूल सिद्धान्त अर्थात् कृष्ण के राधा भाव ग्रहण कर चैतन्य रूप में अवतरित होने की बात को भी स्वल्प शब्दों में व्यक्त किया गया है[1]।

शिवानन्द के पदों में भावों की अभिव्यञ्जना तथा गूढ़ तथ्यों के प्रकाशन के साथ कहीं-कहीं सुन्दर अलङ्कार-योजना भी मिलती है यथा रूपक अलङ्कार की छटा निम्न पद्य में दर्शनीय है-

अखिल भुवन भरि-हरि रस बादर बरिखेय चैतन्य मेघे
भक्त चातक जत पिबि पिबि अविरत अनुखन प्रेम जल माँगे [2]।

इन कतिपय उद्धरणों से शिवानन्द की काव्य-प्रतिभा का स्वल्प आभास मिल जाता है। उनके पदों का महत्त्व इसी से स्पष्ट हो जाता है कि 'पदकल्पतरु' में सङ्कलित होने से पूर्व अर्थात् अष्टादश शताब्दी में 'भक्तिरत्नाकर' में ही उनको संग्रहीत कर लिया गया था। वास्तव में काव्य सौष्ठव के साथ-साथ ऐतिहासिक घटनाओं के साक्ष्य रूप में भी उनके पद महत्त्वपूर्ण हैं। यहाँ पर शिवानन्द सेन की काव्य-प्रतिभा का स्वल्प आभास देने का उद्देश्य केवल यह स्पष्ट करना है कि 'चैतन्यचन्द्रोदय' रचयिता कर्णपूर ने काव्य नैपुण्य भी अपने पिता से दाय रूप में ग्रहण किया है।

कवि तथा भक्त के साथ शिवानन्द के सैद्धान्तिक रूप का परिचय भी 'गौरगणोद्देश-दीपिका' में मिलता है। स्वरूप दामोदरादि के समान उनकी मान्यताओं का उल्लेख भी कर्णपूर ने किया है। उदाहरणतया सारङ्ग ठक्कुर के सन्दर्भ में कहा गया है, ब्रज में जो नान्दीमुखी थी वही अब सारङ्ग ठक्कुर है। कुछ लोग उन्हें प्रह्लाद मानते हैं परन्तु मेरे पिता ऐसा नहीं मानते हैं[3]।

शिवानन्द की उपशाखा के साथ चौंसठ महन्तों की भोगमाला के अनुसार उनके आठ पार्षदों का उल्लेख भी मिलता है[4]। उनका सम्मान चैतन्यगोष्ठी में इतना अधिक था कि प्रामाणिक ग्रन्थों के साथ कई अप्रामाणिक वैष्णव वन्दनाओं में भी उनको प्रणाम किया गया है[5]।

[1] कविकर्णपूर की दार्शनिक-मान्यता का प्रसङ्ग द्रष्टव्य।

[2] गौ०प०त०, पद 25

[3] ब्रजे नान्दीमुखी यासीत् साद्य सारंगठक्कुरः। प्रह्लादो मन्यते कैश्चिन्मत्पित्रा स न मन्यते। गौ०ग०दी०, 102

[4] साधककण्ठभूषण, पृ० 65,

[5] वही, पृ० 3-4

कविकर्णपूर

कविकर्णपूर बंगाल के सेन वंश के गौरव तथा चैतन्य महाप्रभु के प्रमुख पार्षद शिवानन्द सेन के पुत्र थे[1]। अपने पिता के वे कनिष्ठ पुत्र थे[2]। पिता शिवानन्द सहित कर्णपूर एवं उनके दोनों अग्रजों का वैष्णव समाज में पर्याप्त सम्मान था[3]। कर्णपूर का जन्म काञ्चड़ापाड़ा में हुआ था[4]।

शिवानन्द सेन की जन्म तथा मृत्यु की निश्चित तिथि का ज्ञान न होने पर भी उनके जीवन-वृत्त से स्पष्ट होता है कि कविकर्णपूर को ऐसा पारिवारिक वातावरण मिला था जो भक्ति भावना से आप्लावित था। घर से उन्हें ऐसे अच्छे संस्कार मिले थे जिसके फलस्वरूप उनकी प्रतिभा पूरी तरह से विकसित हो सकी थी।

कविकर्णपूर- जन्म काल

शिवानन्द सेन चैतन्य से आयु में पर्याप्त बड़े थे। अनेकों वर्षों तक वे महाप्रभु के दर्शन के लिए नीलाचल जाते रहे थे। कविकर्णपूर ने भी अपनी शैशवावस्था में महाप्रभु के दर्शन किए थे तथा उनकी कृपा-दृष्टि प्राप्त की थी। स्पष्ट है कि कविकर्णपूर का जन्म श्रीचैतन्य के इहलीला संवरण (1533 ई०)[5] से पूर्व हो चुका था[6]। वस्तुतः कविकर्णपूर ने अपनी कृतियों में अपना बहुत ही कम परिचय दिया है। अतः उनका जन्मकाल विद्वानों के लिए विवादास्पद विषय बन गया है। इस कारण से कुछ अन्तः तथा बाह्य साक्ष्यों के आधार पर ही उनकी जन्म-तिथि को निर्धारित करने का प्रयास किया जा रहा है।

चैतन्यदेव की लीला-संवरण की तिथि कर्णपूर के जन्मकाल की अन्तिम सीमा है। अन्तःसाक्ष्यों के अन्तर्गत कर्णपूर की रचनाओं की रचना-तिथि को लिया जा रहा है। कवि की प्रथम रचना के रूप में 'आर्याशतक' का उल्लेख किया जाता है जो आज अनुपलब्ध

---

1 पितरं श्रीशिवानन्दं सेनवंश-प्रदीपकम्। वन्देऽहं परया भक्त्या पार्षदाग्रं महाप्रभोः। गौ०ग०दी०, 4

2 .....भुवि निवसति तस्यापत्यमेकं कनीयः। कर्णपूर, चै०च० (काव्य), 20/46

3 चैतन्यदास रामदास आर कर्णपूर। शिवानन्देर तिन पुत्र बन्दिब प्रचुर। साधककण्ठभूषण, पृ० 16

4 जगद्‌बन्धु की मान्यता यह है कि वस्तुतः काञ्चड़ापाड़ा में शिवानन्द की ससुराल थी, अपना घर नहीं। द्रष्टव्य-जगद्‌बन्धु भद्र की उद्धृत उक्ति, गौ०प०त०, पृ० 249

5 S.K. De, VFM, P. 102.

6 इस सन्दर्भ में कई भ्रांति मूलक धारणायें भी उपस्थित हैं। यथा कर्णपूर को चैतन्य का समसायिक ही नहीं वरन् उनका पूर्ववर्ती भी माना गया है। Kavi Karnapura who flourished much earlier than the period of Cai tanya...P.K. Gode, Date of Sridhara Svamin etc. ABORI XXX Pt. 3-4, 1949. pp. 280-281

है। उनकी उपलब्ध रचनाओं में प्राचीनतम ग्रन्थ 'चैतन्यचरितामृत' महाकाव्य है जिसका रचना काल 1542 ई० है। लेखक ने यह तिथि स्वयं अपने काव्य में दी है[1]। कर्णपूर के कथनानुसार यह महाकाव्य उनकी शिशु-अवस्था की रचना है। महाकाव्य का रचनाकाल 1542 ई० स्वीकार करने का अभिप्राय यह है कि प्रस्तुत ग्रन्थ चैतन्य के तिरोधान (1533 ई०) के नौ वर्ष पश्चात् लिखा गया था। शिशु-अवस्था की रचना कहने पर भी यह स्पष्ट है कि कितना भी प्रतिभासम्पन्न लेखक क्यों न हो, बिल्कुल शैशव में इस प्रकार का काव्य लिखना असम्भवप्रायः है। अतः उस समय कर्णपूर की आयु अधिक नहीं तो पन्द्रह-सोलह वर्ष की अवश्य रही होगी। दे महोदय ने उक्त महाकाव्य की एक पाण्डुलिपि (संख्या 2389) का, जो ढाका विश्वविद्यालय में है, उद्धरण दिया है। उस लिपि के लिपिकर विष्णुदास ने लिखा है कि कविकर्णपूर ने सोलह वर्ष की आयु में उक्त काव्य की रचना की[2]। तदनुसार कर्णपूर का जन्म 1542-16=1526 ई० में निश्चित होता है परन्तु बाह्य साक्ष्य के रूप में गृहीत, कविकर्णपूर के पश्चाद्वर्ती तथा बंगला चैतन्य-चरितकारों में श्रेष्ठ कृष्णदास कविराज द्वारा प्रस्तुत उल्लेखों के साथ इस तिथि का सामञ्जस्य होना आवश्यक है। कृष्णदास के अनुसार श्री चैतन्य के प्रथम दर्शन के समय महाप्रभु ने अपना पैर कर्णपूर के सिर पर रखा था तथा अपना पदांगुष्ठ उनके मुंह में डाला था[3]।

अंगूठा चूसने के वर्णन से स्वाभाविकतया यह भ्रान्ति हो सकती है कि लेखक उस समय नितान्त ही शिशु रहे होंगे परन्तु कविराज ने एक अन्य उक्ति द्वारा इस भ्रम को दूर कर दिया। एक अन्य सन्दर्भ में कृष्णदास ने इस बात की सूचना दी है कि चैतन्य के साथ कर्णपूर का प्रथम साक्षात् उसी वर्ष हुआ था जिस वर्ष शिवानन्द सेन के भान्जे श्रीकान्त रूठकर, अपने मामा का साथ छोड़कर, पहले ही चैतन्यदेव के पास पहुँच गए थे। कविकर्णपूर के नाटक 'चैतन्यचन्द्रोदय' में वर्णित दशम अङ्क की ऐसी ही एक घटना से कृष्णदास के कथन का समर्थन हो जाता है। नाटक के अनुसार श्रीकान्त अपने मामा से अनुमति लेकर सबसे पहले ही महाप्रभु के पास पहुँच जाते हैं। वहाँ के कथोपकथन में चैतन्य को सूचित करते हैं कि उस विशेष वर्ष उनके मामा के दो पुत्र महाप्रभु के दर्शन के

---

[1] वेदा रसाः श्रुतय इन्दुरिति-प्रसिद्धे शाके तथा खलु शुचौ शुभगे च मासि।
वारे सुधा किरणनाम्न्यसितद्वितीया- तिथ्यन्तरे परिसमाप्तिरभूदमुष्य।
कर्णपूर, चै०च० (काव्य), 20/49

[2] S.K. De, VFM, p. 43, footnote

[3] शिवानन्द जबे सेइ बालक मिलाइला। महाप्रभु पदाङ्गुष्ठ तार मुखे दिला। चै०च०, अन्त्य, 12, पृ० 553

लिये नीलाचल आ रहे हैं। उसी अवसर पर इस बात की भी सूचना दी जाती है कि उनमें से छोटा पुत्र अब तक चैतन्य-चरणों के दर्शन का भागी नहीं बना है[1]। यह उस कनिष्ठ पुत्र अर्थात् कविकर्णपूर का प्रथम चैतन्य-दर्शन था।

इस प्रसङ्ग में कर्णपूर ने अपनी उस समय की आयु का यद्यपि कोई प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं किया है तथापि उसी दशमाङ्क के एक अन्य वर्णन से लेखक की आयु का कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। चैतन्य महाप्रभु के साथ जब उसी वर्ष नवद्वीप से आए हुए तीर्थयात्रियों का मिलन होता है, उस अवसर पर चैतन्यगत-प्राण शिवानन्द सेन अपने पुत्र (कर्णपूर) को महाप्रभु का परिचय देते हुए कहते हैं-

शिवानन्द :- (स्वतनयं प्रति सर्वाश्रावयित्वा) पश्य पश्य अयमयम्।
विद्युद्दामद्युतिरतिशयोत्कण्ठकण्ठीरवेन्द्र क्रीडागामी कनकपरिघद्राघिमोद्यामबाहुः।
सिंहग्रीवो नवदिनकरद्योतविद्योतिवासा : श्रीगौराङ्गः स्फुरति पुरतो वन्द्यतां वन्द्यतां भोः। [2]

यह चैतन्य-स्तवन कोई पिता (कितना भी अन्ध-भक्त क्यों न हो) अपने दूध पीते, अंगूठा चूसते पुत्र को सुनायेगा, ऐसी बात बुद्धि ग्रहण नहीं करती है। उस समय उस शिशु की आयु अधिक नहीं तो, कम से कम पाँच-छः वर्ष की अवश्य रही होगी। शङ्का स्वाभाविक रूपेण उठ सकती है कि यदि कर्णपूर प्रथम दर्शन के समय पांच छः वर्ष के शिशु थे तो कविराज द्वारा वर्णित अंगूठा-चूसने की घटना की सार्थकता कहां है। वास्तव में इस अंगूठा-चूसने की घटना की जो व्याख्या विश्वनाथ चक्रवर्ती ने 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' की 'सुखवर्त्तनी' टीका में की है, वही उचित प्रतीत होती है। तदनुसार नीलाचल-आए हुए शिवानन्द के आवास पर एक दिन महाप्रभु कतिपय सहचरों के साथ पहुँचे। शिवानन्द सेन ने सादर उनकी चरण वन्दना की। उनके पाँच-छः वर्षीय पुत्र कर्णपूर अपने पिता द्वारा की गई वन्दना को देख रहे थे। महाप्रभु ने कृपापूर्वक उस बालक के मस्तिष्क पर अपने चरण रख दिए . बचपने के कारण बालक ने मुँह खोल दिया तो महाप्रभु ने कौतुकवश उसके मुख में अपना अंगूठा डाल दिया तथा बालक ने अपने सौभाग्यवश तथा चैतन्य की कृपावश उस चरणाङ्गुष्ठ का आस्वादन किया[3]। इस व्याख्या से कृष्णदास द्वारा उल्लिखित घटना तथा नाटक की घटनाओं में कोई विरोध अवशिष्ट नहीं रहता है और स्पष्ट हो जाता है कि चैतन्य से प्रथम मिलन के समय कविकर्णपूर की आयु पाँच-छः वर्ष की रही होगी। इस आयु को मानने का एक अन्य कारण कृष्णदास द्वारा किया गया यह उल्लेख भी है कि प्रथमोक्त घटना के एक दो वर्ष अनन्तर फिर किसी वर्ष नवद्वीप के यात्रा-दल के साथ कर्णपूर के नीलाचल जाने पर महाप्रभु द्वारा कुछ पढ़ने का आदेश दिए जाने पर बालक

[1] पृ० 183-185

[2] वही, पृ० 186

[3] द्र० पृ० 3

कर्णपूर ने कृष्ण की स्तुति में एक श्लोक की तत्क्षण रचना कर दी। उसी प्रसङ्ग में कृष्णदास कविराज ने कर्णपूर की तत्कालीन आयु मात्र सात वर्ष की बताई है[1]। यह घटना चैतन्य महाप्रभु के तिरोधान से पूर्व की तो है परन्तु एक वर्ष अथवा दो वर्ष पूर्व की, यह निश्चितरूपेण नहीं कहा जा सकता है[2]। अनुमानतः यदि कर्णपूर 1533 ई० से दो वर्ष पूर्व अर्थात् 1531 ई० में सात वर्ष के बालक रहे हों तो उनका जन्म 1524 ई० में मानना उचित है। अधिकतर विद्वानों ने इसी तिथि को स्वीकार किया है[3]। इस आधार पर 'चैतन्यचरितामृत' की रचना के समय कर्णपूर अट्ठारह वर्ष के थे परन्तु पूर्वोल्लिखित ढाका की पाण्डुलिपि के अनुसार लेखक उस समय सोलह वर्ष के थे। तदनुसार 1524 ई० के स्थान पर 1526 ई० को कर्णपूर का जन्मकाल मानना चाहिए। डी०सी० सेन महोदय ने यह तिथि 1527 ई० स्वीकार की है[4]। वस्तुतः विश्वनाथ चक्रवर्ती ने कर्णपूर के प्रथम साक्षात्कार को पाँच छः वर्ष की आयु की घटना माना है। इस काल में तथा कृष्णदास कविराज ने जहाँ कर्णपूर को सात वर्ष का बालक कहा है, इन दोनों उक्तियों में ही कोई तिथि आदि सहित ऐतिहासिक उल्लेख नहीं हुआ है। चक्रवर्ती महोदय ने जहाँ सामान्य ज्ञान के आधार पर वह आयु सीमा निर्धारित की है तो कृष्णदास कविराज का कथन कवि की उक्ति मात्र है। अतः इसमें एकाध वर्ष के आगे पीछे होने की पूरी सम्भावना है। इसके अतिरिक्त चैतन्य महाप्रभु के 'तिरोधान' वर्णन के विषय में सभी चरितकार प्रायः मौन हैं। उनके नीलाचल-वास काल में प्रायः बीस बार बंगाल से शिवानन्द के साथ यात्रीदल नीलाचल आए थे। इनमें से कविकर्णपूर के साथ किन दो विशेष वर्षों में चैतन्य-देव का साक्षात् हुआ था इसका भी कोई निश्चित प्रमाण नहीं मिलता है। चैतन्य-चरितकाव्यों के अनुसार अन्तिम कतिपय वर्षों में चैतन्यदेव प्रेमोन्माद अवस्था में रहते थे परन्तु किसी भी प्रामाणिक लेखक ने इसका विस्तृत वर्णन नहीं किया है। अतः सुनिश्चित रूप से यह भी नहीं कहा जा सकता है कि चैतन्य महाप्रभु अपने तिरोधान से पूर्व के वर्ष में अथवा उसी वर्ष में कवि कर्णपूर से अन्तिम बार मिले थे तथा उनसे स्वरचित श्लोक सुना था। ऐसी सन्देहास्पद स्थिति में कविकर्णपूर का जन्म 1524 ई० में ही हुआ था, यह कहना उचित नहीं होगा। हाँ, यह कहा जा सकता है कि 1524

[1] सात वत्सरेर शिशुर नाहि अध्ययन। ऐछे श्लोक करे लोकेर चमत्कार मन। चै०च०, अन्त्य, 16, पृ० 588

[2] वि०वि० मजुमदार, चै०च०उ०, पृ० 97

[3] R.L. Mitra, ed. CC. (Drama) Intro. वि०वि० मजुमदार तथा एस०के०दे० ने भी इसी मत को उद्धृत किया।

[4] VLMB, p. 72

ई० से 1527 ई० तक के मध्य में किसी वर्ष कवि कर्णपूर का जन्म हुआ था, इसमें कोई सन्देह नहीं है[1]।

नामकरण

कविकर्णपूर की अपनी रचनाओं तथा परवर्ती कवियों की रचनाओं के आधार पर उनका नाम कर्णपूर तथा परमानन्ददास ज्ञात होता है। लेखक ने 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक में अपना नाम परमानन्ददास बताया है[2]। 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' के आरम्भ में उन्होंने 'कर्णपूर' नाम का प्रयोग किया है[3]। इसके अन्त में भी 'कविकर्णपूर' नाम का उल्लेख हुआ है[4]। 'गौरगणोद्देशदीपिका' में 'परमानन्ददास' नाम का उल्लेख मिलता है[5]। 'कृष्णाह्निक-

1 कविकर्णपूर के इस जन्म-समय के विषय में विद्वानों में मतैक्य तो है ही नहीं अपितु उनका अत्यधिक मत विरोध है। मृणालकान्ति घोष (गौरपदतरङ्गिणी-भूमिका भाग) के अनुसार कर्णपूर ने चैतन्यचन्द्रोदय नाटक के अन्तिम तीन श्लोकों में चैतन्य-गोष्ठी में सहवास करने का वर्णन किया है। चैतन्य तिरोधान के कुछ वर्षों के अन्तराल में अद्वैताचार्य को छोड़कर शेष प्रायः सभी प्रधान भक्तों ने चैतन्य का अनुसरण किया-यह प्रायः ऐतिहासिक सत्य है। यदि चैतन्य-तिरोधान के समय कर्णपूर की आयु आठ वर्ष की रही हो तो कर्णपूर ने चैतन्य-पार्षदों का सहवास तथा इष्ट-गोष्ठी का अनुभव कब किया होगा? अतः यह मानना उचित है कि चैतन्य अप्रकट काल में कर्णपूर की आयु तदपेक्षा अधिक रही होगी। घोष महाशय ने उस समय कर्णपूर की ठीक आयु कितनी रही होगी, इसका उल्लेख नहीं किया है।

इसके विपरीत राधागोविन्दनाथ (चैतन्यचरितामृत-भूमिका) का मत यह है कि चैतन्य-तिरोभाव के समय कर्णपूर की आयु सत्रह-अट्ठरह वर्ष से अधिक नहीं रही होगी। आदि तथा मध्य लीला के समय उनका जन्म ही नहीं हुआ था। अन्त्य लीला के प्रारम्भ में उनका जन्म हुआ होगा। अन्त्य लीला के प्रथम छः वर्ष की चैतन्य-लीलाओं का उन्होंने साक्षात्कार भी किया होगा। इसके अतिरिक्त (चैतन्य चरितामृत महाकाव्य के अनुवादक, मुर्शिदाबाद, बहरमपुर संस्करण) रामनारायण विद्यारत्न का विचार है कि कर्णपूर रचित प्रस्तुत महाकाव्य का अवलोकन स्वयं महाप्रभु ने किया था। इन विचारों को देखने से कर्णपूर का जन्म 1515-1516 ई० के आसपास ठहरता है परन्तु यह तिथि स्वीकार करना उचित प्रतीत नहीं होता है। नाटक के अन्तिम श्लोकों में वर्णित इष्ट-गोष्ठी के सदस्यों से कर्णपूर का लक्ष्य सम्भवतः चैतन्य-भक्त तथा प्रत्यक्षदर्शियों से रहा होगा।

2 'शिवानन्दसेनस्य तनुजेन निर्मितं परमानन्ददासकविना'। नाटक, पृ० 3

3 आनन्दवृन्दावननामधेयां' चम्पूमिमां कृष्णचरित्रचित्राम्। मनोविनोदाय रसग्रहाणां चक्रे स्वमोदाय च।। कर्णपूरः। 1/15

4 चम्पूमिमां रचितवान् कविकर्णपूरः। वही, 22/52

5 नाम्ना श्रीपरमानन्ददासः.....। 5

कौमुदी' नामक अपने काव्य में लेखक ने अपने दोनों नामों का उल्लेख किया है[1]। इसी प्रकार पश्चाद्वर्ती काव्यों[2] में दोनों नामों का ही उल्लेख मिलता है। 'कविकर्णपूर' लेखक का अपना नाम न होकर उपाधि प्रतीत होता है। मजुमदार महोदय के अनुसार 'कविरत्न', 'कविशेखर' के समान 'कर्णपूर' भी उपाधि है। उनकी मान्यता है कि 'श्रीमद्भागवत' के 'हरेर्मुहुस्तत्पर-कर्णपूर-गुणाभिधानेन'[3] अर्थात् श्रीहरि के भक्त समूह के कर्णपूर अर्थात् कर्णालङ्कार स्वरूप श्रीहरि की गुणावली के बारम्बार सङ्कीर्तन इत्यादि......' इस पंक्ति में प्रयुक्त 'कर्णपूर' पद को देखकर ही लेखक को 'कर्णपूर' की उपाधि से विभूषित किया गया था[4]। कृष्णदास कविराज के 'चैतन्यचरितामृत'[5] के अनुसार श्रीमन्महाप्रभु के द्वारा आदिष्ट होने पर सप्तवर्षीय बालक ने आर्याछन्द में प्रस्तुत श्लोक का उच्चारण किया- **'श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम'** इत्यादि। इसमें श्रीकृष्ण भगवान् का कानों के कुवलय अथवा कर्णपूर के रूप में वर्णन सुनकर आह्लादित चैतन्यदेव ने उसके रचयिता को कर्णपूर की उपाधि से विभूषित किया। 'कर्णपूर' उपाधि के पीछे अधिकतर विद्वान् इसी किम्वदन्ती को अङ्गीकार करते हैं[6]। 'प्रेम विलास' के अनुसार तो कर्णपूर की उपाधि कविराज थी[7]। 'कर्णपूर' उपाधि-धारी कवि का नाम परमानन्ददास है। इस नाम के पीछे भी चैतन्य-देव से सम्बन्धित कथा का उल्लेख कृष्णदास कविराज ने किया है। शिवानन्द सेन अपने संरक्षण में नवद्वीप-वासी भक्तजनों को प्रायः प्रत्येक वर्ष नीलाचल में रथोत्सव से पूर्व ले जाया करते थे। ये गौड़ीय-भक्त सामान्यतः तीर्थक्षेत्र जगन्नाथपुरी में जाकर चातुर्मास्य व्रत का पालन करते हुए अत्यन्त संयमपूर्वक रहा करते थे। एक वर्ष पुरीवास की अवधि में ही शिवानन्दसेन की पत्नी गर्भवती हो गई। चैतन्य-महाप्रभु को जब इस बात की सूचना मिली तो उन्होंने शिवानन्दसेन से परिहास करते हुए कहा, 'इस बार तुम्हारा जो पुत्र होगा, उसका नाम तुम पुरीदास रखना', तब शिवानन्द के

[1] पृ० 343-344

[2] एइत प्रस्तावे श्रीकविकर्णपूर। रघुनाथ-महिमा ग्रन्थे लिखिला प्रचुर।।
चै०च०, अन्त्य, 6, पृ० 500

[3] 4/22/25

[4] द्र०वि०वि० मजुमदार, चै०च०उ०, पृ० 95

[5] अन्त्य, 16, पृ० 587

[6] पद्ये चास्मिन् श्रवसोः कुवलयमिति प्रथममेव कर्णाभरणार्थवाचक विशेषणसंनिवेशाच्चैतन्यमहाप्रभुः 'कविकर्णपूरः' इति नाम्ना प्राख्यापयदेनमिति किंवदन्ती।
चै०च० नाटक (निर्णय सागर प्रेस), भूमिका, पृ०1

[7] 'कर्णपूर कविराज' 31- प्रेमविलास. 20 वां विलास, पृ० 348

घर वापस जाने पर पुत्र का जन्म हुआ, प्रभु की आज्ञा से उसका परमानन्ददास नाम रखा गया। 'प्रभु' पुरीदास कहकर उसका उपहास किया करते थे[1]। यही शिवानन्द के कनिष्ठ पुत्र परमानन्ददास कविकर्णपूर हुए जिनका स्पष्ट नामोल्लेख कृष्णदास ने अन्यत्र इस प्रकार किया-छोटे बेटे को देखकर प्रभु ने नाम पूछा। सेन ने उसका नाम परमानन्ददास बतलाया[2]।

यद्यपि 'कविकर्णपूर' ने अपनी किसी भी कृति में अपने 'पुरीदास' नाम का उल्लेख प्रत्यक्ष रूप से नहीं किया है तथापि उनके नाटक में एक सङ्केत ऐसा मिलता है जिससे यह ज्ञात होता है कि शिवानन्द सेन के इस पुत्र को परमानन्दपुरी के दास रूप में स्वीकृति मिली थी। 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक के दशम अङ्क में जब शिवानन्द सेन का भागिनेय श्रीकान्त पहले आकर अपने मातुल के पुत्रों की, विशेष कर छोटे पुत्र की, नीलाचल आने की सूचना देते हैं, उस समय महाप्रभु अपने समीपस्थ पुरीश्वर को बताते हैं, 'हे स्वामी, यह आपका दास है'[3]। विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार शिवानन्द-तनय का नाम पुरीदास इसी कारण रखा गया था क्योंकि वे परमानन्द पुरी की कृपा से पुरुषोत्तम क्षेत्र 'पुरी' में हुए थे[4]।

ऊपर वर्णित तीनों नामों के होने पर भी लेखक 'कविकर्णपूर' के नाम से ही अधिक

---

[1] एबार तोमार जेइ होइबे कुमार। पुरीदास बलि नाम धरिह ताहार।।
तबे मायेर गर्भे हय सेई तो कुमार। शिवानन्द घरे गेले जन्म हइल तार।।
प्रभु-आज्ञाय धरिल नाम परमानन्ददास। 'पुरीदास' करि प्रभु करे उपहास।।
चै०च०, अन्त्य, 12, पृ० 553

[2] छोट पुत्र देखि प्रभु नाम पुछिल। परमानन्ददास नाम सेन जानाइल।। वही, अन्त्य, 12, पृ० 553
इस सन्दर्भ में विमान विहारी मजुमदार का वक्तव्य यह है कि श्रीचैतन्य के साम्प्रदायिक धर्म की स्थापना तथा प्रचार करने के लिये चैतन्य के प्राचीन चरितकारों मुरारि तथा कर्णपूर के कतिपय तथ्यों का निषेध करना आवश्यक हो गया था परन्तु इनके ग्रन्थों की उपेक्षा सम्भव न थी। अतएव किसी-किसी वैष्णव ने इस प्रकार की एकाध कहानियों की रचना की थी जिससे इन लोगों के प्रति जन-सामान्य की श्रद्धा कम हो जाये। 'पुरीदास' नाम इस प्रकार की ही एक कहानी है। द्र० मजुमदार, चै०च०उ०, पृ० 103

[3] श्रीकान्तः-कनीयांस्तु य सोऽदृष्टश्रीचरणः। महाप्रभुः - (पुरीश्वरं प्रति) स्वामिन् तव दासः। पृ० 185

[4] 'श्रीमत्परमानन्दपुरीप्रसादात् पुरुषोत्तमक्षेत्रजातत्वात् पुरीदासनामानमेतत्।' आ०वृ०च०, (सुखवर्त्तनी टीका), 1/5।

प्रसिद्ध हैं[1]। वैष्णव-साहित्य एवं सम्प्रदाय में उनका कर्णपूर नाम ही प्रचलित है, अतः वैष्णव वन्दना आदि में इसी नाम से उनकी स्तुति की गई है[2]।

कविकर्णपूर के गुरु

कविकर्णपूर के दीक्षागुरु का नाम श्रीनाथ है। 'श्रीचैतन्यचन्द्रोदय' नाटक के प्रारम्भ में उन्होंने अपने गुरु का स्मरण किया है, 'श्रीनाथेनानुगृहीतेनतस्यैव भगवतोऽवतो..... श्रीकृष्णचैतन्यस्य प्रियपार्षदस्य शिवानन्दसेनस्य तनुजेन निर्मितम्....[3]।' 'आनन्दवृन्दावन' चम्पू के प्रारम्भिक श्लोकों में से एक में उन्होंने अपने इन्हीं गुरु श्रीनाथ को नमन किया है[4]। चम्पू के अन्तिम श्लोक में श्रीनाथ का फिर स्मरण किया है।

अपने गुरु श्रीनाथ के प्रति सश्रद्ध प्रणति ज्ञापन करने के अतिरिक्त कविकर्णपूर ने स्थल-स्थल पर श्रीनाथ का कुछ परिचय भी दिया है। 'गौरगणोद्देशदीपिका' के अनुसार 'श्रीनाथ पूर्व के ज्ञानी भक्त सनन्दन' थे[5]। इन्होंने 'श्रीचैतन्यमतमञ्जुषा' नामक 'श्रीमद्भागवत' की एक टीका भी लिखी थी। कर्णपूर ने अपने चम्पू में इस टीका की प्रशंसा की है[6]। कविकर्णपूर ने अपने 'अलङ्कारकौस्तुभ' में इसी 'चैतन्यमतमञ्जुषा' से उद्धरण भी दिया है[7]। श्रीनाथ ने अपनी इस टीका के प्रारम्भ में स्पष्ट कर दिया है कि यह टीका श्रीचैतन्य के मतानुसार रचित है। इस सन्दर्भ में मजुमदार महोदय का विचार है कि श्री चैतन्य 'श्रीमद्भागवत' के श्लोकों को उद्धृत करके अनेकधा अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करते थे तथा अन्तरङ्ग बान्धवों के साथ वार्तालाप करते थे। श्रीनाथ तथा सनातन गोस्वामी ने चैतन्य के मत का अवलम्बन करके क्रमशः 'चैतन्यमतमञ्जुषा' तथा 'वैष्णवतोषणी'

---

1 पश्चाद्वर्ती साहित्य में कर्णपूर नाम का उपयोग बाहुल्य से किया गया है यथा (अ) 'कर्णपूर कविराज', प्रेमविलास, 20 पृ० 348 (ब) एइ त प्रस्तावे श्रीकविकर्णपूर.....। चै०च०, अन्त्य, 6, पृ० 500 (स) कविकर्णपूर नामे हैला तिहँ ख्यात। ईशान नागर, अद्वैत प्रकाश, पृ० 42

2 कविकर्णपूर भकतेर सूर। साधक कण्ठभूषण, पृ० 41

3 श्रीजीवानन्दविद्यासागर भट्टाचार्य महोदय ने प्रस्तुत प्रसङ्ग में श्रीनाथ से अभिप्राय नारायण अथवा प्रतापरुद्र राजा लिया है-'श्रीनाथेन नारायणेन वा राज्ञा प्रतापरुद्रेण'। नाटक, पृ० 7 (प्रकाशक-जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता)

4 गुरुं नः श्रीनाथाभिधमवनिदेवान्वयविधुम्.... 1/5

5 107-108

6 गुरुं नः श्रीनाथाभिधमवनिदेवान्वयविधुं नुमो भूषारत्नं भुव इव विभोरस्य दयितम्।
यदास्यादुन्मीलन्निरवकरवृन्दावनरहः कथास्वादं लब्ध्वा जगति न जनः क्वापि रमते।।
आ०वृ०च०, 1/5

7 पृ० 126-128

की रचना की है। इन दोनों को मिलाकर पढ़ने से श्रीचैतन्य की वास्तविक विचार-धारा का बोध हो सकता है[1]। श्रीचैतन्य के साथ श्रीनाथ के अन्तरङ्ग सम्बन्ध का ज्ञान कवि के नाटक से होता है जहाँ अपरिचित श्रीनाथ की आगमन वार्ता से ही चैतन्य स्वयं उसे प्रेम डोर में बाँधने का निश्चय करते हैं, साथ ही स्वरूप तथा पुरीश्वर को भी श्रीनाथ के साथ सद्भाव-स्थापन का निर्देश देते हैं[2]। श्रीनाथ की लोकप्रियता की सूचना भी नाटककार देना नहीं भूलते हैं[3]। अद्वैताचार्य के साथ श्रीनाथ का स्नेह सम्पर्क ही नहीं था वरन् वे श्रीनाथ के गुरुवत् भी थे। अतएव अद्वैताचार्य प्रतिदिन नीलाचल में गौराङ्ग की पूजा के लिये जाने के समय श्रीनाथ की सहायता लेते थे[4]। श्रीनाथ पण्डित का उल्लेख कृष्णदास कविराज ने भी अपने काव्य में किया है[5]। कवि कर्णपूर का अपने गुरु के प्रति अत्यधिक श्रद्धा तथा आदर का भाव था अतः स्वयं प्रकाण्ड पण्डित होने पर भी वे पूर्ण विनम्रता के साथ यही स्वीकार करते हैं कि श्रीनाथ के चरण-कमलों की स्मृति से ही उनकी बुद्धि शुद्ध हुई है[6]। इससे अपने गुरु श्रीनाथ के प्रति कर्णपूर की भक्ति-भावना स्पष्ट होती है[7]।

'चैतन्यचरितामृत' में कृष्णदास कविराज ने एक महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख किया है। तदनुसार किसी एक वर्ष शिवानन्द सेन स्त्री, पुत्र सहित पुरीधाम पहुँचे। वहाँ श्रीचैतन्य के पास जाने पर महाप्रभु ने छोटे बालक कर्णपूर से कृष्ण नाम लेने को कहा। बारम्बार कहने पर भी बालक ने कृष्ण नाम का उच्चारण नहीं किया। इस पर महाप्रभु ने आश्चर्य व्यक्त करते हुए कहा कि 'मैंने संसार में सबसे कृष्ण नाम का उच्चारण करवाया है, यहाँ तक कि स्थावर पदार्थों से भी परन्तु इस बालक के समक्ष मैं असमर्थ हो गया हूँ।' इस पर स्वरूप गोस्वामी ने स्पष्टीकरण दिया कि 'आपने इसे कृष्ण-नाम का उपदेश

[1] मजुमदार, चै०च०उ०, पृ० 96

[2] नाटक, पृ० 184

[3] कश्चिदखिलजनप्रियः श्रीनाथ नामा। वही, पृ० 184

[4] वही, पृ० 194

[5] श्रीनाथ पण्डित प्रभुर कृपार भाजन। जाँर कृपासेवा देखि वश त्रिभुवन......।
चै०च०, आदि, 10, पृ० 50

[6] श्रीनाथपादकमल-स्मृति-शुद्ध-बुद्धि........। आ०वृ०च०, 22/52

[7] कृष्णमाचारी महाशय ने कर्णपूर को जीव गोस्वामी के शिष्य के रूप में उल्लिखित किया है। (M.Krishnamachariar, ECSL, p. 289) परन्तु कर्णपूर की गौरगणोद्देशदीपिका के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं भी जीवगोस्वामी का वर्णन नहीं किया गया है जबकि श्रीनाथ का अनेक बार सश्रद्ध स्मरण हुआ है। अतः इस कथन में कोई सार प्रतीत नहीं होता है कि जीवगोस्वामी कर्णपूर के गुरु थे।

दिया है। मैं यह अनुमान करता हूँ कि आपसे मन्त्र-ग्रहण करके यह बालक किसी के समक्ष उसका प्रकाश नहीं कर रहा है, वरन् मन ही मन में उसका जाप कर रहा है[1]।' कृष्णदास के प्रस्तुत उपाख्यान को उद्धृत करते हुए विश्वनाथ चक्रवर्ती ने अपना मत व्यक्त किया है कि वस्तुतः श्रीकृष्णचैतन्य स्वयं ही कविकर्णपूर के दीक्षा गुरु हैं। उन्हीं की आज्ञा से उनका दूसरे गुरु अथवा श्रीनाथ का आश्रय ग्रहण करना सम्भव हुआ है। अपने अभीष्ट मन्त्र का स्वयं उपदेश देने पर भी लोकरीति का पालन करने के लिए ही श्रीनाथ पण्डित द्वारा पुनः मन्त्र-ग्रहण भी करवाया गया है[2]। कहने का अभिप्राय यही है कि कविकर्णपूर के लौकिक गुरु श्रीनाथ पण्डित हैं तथा पारमार्थिक गुरु स्वयं श्रीकृष्णचैतन्य।

कवित्व शक्ति-प्रकाश

कवि-कर्णपूर उच्च-कोटि के कवि हैं। उनकी काव्य-प्रतिभा जहाँ उनके अपने संस्कारों से प्रस्फुटित हुई थी तथा कवि पिता शिवानन्द सेन के साहचर्य से विकसित हुई थी वहीं इस कवि-प्रतिभा के साथ भी एक चमत्कारपूर्ण कथा जुड़ी हुई है। तद्नुसार सात वर्ष के बालक से, जिसका चैतन्यदेव द्वारा पूर्वोक्त मन्त्रदान हो चुका था, चैतन्यदेव ने कुछ पढ़ने के लिए कहा। उस पर उस शिशु ने श्रीकृष्ण की स्तुति में प्रस्तुत श्लोक सुनाया,

श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनतरुणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति।।[3]

श्रीकृष्णदास के अनुसार तो सात वर्ष का बालक जो अध्ययनादि नहीं करता, उसके द्वारा श्लोक-रचना लोगों को आश्चर्यचकित करने वाली थी[4]। 'सुखवर्त्तनी' में विश्वनाथ चक्रवर्ती इस काव्य रचना-सामर्थ्य को श्री चैतन्य का ही कृपा संचार मानते हैं। उनकी मान्यता है कि महाप्रभु ने अपना अंगुष्ठ पान करवाते हुए उस बालक में अलौकिक काव्य रचना की शक्ति को सञ्चारित कर दिया था। महाप्रभु ने इसके साथ ही बालक को आशीर्वाद दिया था, 'वत्स, तुम इसका यथेच्छ आस्वादन करके अलौकिक काव्य शक्ति

---

[1] अन्त्य, 16, पृ० 587

[2] '.....ततः सन्तुष्टेन भगवता कविकर्णपूर इति नाम तद्दिनमारभ्य कृतवता तदभीष्टमन्त्रराजमपि हृदैव स्वयमुपदिश्यापि लोकरीतिख्यापनाय समये श्रीनाथपण्डितद्वारापि पुनरसावुपदिदिश इति।' आ०वृ०च०, सुखवर्त्तनी टीका, पृ० 3

[3] चै०च०, अन्त्य, 16, पृ० 587

[4] आर दिन कहे प्रभु-पढ़ पुरीदास। एई श्लोक करि तेहो करिला प्रकाश
श्रवसोः कुवलयमित्यादि...... सात वत्सरेर शिशुरनाहि अध्ययन।
ऐछे श्लोक करे लोकेर चमत्कार मन।। वही, अन्त्य, 16, पृ० 587-588।

को प्राप्त करो तथा इस देवदुर्लभ अमृत को भविष्य के सम्पूर्ण भक्तजनों में वितरित करो[1]।' परम्परा ने इस कथा को पूर्ण आस्था से ग्रहण किया तथा कर्णपूर की कवित्व शक्ति का उत्स श्रीचैतन्य की कृपा को ही स्वीकार किया[2]। एक छोटे से शिशु से सम्बद्ध इस कथा की कोई ऐतिहासिकता अथवा सार्थकता चाहे हो या नहीं परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि कर्णपूर की असाधारण अकालपक्व साहित्यिक देन ही सम्भवतः इस कथा के उद्भव का हेतु रही होगी[3]। कठिन आर्या छन्द में रचित कर्णपूर का यह प्रथम श्लोक सम्भवतः उनके अनुपलब्ध ग्रन्थ आर्याशतक की आरम्भिक नमस्क्रिया के रूप में प्रयुक्त हुआ हो[4]। अधुना यह कर्णपूर-रचित 'अलङ्कारकौस्तुभ' की अष्टम किरण में माला-रूपक के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है[5]। आर्या-छन्द के इस श्लोक के साथ 'चैतन्यचन्द्रोदय' के दशम अङ्क में शिवानन्दसेन द्वारा पढ़ा गया चैतन्य का स्तुतिपरक श्लोक 'विद्युद्दाम.....(10,7)' को भी कर्णपूर की शैशवावस्था की रचना के रूप में कुछ विद्वान् स्वीकार करते हैं[6]।

ऊपर-वर्णित घटना का ऐतिहासिक प्रमाण न मिलने पर भी, यह निस्सन्दिग्ध है कि महान् काव्य-प्रतिभासम्पन्न कवि कर्णपूर अपनी काव्य-सरिता का उद्गम श्रीचैतन्य की करुणा को ही स्वीकार करते हैं। अपनी पाण्डित्य-पूर्ण कृति 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' के अन्त में उन्होंने अपनी वाग् विभूति को चैतन्यकृष्ण की करुणा के प्रसाद के रूप में स्वीकार किया है, 'चैतन्यकृष्णकरुणोदितवाग्विभूतिः'[7]। इस कथन को संस्कृत-कवियों का पारम्परिक-विनय प्रदर्शन मात्र समझना सम्भवतः उचित नहीं है क्योंकि अपनी सर्वप्रसिद्ध कृति 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक के अन्त में लेखक ने और भी अधिक स्पष्ट तथा सशक्त शब्दों में अपनी भावना को व्यक्त किया है, 'जिसके उच्छिष्ट प्रसाद से मेरी यह काव्य-रूपी प्रौढ़ता उत्पन्न हुई है, वाग्देवी से ही जो कृतार्थ किया गया है,.....[8]'। प्रस्तुत उद्धरण में जहाँ रचयिता को अपनी काव्य-प्रौढ़ता का तथा भाषा पर अधिकार का

---

[1] आ०वृ०च०, सुखवर्त्तनी टीका, पृ० 3

[2] D.C. Sen, VLMB, pp. 71-74

[3] S.K. De, VFM, p. 43

[4] वही, पृ० 42-43, पादटीका

[5] 8/77

[6] D.C. Sen. VLMB, pp. 72-73

[7] 22/52

[8] यस्योच्छिष्ट प्रसादादयमजनि मम प्रौढिमा काव्यरूपी वाग्देव्या यः कृतार्थीकृत इह समयोत्कीर्त्य तस्यावतारम्।......' पृ० 207।

विश्वास है वहीं अपने अभीष्ट देवता श्रीकृष्णचैतन्य की कृपा पर भी पूर्ण आस्था है। कहने का अभिप्राय यही है कि उन्हें अपने शैशव में प्राप्त श्रीचैतन्य-दर्शन तथा कृपा-कटाक्ष ने पूर्ण-रूपेण आस्थावान् बना दिया था।

कविकर्णपूर-बाल्यकाल एवं पारिवारिक जीवन

कविकर्णपूर के जीवन का जो अंश श्रीचैतन्य के साथ प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से सम्बद्ध है, अन्य लेखकों की कृतियों से उसका पता चलता है परन्तु जहाँ तक उनके व्यक्तिगत जीवन का प्रश्न है, वह अल्पज्ञात है। इनकी शिक्षा-प्राप्ति का कोई स्पष्ट उल्लेख न मिलने पर भी विविध विषयों पर रचित ग्रन्थों के आधार पर उनकी बहुमुखी प्रतिभा तथा अर्जित पाण्डित्य का ज्ञान स्वतः हो जाता है। पश्चाद्वर्ती चरितकाव्य 'अद्वैत प्रकाश' में कहा गया है कि श्रीचैतन्य की कृपा से शिवानन्द के पुत्र कविकर्णपूर का सभी शास्त्रों में अपनी शैशवावस्था में ही पाण्डित्य हो गया था[1]।

उन्हें महाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य के दर्शन तथा कृपा-कटाक्ष प्राप्त करने का सौभाग्य मिला था। समस्त महत्त्वपूर्ण वैष्णव भक्तों का निकट सम्पर्क भी लेखक को मिलता रहा तथा उनकी कृतियों की रचना के लिए वे लोग उनका समय-समय पर पथ-प्रदर्शन भी करते थे, इसकी सूचना 'गौरगणोद्देशदीपिका' से प्राप्त होती है[2]।

कर्णपूर तथा श्रीरूप

केवल गौड़ीय भक्तों का साहचर्य ही नहीं वरन् वृन्दावन के षड् गोस्वामियों में अन्यतम तथा वैष्णव-सम्प्रदाय के विख्यात भक्त और सैद्धान्तिक श्रीरूप गोस्वामी का सम्पर्क भी कविकर्णपूर को प्राप्त हुआ था, इसके भी कतिपय सङ्केत उपलब्ध होते हैं। कविकर्णपूर ने जब गौड़देश में रहते हुए ग्रन्थों की रचना की, प्रायः उसी समय में श्रीमद्रूपगोस्वामी ने वृन्दावन में विविध ग्रन्थों की रचना की। मजुमदार महोदय की मान्यता है कि श्रीरूप तथा श्रीजीव रचित ग्रन्थ सम्भवतः कविकर्णपूर के जीवन-काल में उनके हाथों तक नहीं पहुँचे होंगे जबकि कविकर्णपूर की कोई न कोई कविता श्रीरूप तक अवश्य पहुँची होगी। अन्यथा श्रीरूप अपने 'पद्यावली' नामक सङ्कलन ग्रन्थ में कविकर्णपूर के एक श्लोक[3] को सङ्कलित नहीं कर सकते थे[4] परन्तु कुछ ऐसे सङ्केत भी मिलते हैं जो

---

[1] गौर कृपाय सेन शिवानन्देर नन्दन अतिबाल्ये सर्वशास्त्रे हइल स्फुरण।।
कविकर्णपूर नामे हेला तिहँ ख्यात। ईशान नागर, पृ० 42

[2] पृ० 5

[3] श्यामोऽयं दिवसः पयोदपटलैः सायं तथाप्युत्सुका पुष्पार्थं सखि यासि यामुनतटं याहि यथाकामम्।
किन्त्वेकं खरकण्टकक्षतमुरस्यालोक्य सद्योऽन्यथा शङ्का यत् कुटिलः करिष्यति जातास्मि तेनाकुला।305

[4] द्र० वि०वि० मजुमदार, चै०च०उ०, पृ० 112

दोनों के पारस्परिक परिचय की दृढ़ता को स्पष्ट करते हैं।

(क) प्रथमतः कविकर्णपूर की प्रारम्भिक रचना 'चैतन्यचरितामृत' काव्य से श्रीरूप न केवल परिचित ही थे, वरन् उन्होंने सम्पूर्ण काव्य की स्वयं प्रतिलिपि भी की थी[1]। श्रीरूप की अवश्यमेव कविकर्णपूर तथा उनकी रचना के प्रति पूर्ण आस्था रही होगी तभी उन्होंने अपने व्यस्त जीवन में भी बीस सर्गात्मक काव्य की प्रतिलिपि स्वयं की अन्यथा वे इसकी प्रतिलिपि किसी से करवा भी सकते थे। इस प्रतिलिपि का उल्लेख विष्णुदास नामक एक लिपिकर ने 'चैतन्यचरितामृत' काव्य की लिपि में किया है। उसके अनुसार श्रीरूप ने कविकर्णपूर द्वारा प्रस्तुत महाकाव्य की रचना के केवल तीन वर्ष पश्चात् ही इसकी प्रतिलिपि कर ली थी[2]। इससे कविकर्णपूर के काव्य का परिचय श्रीरूप से कितना पुराना था, इसका बोध होता है।

(ख) कविकर्णपूर के 'आनन्दवृन्दावन चम्पू' के लिए भी ऐसा माना जाता है कि उसे लिखने की प्रेरणा उन्हें रूप गोस्वामी ने दी होगी[3] तथा यह चम्पू श्रीरूप द्वारा समादृत भी हुआ था। यद्यपि इस विषय में कोई ठोस प्रमाण नहीं मिलता है फिर भी इसकी पर्याप्त सम्भावना दृष्टिगोचर होती है क्योंकि श्रीरूप ने स्वयं 'कृष्णलीला' को आधार बनाकर तीन नाटकों की रचना की थी परन्तु 'श्रीमद्भागवत', जो वैष्णवों का आराध्य ग्रन्थ है, पर निर्भर करके किसी बृहदाकार 'चम्पू' की रचना तब तक नहीं हुई थी। सम्भवतः कविकर्णपूर के गद्य के उपयुक्त भाषा-प्रवाह से चमत्कृत हो श्रीरूप ने ऐसा सुझाव उनको दिया हो। कविकर्णपूर का वृन्दावन-गमन तथा वहाँ श्रीरूप से उनका साक्षात्कार होता था। अतः श्रीरूप से प्रेरणा-प्राप्ति सम्भव थी।

(ग) कविकर्णपूर ने अपने नाटक 'चैतन्यचन्द्रोदय' के तृतीय अङ्क में 'दान-विनोद' नामक एक गर्भाङ्क की योजना की है जिसमें श्रीचैतन्य तथा उनके पार्षद् श्रीकृष्ण की वृन्दावन लीला के दान-विनोद का अभिनय करते हैं। उस गर्भाङ्क की नान्दी को सुनकर प्रेमभक्ति कहती है, 'तन्मन्ये' एकाङ्को भाणो व्यायोग वा रूपकमत्र निरूपयितव्यमनेन,[4] परन्तु भाण अथवा व्यायोग का लक्षण इसमें घटित नहीं होता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसी प्रकार की विषय-वस्तु को लेकर लिखे गए श्रीरूप के 'दान-केलि-कौमुदी' का ध्यान रहने से, जो नाटकीय दृष्टि से 'भाणिका' है, प्रस्तुत अभिनय के लेखक ने इसे भी भाण

[1] द्र० क्रम संख्या 7686 वृन्दावन शोध संस्थान (विस्तृत परिचय चैतन्यचरितामृत महाकाव्य के सन्दर्भ में द्रष्टव्य)

[2] S.K. De, VFM, p. 163, Footnote

[3] New Catalogus Catalogorum, Vol. two, 1966

[4] पृ० 47

कह दिया[1]। इसी अभिनय को कर्णपूर ने एक स्थान पर केलि-कौमुदी[2] के नाम से अभिहित किया है, जो इस सम्भावना को पुष्ट करता है।

(घ) 1550 ई० में श्रीरूप गोस्वामी ने 'राधाकृष्णगणोद्देशदीपिका' की रचना की थी जिसमें राधा-कृष्ण के गुणों के तत्त्व का निरूपण किया गया था। कर्णपूर रचित 'गौरगणोद्देश-दीपिका' के अनुसार श्रीचैतन्य स्वयं ब्रजनन्दन श्रीकृष्ण हैं। इस दृष्टि से 'गौरगणोद्देशदीपिका' को 'राधाकृष्णगणोद्देशदीपिका' के पूरक ग्रन्थ के रूप में लिया जा सकता है। दे महोदय के अनुसार 'गौरगणोद्देशदीपिका' को लिखने की प्रेरणा सम्भवतः श्रीरूप की उक्त कृति से कर्णपूर को मिली थी[3]।

(ङ) श्रीरूप द्वारा सङ्कलित 'पद्यावली' में कविकर्णपूर का एक श्लोक उद्धृत किया गया है[4]। यह श्रीरूप के हाथों में कविकर्णपूर की रचनाओं के पहुँचने का एक अन्य ठोस प्रमाण है।

ऊपर वर्णित सन्दर्भों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि श्रीरूप के हाथों कविकर्णपूर की रचनाएं पहुँच चुकी थीं। यह भी सम्भावित है कि कविकर्णपूर भी श्रीरूप गोस्वामी की कृतियों से परिचित थे। कविकर्णपूर ने 'चैतन्यचन्द्रोदय' के एक श्लोक में ही श्रीरूप का परिचय दिया है परन्तु उसी सीमित शब्दावली में ही अपनी असीमित भावनाओं की अभिव्यञ्जना कर दी है[5]। श्रीरूप गोस्वामी के साथ कविकर्णपूर के साक्षात् मिलन का उल्लेख 'भक्तमाल' के टीकाकार प्रियदासजी ने किया है। तदनुसार किसी समय कविकर्णपूर वृन्दावन में श्रीरूप के समीप गए थे-

श्रीगुंसाई कर्णपूर पाछे आये देखे आछे। नेक ढिंग भये श्वास लाग्यो तब पाई है।
मानों आंचलागी ऐसे तन चिह्न भयो। नई यह प्रेम रीति कायै जात गाई है[6]।।

इस उद्धरण से सम्भावना होती है कि कविकर्णपूर का वृन्दावन के शीर्षस्थ कवि तथा धार्मिक लेखक श्रीरूप गोस्वामी के साथ सम्पर्क था।

---

[1] S.K. De, VFM, p. 571, Footnote

[2] भवद्भिर्नरीनृत्यमाना भगवतः श्रीवृन्दावनविहारिणः कापि केलिकौमुदी नयनविषयीकर्तव्येति। नाटक, पृ० 49

[3] S.K. De, VFM, p. 46, footnote

[4] पद-305

[5] प्रियस्वरूपे दयितस्वरूपे प्रेमस्वरूपे सहजाभिरूपे।
निजानुरूपे प्रभुरेकरूपे ततान रूपे स्वविलासरूपे।। पृ० 175

[6] श्रीनाभा स्वामी, भक्तमाल, 360

कविकर्णपूर-वृन्दावन वास

उक्त विवरण से यह तो स्पष्ट होता है कि कवि का वृन्दावन आना जाना था। लेखक ने अपनी 'गौरगणोद्देशदीपिका' के प्रारम्भ में अपनी रचना की सामग्री के सङ्कलन के सन्दर्भ में भी अस्पष्ट रूप से इङ्गित किया था कि उनका वृन्दावन से सम्पर्क है। वहाँ उन्होंने गौड़ियों के साथ मथुरा तथा औड्र देश के वासियों के मुख से अपने ग्रन्थ के विषय को सुनने का उल्लेख किया था[1] परन्तु कर्णपूर केवल यात्रा प्रसङ्ग में ही वृन्दावन गए थे, ऐसा नहीं है। उन्होंने अपने जीवन का अन्तिम भाग ही वृन्दावन में व्यतीत किया था, ऐसा उनके ग्रन्थों के विख्यात टीकाकार विश्वनाथ चक्रवर्ती का मत है। तदनुसार 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' के **कथास्वादं लब्ध्वा जगति न जनः क्वापि रमते** [2] में कर्णपूर कहते हैं कि वृन्दावन की लीलाओं का आस्वादन करने के पश्चात् व्यक्ति का जगत् के किसी अन्य स्थान पर मन नहीं रमता है अर्थात् शीघ्र ही वृन्दावन ही चला जाता है। विश्वनाथ के अनुसार इस उक्ति के माध्यम से कविकर्णपूर ने अपने वृन्दावनवास का हेतु भी प्रकट कर दिया है[3]। वस्तुतः वृन्दावन में कर्णपूर के जाने का उल्लेख तो है परन्तु उनके दीर्घकाल तक वास करने के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है[4]।

कविकर्णपूर की कृतियों के विश्लेषण से यह पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि वे प्रकाण्ड पण्डित, दार्शनिक, कवि तथा भक्त थे। प्रायः प्रत्येक कृति में ही उन्होंने अपने गुरु के प्रति श्रद्धा तथा कृतज्ञता की भावना को व्यक्त किया है जिससे स्पष्ट होता है कि वह अत्यधिक गुरुभक्त भी थे। इसके अतिरिक्त 'गौरगणोद्देशदीपिका' में अनेक स्थलों पर अन्य विद्वानों की मान्यता के स्थान पर अपने पिता की मान्यता को गौरव प्रदान करना, उनका अपने पिता के प्रति श्रद्धा एवं विश्वास का सूचक है[5] परन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि वह अंधानुसरण करते थे। उन्होंने प्रत्येक मान्यता को बुद्धि की कसौटी पर परख कर ही उसे स्वीकार किया है। जहाँ पूर्वाचार्यों की मान्यता का प्रतिवाद न करना ही

---

[1] विलोक्यान्यानि साधूनां मथुरौड्रनिवासिनाम्। गौडीयानामपि मुखान्निशम्य.....। 5

[2] 1/5

[3] वृन्दावन एव शीघ्रमागच्छतीति भावः, इति स्वस्य वृन्दावनवासे हेतुरपि दर्शितम्। सुखवर्त्तनी टीका, पृ० 3

[4] ऐतिहासिक प्रमाण न मिलने पर भी परम्परा यही कहती है कि कर्णपूर ने अपने जीवन का अन्तिम भाग वृन्दावन में ही व्यतीत किया था। वृन्दावन के चौंसठ महन्तों की समाधि में कर्णपूर की पूर्ण समाधि विराजित है जिसे कर्णपूर के अपने जीवन का अन्तिम भाग वृन्दावन में व्यतीत करने के प्रमाण के रूप में लिया जाता है।

[5] व्रजे नान्दीमुखी यासीत् साद्य सारङ्गठक्कुरः। प्रह्लादोमन्यते कैश्चिन्मत्पित्रा स न मन्यते।। 172

वैष्णवों की सामान्य रीति है, वहीं कवि कर्णपूर अपने पूर्ववर्ती स्वरूप दामोदर जैसे लब्ध प्रतिष्ठित आचार्य के मत का खण्डन करने में भी सङ्कोच का अनुभव नहीं करते हैं। श्री राधा के तत्त्व निरूपण में 'स्वरूप' का नामोल्लेख करते हुए स्पष्टतः ही वे उनके मत का विरोध करते हैं[1]।

अस्तु, कवि कर्णपूर जागरूक, बुद्धिदीप्त व्यक्ति होने पर भी परम भक्त रूप में समादृत हुये हैं। भक्त एवं कवि के रूप में ख्याति अर्जन करने के साथ-साथ अपनी प्रेम भावना तथा गुणाधिक्य के कारण वे पश्चाद्वर्ती कवियों के लिए आदर्श रूप में स्तुत्य रहे हैं[2]।

अप्रामाणिक रचनाएँ

गौड़ीय-वैष्णव कवियों में से सर्वाधिक संस्कृत रचनाएं कविकर्णपूर की लेखनी-प्रसूत हैं परन्तु उनमें से सभी रचनाएं प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती हैं। उनके नाम से प्रचलित रचनाओं का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

आर्याशतकम्

हरिदास दास ने हरिबोल कुटीर, नवद्वीप से कविकर्णपूर प्रणीत 'आर्याशतकम्' का प्रकाशन किया है। भूमिका भाग में सम्पादक महोदय ने स्पष्ट किया है कि एक खण्डित प्रति से ही प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रकाशन हुआ है[3]। ग्रन्थ का प्रारम्भ आर्याछन्द में निबद्ध इस श्लोक से हुआ है जिसे कृष्णदास कविराज ने कर्णपूर रचित माना है[4]

श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
वृन्दावनरमणीनां मण्डनमखिलं हरिर्जयति।।

आर्याशतकम् में कुल 119 श्लोक हैं जिनमें धीरललित नायक श्रीकृष्ण का स्तुतिपरक वर्णन है। साथ ही इसमें विविध दिनों का लीला-विनोद, नैश-विहार आदि तथा षड्ऋतु का वर्णन है।

केवल एक पाण्डुलिपि पर आधारित होने तथा अनेक छन्द-गत त्रुटियों के कारण इसे कविकर्णपूर की रचना स्वीकार करना कठिन है[5]। दे महोदय 'आर्याशतक' को अनुपलब्ध

---

[1] श्री राधाप्रेमरूपा या पुरा वृन्दावनेश्वरी स श्रीगदाधरो गौरवल्लभः पण्डिताख्यकः निर्णीतः श्रीस्वरूपैर्यो व्रजलक्ष्मीतया यथा। गौ०ग०दी०, 147-148

[2] श्री चैतन्यदास कर्णपूर प्रेममय श्रीजानकीनाथ विप्रगुणेर आलय।'
भक्तिरत्नाकर, नवमतरङ्ग, पयार, 396

[3] हरिदास स० आर्याशतकम्, भूमिका भाग

[4] द्र० चै०च०, अन्त्य, 16, पृ० 587

[5] S.P. Bhattacharya, Two Ascriptions Examined, Our Heritage, Vol. IV, Pt. I,1956, P. 10, Footnote.

रचना मानते हैं[1]। इस 'आर्याशतक' की प्रामाणिकता के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है।

चमत्कारचन्द्रिका

इसे भी कर्णपूर की रचना स्वीकार की जाती है[2]। यह चार कुतुहलों तथा 225 पद्यों में राधाकृष्ण की लीला पर रचित काव्य ग्रन्थ है। हरिदास दास द्वारा नवद्वीप से इसका भी प्रकाशन हुआ था परन्तु ग्रन्थ में कहीं भी लेखक का नाम न रहने के कारण कर्णपूर को इसका रचयिता मानना कठिन है[3]। विश्वनाथ चक्रवर्ती को भी इसके लेखक के रूप में स्वीकृति मिलती है[4]।

बृहत्कृष्णगणोद्देशदीपिका

अनुपलब्ध 'बृहत्कृष्णगणोद्देशदीपिका' को कवि कर्णपूर रचित माना जाता है[5]। यह प्रश्न भी उठता है कि यह सम्भवतः कर्णपूर रचित 'गौरगणोद्देशदीपिका' से अभिन्न है[6]। इस सम्बन्ध में निश्चित रूप में कुछ नहीं कहा जा सकता है।

वर्णप्रकाश

अमरमाणिक्य के पुत्र राजधर के लिये रचित 'वर्णप्रकाश' नामक कोशग्रन्थ का कर्णपूर रचित ग्रन्थों की सूची में समावेश हुआ है[7]। 'इण्डिया ऑफिस' में संरक्षित लिपि में चैतन्य देव का उल्लेख अथवा उनका नमन न होने के कारण दे महोदय इसे किसी अन्य कर्णपूर की रचना मानते हैं[8]।

गङ्गास्तव

कर्णपूर रचित कृति मानी जाती है[9] परन्तु इस रचना के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है।

इसके अतिरिक्त 'चैतन्यशतक', 'स्तवावली' तथा 'कृष्णगणोद्देशदीपिका' भी कर्णपूर रचित माने जाते हैं[10] परन्तु इनके विषय में कोई सूचना नहीं मिलती है।

---

1 S.K. De, VFM, pp 42-43, Footnote

2 K.K. Dutta Sastri, Bengal's Contribution to Skt. Literature, p. 13

3 द्र0 S.K. De, VFM, p47, footnote,

4 New Catalogus Catalogorum, Vol. Three 1967,

5 (a) Catalogus Catalogorum, 1962 (b) S.K. De, VFM, p. 47, footnote.

6 New Catalogus Catalogorum, Vol. Three, 1967

7 Catalogues Catalogorum, 1962

8 S.K. De, VFM, p. 49, Footnote.

9 K.K. Dutta Sastri, Bengal's Contribution to Sanskrit Literature, p. 13

10 D.C. Sen, VLMB pp. 71-74

पारिजातहरणमहाकाव्य

कर्णपूर रचित ग्रन्थों की सूची में प्रस्तुत काव्य का समावेश किया जाता रहा है[1]। इस काव्य का एक संस्करण मिथिला से प्रकाशित हुआ है जिसकी भूमिका में स्पष्ट किया गया है कि गौड़ीय-वैष्णव श्रीकृष्ण की वृन्दावन लीला को ही अपने काव्य का विषय स्वीकार करते हैं जबकि इसमें द्वारकालीला वर्णित है। इसी प्रकार श्रीचैतन्य का उल्लेख न करके शिव, काली आदि देवताओं का वर्णन किया गया है। ऐसे अनेकों उद्धरणों से स्पष्ट किया गया है कि प्रस्तुत महाकाव्य 'चैतन्यचन्द्रोदय'- रचयिता शिवानन्द सेन-तनुज की कृति नहीं है। ये कोई अन्य कर्णपूर रहे होंगे[2]।

प्रामाणिक रचनाएँ

ऊपर विवेचित अनुपलब्ध अथवा अप्रामाणिक रचनाओं के अतिरिक्त उनकी उपलब्ध प्रामाणिक रचनायें हैं, (1) श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृत महाकाव्य (2) 'कृष्णाह्निक कौमुदी' (3) 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' (4) 'चैतन्यचन्द्रोदय' (5) 'अलङ्कारकौस्तुभ' तथा (6) 'गौरगणोद्देशदीपिका'। ये सभी ग्रन्थ केवल उपलब्ध ही नहीं वरन् विविध संस्करणों में विविध समय में प्रकाशित भी हैं। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त कविकर्णपूर को कतिपय बंगला पदों का, जो 'पदकल्पतरु' तथा 'गौरपदतरङ्गिणी' में सङ्कलित है, का रचयिता भी माना जाता है[3]। 'परमानन्दभणिता' नाम से सङ्कलित बारह पदों को मजुमदार महोदय भाषा तथा विषय वस्तु की दृष्टि से शिवानन्दतनय कर्णपूर की रचना न मानकर किसी और परमानन्द की रचना मानते हैं[4]।

यह ठीक है कि ऊपर निर्दिष्ट छः ग्रन्थों के अतिरिक्त किसी अन्य ग्रन्थ की कर्णपूर की रचना के रूप में प्रामाणिकता सिद्ध नहीं हो पाई है फिर भी यह बात स्वीकार करनी ही पड़ेगी कि कर्णपूर ने इन छः ग्रन्थों के अतिरिक्त कुछ अन्य काव्यादि भी अवश्यमेव लिखा होगा। इसका सुदृढ़ प्रमाण श्रीरूप द्वारा सङ्कलित पद्यावली हैं जिसमें कर्णपूर रचित एक संस्कृत पद्य भी सङ्कलित है[5]। यह उनके किसी उपलब्ध ग्रन्थ का नहीं है।

---

[1] K.K. Dutta Sastri, Bengal's Contribution to Skt. Literatur p. 13

[2] द्र० प्रो. अनन्तलाल ठकुर सम्पादित, कविकर्णपूर, पारिजातहरणमहाकाव्य, भूमिका भाग

[3] D.C. Sen, VLMB, p. 73

[4] वि०वि० मजुमदार, चै०च०उ०, पृ० 46-47 मजुमदार के ऐसा मानने पर भी मृणालकान्ति घोष का वक्तव्य यह है कि वैष्णव साहित्य में किसी और परमानन्द नामक पदकर्ता का परिचय न मिलने के कारण इन्हें परमानन्दसेन कर्णपूर की रचना माननी चाहिए। द्र० गौ०प०त०, पृ० 64

[5] पद, 305

रचना-काल-क्रम

कविकर्णपूर ने श्रीचैतन्य-सम्बन्धित तीनों रचनाओं, 'चैतन्यचरितामृत महाकाव्य', 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक तथा 'गौरगणोद्देशदीपिका' में प्रस्तुत ग्रन्थों का रचना-काल उल्लिखित किया है। शेष तीनों रचनायें, 'कृष्णाह्निककौमुदी', 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' तथा 'अलङ्कार-कौस्तुभ' में रचना-तिथि का निर्देश नहीं दिया है। इसी कारण इन ग्रन्थों का पूर्वापर निर्धारण विद्वानों के लिये विवाद का विषय बना रहा है। यहाँ उनकी पूर्वापरता का निर्धारण करने का प्रयास किया जा रहा है।

चैतन्यचरितामृत महाकाव्य

कविकर्णपूर की उपलब्ध रचनाओं में प्रथम रचना होने का गौरव 'चैतन्यचरितामृत महाकाव्य' को है। आर.एल. मित्र के मतानुसार यह काव्य कवि की द्वितीय रचना है तथा 'अलङ्कारकौस्तुभ' ही प्रथम रचना है[1]। उनके अनुसार कर्णपूर का जन्म 1524 ई० में हुआ था[2]। यह स्पष्ट है कि काव्य की रचना लेखक ने तरुणावस्था में की थी। यदि अट्ठारह वर्ष की आयु में काव्य की रचना हुई हो तो उससे भी पहले 'अलङ्कारकौस्तुभ' के समान सर्वाङ्गीण अलङ्कार-शास्त्र का ग्रन्थ लिखा जाना असम्भव सा प्रतीत होता है। कितना भी अलौकिक प्रतिभा-सम्पन्न लेखक क्यों न हो, बीस सर्गों की काव्य रचना में एक वर्ष का समय अवश्यमेव लगा होगा। उससे पूर्व यदि 'अलङ्कारकौस्तुभ' की रचना हुई थी, ऐसा स्वीकार करें तो उसे लेखक ने अपनी चौदह-पन्द्रह वर्ष की आयु में ही लिखना प्रारम्भ किया होगा, ऐसा मानना पड़ेगा। यह बात बुद्धिग्राह्य नहीं है। कुछ विद्वान् इस काव्य को नाटक के साथ अर्थात् 1572 ई.[3] की रचना मानते हैं। महाकाव्य को इतना पश्चाद्वर्ती मानना उचित नहीं है। उसे 1464 शक (1542) ई० का ही मानना चाहिए क्योंकि लेखक ने स्वयं अपने महाकाव्य की समाप्ति की तिथि 1542 ई० घोषित की है। महाकाव्य के अन्त में यह तिथि उन्होंने स्वयं दी है[4]। इस तिथि को अस्वीकार करने के पक्ष में कोई ठोस कारण नहीं है।

श्रीरूप ने इस महाकाव्य की अनुलिपि स्वयं 1467 शक (1545 ई०) अर्थात् महाकाव्य की रचना के तीन वर्ष पश्चात् ही कर ली थी। इस तथ्य का प्रमाण श्रीरूप की

---

[1] Chaitanya-Chandrodaya, Intruduction, p. 7

[2] वही, पृ० 6

[3] D.C. Sen, VLMB p. 42

[4] वेदा रसाः श्रुतय इन्दुरिति प्रसिद्धे शाके तथा खलु शुचौ शुभगे च मासि।
वारे सुधाकिरणनाम्न्यसितद्वितीया तिथ्यन्तरै परिसमाप्तिरभूदमुष्य।
कर्णपूर, चै०च०, (काव्य) 20/49

स्वहस्तलिखित लिपि[1] तथा इस लिपि की सूचना देने वाले लिपिकर विष्णुदास के उल्लेख से[2] मिलता है। जिस ग्रन्थ की अनुलिपि सुदूर वृन्दावन में 1545 ई० में समाप्त हुई थी, उस ग्रन्थ की रचना 1542 ई० में हो गई थी, यह मानना उचित ही है। प्रस्तुत महाकाव्य की रचना के समय लेखक अल्पवयस्क थे इसका उल्लेख ग्रन्थ के अन्त में स्वयं को 'शिशु' कहकर कर्णपूर ने किया है[3]।

नाटक की अपेक्षा प्रस्तुत महाकाव्य में लेखक ने मुरारि का जिस दृढ़ता से अनुकरण किया है वह भी उनकी अपरिपक्वता का परिचायक है।

प्रस्तुत महाकाव्य में कर्णपूर ने कहीं भी अपने गुरु श्रीनाथ का वर्णन नहीं किया है जबकि उनकी अन्य कृतियों-चम्पू (1-5, 22-37) 'अलङ्कारकौस्तुभ' (शार्ङ्गबन्ध तथा चक्रबन्ध के उदाहरण (7-93, 98, 100), नाटक (दशम अङ्क, पृ० 184) तथा 'गौरगणोद्देशदीपिका' (2) में उनका सादर उल्लेख है। नाटक के अनुसार जब कर्णपूर ने चैतन्यदेव का प्रथम-दर्शन किया उस समय श्रीनाथ नवयुवक थे[4] लेखक की आयु उस समय सात-आठ वर्ष से अधिक की न थी। पूर्ण सम्भावना है कि काव्य-रचना के पश्चात् अर्थात् सत्रह वर्ष की आयु के अनन्तर ही कर्णपूर ने श्रीनाथ का शिष्यत्व ग्रहण किया हो[5]। इसी कारण उससे पूर्व रचित काव्य में श्रीनाथ का उल्लेख न आना ही स्वाभाविक है।

कवि का शैशव से प्रतिभा सम्पन्न होना एक बात है पर लिखते-लिखते लेखक में परिपक्वता तथा प्रौढ़ता का आना दूसरी बात है। 'चैतन्यचरितामृत' काव्य में कर्णपूर का पाण्डित्य, भाषा पर आधिपत्य, छन्द तथा अलङ्कार-प्रयोग में नैपुण्य-सभी कुछ दृष्टिगत होता है। फिर भी तरुण कवि के भावुकतापूरित हृदय का असामञ्जस्य भी अनचाहे सामने आ जाता है। अपने अभीष्ट देव के वर्णन करने में कवि इतना भाव-विभोर हो जाता है कि कई बार वह स्वाभाविकता का भी उल्लंघन कर बैठता है। नाटक में भी दिव्य

[1] वृन्दावन शोध संस्थान में संरक्षित लिपि, क्र०सं० 7686, (काव्य) लेखिका की उपस्थिति में 24 फरवरी 1976 को नेशनल प्रोफेसर डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी द्वारा वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन में प्रस्तावित लिपि की प्रामाणिकता को स्वीकृति मिली।

[2] S.K. De, VFM, p. 163 Footnote

[3] आशैशवं प्रभुचरित्रविलासविज्ञैः केचिन्मुरारिरितिमङ्गलनामधेयैः
यद् यद् विलासललितं समलेखि तज्जज्ञे तत्तद्विलोक्य विलिलेख शिशुः स एषः।।
चै०च०, (काव्य) 20/42

[4] लोकलोचनरसायनमिव नवीनवया रमणीयरूपः सहजावतीर्णश्रीकृष्णप्रेमरसबाह्यान्तरसरसः श्रीनाथनामा द्विजकुलचन्द्रः। पृ० 181

[5] S.P. Bhattacharya, Two Ascriptions Examined, Our Heritage, Vol. IV, Part I, 1956, pp. 16-17

नायक का लोकोत्तर चरित्र चित्रित किया गया है तथा पद-पद पर देवत्व की स्थापना की गई है परन्तु वहाँ लेखक ने अकाल-पक्व भावाधिक्य से अतिशयोक्ति का आश्रय नहीं लिया है। उदाहरणस्वरूप महाकाव्य में कविकर्णपूर नायक चैतन्य के माता-पिता को दरिद्र चित्रित करने में कुण्ठित होते हैं अतः उन्हें समृद्ध ही चित्रित किया गया है[1]। इस प्रकार की प्रवृत्ति अल्पायु में ही संभव होती है।

कर्णपूर ने प्रस्तुत महाकाव्य में चित्रबन्ध काव्य, एकाक्षर, प्रतिलोम, अनुलोम आदि का विस्तार से प्रयोग किया है। यहाँ उल्लेखनीय है कि लेखक ने अपने 'अलङ्कार कौस्तुभ' में इन श्लोकों को उदाहरण के रूप में ग्रहण नहीं किया है। सम्भवतः महाकाव्य के इन श्लोकों में भाव तथा अभिव्यक्ति में मौलिकता का अभाव होने के कारण ही कर्णपूर ने इन्हें अपनी परवर्ती रचना में उद्धृत नहीं किया है।

नाटक की अपेक्षा काव्य में चैतन्य-पार्षदों से सम्बन्धित घटनाओं में अद्‌भुत घटनाओं का समावेश अधिक हुआ है। काव्य में चैतन्य के दुष्ट-उद्धार आदि कृत्यों का महत्त्व प्रतिपादित हुआ है तो नाटक में चैतन्य के जीवन से प्राप्त शिक्षा तथा उनके द्वारा प्रचारित भक्तियोग को महत्त्व दिया गया है। इसी प्रकार नाटक की अपेक्षा काव्य में वर्णित सैद्धान्तिक मान्यताओं में पूर्ववर्ती होने का सङ्केत मिलता है।

इन सभी तथ्यों से स्पष्ट होता है कि 'चैतन्यचरितामृत' महाकाव्य कर्णपूर की उपलब्ध रचना प्रथम है।

कृष्णाह्निककौमुदी

कविकर्णपूर की उपलब्ध रचनाओं में महाकाव्य के पश्चात् अर्थात् द्वितीय कृति के रूप में 'कृष्णाह्निककौमुदी' का नाम लिया जा सकता है। लेखक ने ग्रन्थ में कहीं भी इसके रचना-काल का उल्लेख नहीं किया है। नाटक तथा 'गौरगणोद्देशदीपिका' का रचना काल निश्चित है। 'अलङ्कारकौस्तुभ' के परवर्ती रचना होने का प्रमाण[2] मिल जाता है। अब 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' तथा 'कृष्णाह्निककौमुदी' के पौर्वापर्य पर प्रश्न उठता है। किसी बाह्य प्रमाण के अभाव में दोनों ग्रन्थों के तुलनात्मक तथा अन्य उपलब्ध सङ्केतों के आधार पर ही इस प्रश्न का समाधान किया जा रहा है।

'कृष्णाह्निककौमुदी' तथा चम्पू, दोनों ही काव्य श्रीकृष्ण की व्रजलीला पर आधारित हैं। 'कृष्णाह्निककौमुदी' में राधा-कृष्ण की अष्टकालिक लीलाओं का चित्रण है तो चम्पू में श्रीकृष्ण के जन्म से लेकर कैशोर-अवस्था तक की लीला वर्णित है। दोनों की विषय-वस्तु को ध्यान में रखकर विश्लेषण करने पर दोनों ही काव्य एक-दूसरे के पूरक प्रतीत होते हैं अर्थात् एक में किशोरावस्था तक का चित्रण होने पर दूसरे में युवावस्था के किसी एक दिन का चित्रण है। अतः विषय-वस्तु की दृष्टि से इनका पौर्वापर्य निर्धारित नहीं किया

---

1 चै०च० (काव्य), 2/65

2 अलङ्कारकौस्तुभ के सन्दर्भ में विवेच्य

जा सकता है। दोनों के काव्य-नैपुण्य को ध्यान में रखकर प्रश्न का समाधान सम्भव है। प्रायः कवि का काव्य-नैपुण्य समय के साथ-साथ निखरता चला जाता है। 'कृष्णाह्निककौमुदी' में विषय-विनियोजन शास्त्रोचित है, छन्द-प्रयोग में कवि का वैदग्ध्य भी दर्शनीय है। वृन्दावन-लीला का चित्रण भी सुन्दर है। साथ ही अलङ्कार प्रयोग तथा शब्द चयन भी अच्छा है। फिर भी कल्पना की नूतनता, रचना की सावलीलता तथा भावों की अभिव्यञ्जना का अभाव काव्य में खटकता है। सम्भवतः कविकर्णपूर भी अपनी इस प्रारम्भिक रचना की अपरिपक्वता के विषय में सजग थे। यही कारण है कि उन्होंने 'कृष्णाह्निककौमुदी' के एक श्लोक को परिवर्तित रुप में 'अलङ्काकौस्तुभ' में उद्धृत किया है।

कृष्णाह्निक का श्लोक है-

हा कष्टं द्यौः पपतति घूघूर्णते भूमिमीषिः
सख्या मा माघ घघरत मां हन्त पप्पायतामि।
इत्थं पानातिशयवशतः काचिदालिङ्गय काञ्चित्
स्थित्वा मन्दं न्यगददगदा जीवतास्मीति किञ्चित्।।[1]

इसी को 'अलङ्कारकौस्तुभ' में इस रुप में लिया गया है-

हा कष्टं द्यौः पपतति कथं हन्त घूघूर्णतेभूरालम्बे त्वां घघघ पतिता कम्पते गात्रयष्टिः।
इत्थं त्रासादधिकह्न सितैरक्षरैव्याहरन्तौ धृत्वान्योन्यं मधुमदजितौ नौमि राधामुकुन्दौ।।[2]

अपनी पहली रचना महाकाव्य में उन्होंने आलङ्कारिक-पाण्डित्य का यथेच्छ प्रयोग किया था। उसी प्रकार का पाण्डित्य प्रदर्शन 'कृष्णाह्निककौमुदी' में भी हुआ है। फिर भी 'अलङ्कारकौस्तुभ' में उनका आलङ्कारिक श्लोकों को उदाहरण के रूप में उद्धृत न करने का कारण लेखक की अपनी ही दृष्टि में उनकी अपरिपक्वता रही होगी। इसके विपरीत चम्पू से अनेक उदाहरण 'अलङ्कारकौस्तुभ' में उद्धृत हुए हैं।

'कृष्णाह्निककौमुदी' का चम्पू से एक और महत्त्वपूर्ण पार्थक्य दृष्टि को आकर्षित करता है। चम्पू में अनेक बार अवसर मिलने पर कर्णपूर राधा-तथा कृष्ण के उन्मुक्त मिलन–वर्णन अथवा निम्न स्तर के हास परिहास के वर्णन के प्रसङ्ग में संयमी रहे हैं। ऐसे प्रसङ्गों का या तो परिहार ही कर दिया गया है अथवा गाम्भीर्यपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया गया है। इसके विपरीत 'कृष्णाह्निककौमुदी' में ऐसे हास-परिहास का वर्णन है जो कभी-कभी अखरता भी है। चित्रण में ऐसा असंयम रचना के प्रारम्भिक अवस्था की होने के तथ्य को ही पुष्ट करता है।

ऊपर वर्णित अन्तःसाक्ष्यों के अतिरिक्त श्रीरूप रचित अष्टकालिक श्लोकावली 'स्मरण-मङ्गलम्' भी सम्भवतः 'कृष्णाह्निककौमुदी' के रचना-काल के प्रश्न पर कुछ प्रकाश डाल सके। प्रसिद्धि है कि श्रीरूप ने कृष्ण-राधा की अष्टकालिक-लीला को

[1] 6/62

[2] 5, 61

आधार बनाकर जिन ग्यारह श्लोकों की 'स्मरण-मङ्गलम्' नाम से रचना की थी, उनको विस्तृत रूप से लिखने का आदेश उन्होंने कृष्णदास कविराज को दिया था जिसके परिणाम-स्वरूप कृष्णदास कविराज का 'गोविन्दलीलामृत' प्रकाश में आया। इसके साथ ही इसका भी कोई सङ्केत नहीं मिलता है कि कर्णपूर श्रीरूप रचित 'स्मरण-मङ्गल' से परिचित थे अथवा नहीं। अतः यह सम्भावना अनायास ही हो जाती है कि कर्णपूर के वृन्दावन जाकर श्रीरूप से साक्षात्कार करने से (लगभग 1553-1554 ई०) पूर्व ही कर्णपूर 'कृष्णाह्निक-कौमुदी' की रचना कर चुके थे। अतः श्रीरूप ने कृष्णदास पर ही यह दायित्व डाला अन्यथा चम्पू रचना के समान कर्णपूर को ही इसकी रचना का भी निर्देश दिया जाता।

इन सभी तथ्यों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि 'कृष्णाह्निककौमुदी' सम्भवतः महाकाव्य के पश्चात् तथा चम्पू से पूर्ववर्ती लिखी गई होगी।

आनन्दवृन्दावन चम्पू

कविकर्णपूर की प्रौढ़ कवित्व-शक्ति का शोभन निदर्शन 'आनन्दवृन्दावचम्पू' है। बाईस स्तबकों के इस विस्तृत ग्रन्थ की रचना के समय तक कवि की शैली अधिक परिष्कृत तथा परिमार्जित हो गई थी। उनकी गद्यशैली पाठक को अनायास बाणभट्ट तथा सुबन्धु की विख्यात गद्य-शैली का स्मरण दिला देती है। इस प्रकार की रचना-भङ्गी तक पहुँचने में लेखक ने अनेक वर्षों की रचना-प्रक्रिया की यात्रा की होगी। इसके साथ ही 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' को लिखने की प्रेरणा उन्हें श्रीरूप से मिली थी इसका ज्ञान कर्णपूर की जीवनी से हो जाता है। श्रीरूप का अवसानकाल यद्यपि सुनिश्चित नहीं है तथापि श्रीजीव के अनुसार सनातन गोस्वामी ने अपनी 'वैष्णव-तोषणी' की समाप्ति 1476 शक अर्थात् 1554 ई० में की थी। अतः उनका जीवन-काल इस समय तक तो निश्चित ही है क्योंकि श्रीरूप तथा सनातन के एक ही वर्ष में कुछ महीनों के अन्तर पर देहावसान का उल्लेख मिलता है[1]। इस आधार पर ऐसी सम्भावना की जा सकती है कि कविकर्णपूर 1554 ई० के पूर्व ही किसी समय वृन्दावन गये होंगे जहाँ उनका श्रीरूप से नैकट्य स्थापित हुआ होगा। उन्हीं दिनों सनातन 'श्रीमद्भागवत' के दशम स्कन्ध पर अपनी 'वैष्णव-तोषणी' व्याख्या का समापन कर रहे होंगे। सभी वैष्णवों के लिये 'श्रीमद्भागवत' समान रूप से प्रिय एवं आराध्य है। उस समय तक उस पर इतना विस्तृत काव्यात्मक ग्रन्थ भी नहीं लिखा गया था। इससे पूर्व कर्णपूर 'कृष्णाह्निककौमुदी' की रचना कर चुके थे। कर्णपूर की भाषा-शैली तथा वर्णन-नैपुण्य से तो श्रीरूप बहुत पहले (1545 ई० महाकाव्य की अनुलिपि के समय) से ही परिचित एवं प्रभावित थे अतः उन्होंने चम्पू काव्य के उपयुक्त काव्य-नैपुण्य सम्पन्न कर्णपूर को 'भागवत' के दशम स्कन्ध पर आधारित चम्पू की रचना का सुझाव दिया होगा। वृन्दावन से प्रत्यागमन के पश्चात् अर्थात् 1554-1555 ई० के लगभग कर्णपूर ने इस चम्पू को लिखना प्रारम्भ किया होगा। इतने बृहत् चम्पू को लिखने में उन्हें पर्याप्त दीर्घ समय लगा होगा।

[1] S.K. De, VFM, p. 164

'आनन्दवृन्दावनचम्पू' से अलङ्कारकौस्तुभ परवर्ती रचना है इसका प्रमाण तो कर्णपूर ने स्वयं 'अलङ्कारकौस्तुभ' में उद्धृत चम्पू के श्लोकों के द्वारा दे दिया है[1]। कविकर्णपूर ने यूं तो 'कृष्णाह्निककौमुदी', 'चैतन्यचरितामृतमहाकाव्य' तथा 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक से भी कतिपय श्लोक 'अलङ्कारकौस्तुभ' में उद्धृत किये हैं तथापि चम्पू से उद्धृत श्लोकों की संख्या ही सर्वाधिक है। इनमें से कुछ श्लोकों को लेखक ने परिवर्तित किया है तथा कुछ को उसी रूप में ग्रहण कर लिया है। स्पष्ट है कि चम्पू रचना के समय तक कर्णपूर अपनी रचना-प्रक्रिया से सन्तुष्ट हो गये थे तथा उन श्लोकों को अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ के लक्षण के योग्य समझने लगे थे। यह उनके चम्पू के परवर्ती अर्थात् उपलब्ध तृतीय-रचना होने को द्योतित करता है [2]।

चैतन्यचन्द्रोदय नाटक

कविकर्णपूर ने अपने नाटक के अन्त में नाटक के रचना काल को स्पष्ट करते हुए कहा है-

शाके चतुर्दशशते रविवाजियुक्ते गौरो हरिर्धरणिमण्डल आविरासीत्।
तस्मिंश्चतुर्नवतिभाजि तदीयलीला ग्रन्थोऽयमाविरभवत्कतमस्य वक्त्रात्।

अर्थात् गौरहरि श्रीचैतन्य धरणिमण्डल में 1407 शक (1485 ई०) में आविर्भूत हुये थे तथा उस शकाब्द के चौरानवे वर्ष अर्थात् 1494 शक (1572 ई०) में इस लीला-ग्रन्थ की रचना हुई। इस प्रकार नाटक का रचना-काल 1572 ई० ठहरता है परन्तु प्रस्तुत श्लोक के 'तस्मिन्' पद से कुछ विद्वानों में सन्देह हो गया है। यह तत् सर्वनाम जहाँ 'शाके' के साथ लगता है वहीं गौरहरि के साथ भी लग सकता है[3]। गौरहरि से सम्बन्धित तत् का प्रयोग करने पर उनके धरणिमण्डल पर आविर्भूत होने के 94 वर्ष में अर्थात् 1407+ 94 = 1501 शक अर्थात् 1579 ई० में नाटक की रचना हुई थी, ऐसा मानना चाहिए। इस तस्मिन् पद को कहीं 'रविवाजियुक्ते' विशेषण-सहित 'चतुर्दशशते शाके' के साथ लगाकर भी पूर्वोल्लिखित प्रकार से ही यह 1407+94 =1501 शक अर्थात् 1579 ई० की रचना स्वीकार की जाती है[4]। शक तथा गौरहरि के आधार पर उक्त दोनों प्रकार से अर्थ लगाने पर दोनों से प्राप्त तिथियों में सात वर्ष का अन्तर आ जाता है। इनमें से

---

[1] आ०वृ०च०; 20/107-अ०कौ०, 5/59 आ०वृ०च०; 14/32-अ०कौ०, 5/56
वही, 20/12 - वही, 5/60 वही, 14/98 - वही, 5/23
वही, 14/78- वही, 5/57 वही, 15/249- वही, 5/36

[2] श्रीरूप तथा कर्णपूर के वृन्दावन में मिलने का काल ऐतिहासिक प्रमाणों से निर्धारित नहीं है। यहाँ एक सम्भावना मात्र की गई है। इसी प्रकार आ०वृ०च० तथा कृष्णाह्निककौमुदी का पूर्वापर निर्धारण भी किसी दृढ़ प्रमाण के अभाव में निश्चित नहीं है।

[3] तुलनीय S.P. Bhattacharya, Two Ascriptions Examined, Our Heritage, Vol. IV, Pt. I, 1956

[4] S.K. De, VFM, p. 44 Footnote

पश्चाद्वर्ती अर्थात् 1579 ई० को रचनाकाल मानना उचित नहीं है क्योंकि लेखक ने 1576 ई० में रचित अपनी 'गौरगणोद्देशदीपिका' में[1] 'चैतन्यचन्द्रोदय' से कई उद्धरण दिये हैं[2]। नाटककार ने इसी ग्रन्थ में 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक का नामोल्लेख भी कई प्रकार से किया है यथा 'गौरचन्द्रोदय'[3], 'श्रीचैतन्यविधूदय'[4] आदि। इससे प्रमाणित होता है कि नाटक 'गौरगणोद्देशदीपिका' से पूर्ववर्ती है। अतः इसका रचनाकाल 1572 ई० मानना ही उचित है। इस अन्तिम श्लोक को अप्रामाणिक मानने का भी कोई हेतु दृष्टिगोचर नहीं होता है[5]।

नाटक की प्रारम्भिक प्रस्तावना में कहा गया है कि श्रीचैतन्य के विरह से कातर राजा गजपति प्रतापरूद्र ने विरह-व्यथा के उपशमन के लिये सूत्रधार को चैतन्य-लीला से सम्बन्धित नाटक अभिनीत करने का आदेश दिया है[6]।

साधारणतया संस्कृत नाटकों की प्रस्तावना में प्रस्तावित उल्लेख को ही तद् तद् नाटक के प्रथम अभिनय का अवसर मानकर उसी के आधार पर उस नाटक का रचनाकाल निर्धारित किया जाता है। उसी आधार पर यह सम्भावना उदित हो सकती है कि प्रतापरुद्र, जो एक ऐतिहासिक व्यक्ति हैं, का उल्लेख जब प्रस्तावना में हुआ है, तो हो सकता है कि वस्तुतः चैतन्य-तिरोधान के पश्चात् तथा प्रतापरुद्र के राज्य-काल में ही उनके आदेश से नाटक की रचना तथा अभिनय हुए हों। इस सम्भावना को स्वीकार करने पर नाटक का रचना-काल 1572 ई० न मानकर 1540 ई० से पूर्व ही मानना पड़ेगा क्योंकि जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया गया है, प्रतापरुद्र ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। अतः उनका समय भी प्रामाणिक सत्य है। उस आधार पर तो प्रतापरुद्र का राज्यकाल ही नहीं वरन् उनकी मृत्यु भी 1540 ई० तक हो चुकी थी। उनका राज्यकाल 1497 से 1540 ई० तक था[7]। अतः नाटक-रचना के लिये प्रतापरुद्र के आदेश को सत्य मानने पर नाटक को 1540 ई० अर्थात् महाकाव्य 'चैतन्यचरितामृत' जिसकी रचना 1542 ई० में स्वीकार की जाती है, से भी पूर्व का मानना पड़ेगा। महाकाव्य के विवेचन से स्पष्ट हो चुका है कि वह कर्णपूर की शैशवावस्था की रचना है जिसमें कर्णपूर ने प्रारम्भिक ग्यारह सर्गों में अपने पूर्ववर्ती मुरारि के 'कड़चा' का पूर्ण रूप से उपयोग किया है। नाटक में मुरारि का ऐसा आनुगत्य कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता है। यूं भी एक ही कथानक से सम्बन्धित होने पर भी महाकाव्य की अपेक्षा प्रस्तुत नाटक में कथावस्तु का प्रतिपादन, भाषा तथा शैली का विनियोजन, दार्शनिक-सिद्धान्तों का स्थापन तथा चैतन्य-मत में परिवर्तन, सभी दृष्टियों से परिमार्जन तथा प्रौढ़ता दृष्टिगोचर होती है जो अनायास ही महाकाव्य से पर्याप्त परवर्ती

[1] द्र० प्रस्तुत ग्रंथ में गौ०ग०दी० का प्रसङ्ग

[2] गौ०ग०दी०, 34, 48, 60, 151

[3] वही, 34, 56

[4] वही, 48

[5] द्र० S.K. De, VFM, p. 44 footnote & S.P. Bhattacharya, Our Heritage, Vol. IV, PI 1956 p. 11 Footnote

[6] पृ० 2-3

[7] S.K., De, VFM, pp. 44, 90

रचना के रूप में नाटक को सिद्ध करती है। अब स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठता है कि यदि वस्तुतः नाटक परवर्ती समय की रचना है तो प्रतापरूद्र के आदेश पर प्रस्तावना का सामञ्जस्य नाटक के साथ किस प्रकार किया जा सकता है। वस्तुतः सामान्य दृष्टि से भी 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक को राजा गजपति प्रतापरुद्र के राज्य-काल में रचित मानना असम्भव सा प्रतीत होता है। प्रथमतः नाटक के कथानक को देखने से स्पष्ट हो जाएगा कि प्रतापरुद्र का नामोल्लेख न केवल प्रस्तावना में ही हुआ है, वरन् वे नाटक के एक पात्र भी हैं। प्रतापरुद्र पर चैतन्य-अनुग्रह की घटना नाटक के अष्टम अङ्क की विषय-वस्तु है। इस प्रकार प्रतापरूद्र नाटक के प्रकरी-नायक की कोटि में आते हैं। कर्णपूर पूर्ण सजगता के साथ प्रस्तावना में ही प्रतापरुद्र के चारित्रिक वैशिष्ट्य को उभारने में प्रयत्नशील हैं[1]। अष्टम, नवम तथा दशम अङ्क में भी उनकी प्रगाढ़-भक्ति का सुन्दर चित्रण किया गया है तथापि यह बात अत्यन्त अस्वाभाविक प्रतीत होती है कि अपने समसामयिक राजा, जो चाहे कवि का आश्रयदाता न भी हो तथा कितना भी निरभिमानी तथा उदारचेता हो, का व्यक्तिगत जीवन जन सामान्य के समक्ष इस प्रकार उन्मुक्त किया जाये। न केवल स्वयं राजा, कर्णपूर ने तो मञ्च पर उनकी रानियों को भी उपस्थित किया है तथा राजा और कञ्चुकी के साथ उनके कथोपकथन का वर्णन भी किया है[2]। तत्कालीन सामाजिक मान्यताओं को ध्यान में रखकर विवेचन करने पर स्पष्ट हो जायेगा कि जो राजपद पर स्थित होने के कारण जनसामान्य के साथ घुल-मिलकर अपने अभीष्ट देव का अनुसरण नहीं कर सकता है [3] वह इस प्रकार अपने व्यक्तिगत सम्पर्कों का मञ्च पर प्रदर्शन सहन नहीं कर सकता होगा। नाटक में वर्णित सामाजिक चित्रण से स्पष्ट है कि उस समय राजा तथा प्रजा के मध्य में मर्यादित दूरी थी। अतः राजा प्रतापरुद्र की जीवितावस्था में नाटक में वर्णित चित्रण अस्वाभाविक सा लगता है। शङ्का उत्थापित की जा सकती है कि मुरारी का 'कड़चा' 1542 ई० से पूर्ववर्ती है। अतः मुरारि राजा प्रतापरुद्र का समसामयिक है। लेखक ने उसमें 'श्रीप्रतापरुद्रानुग्रहो'[4] नामक पूर्ण एक सर्ग की रचना कैसे की थी? वह चित्रण अस्वाभाविक क्यों-कर नहीं है? इस शङ्का का समाधान यह है कि प्रथमतः मुरारिगुप्त ने श्रीचैतन्य के दर्शन के लिये लालायित तथा चैतन्य-कृपा-धन्य राजा का ही चित्रण किया है। उसके जीवन के केवल एक पक्ष अर्थात् वहाँ चैतन्य-कृपा-प्राप्त-भक्त-

---

[1] निर्धूमोऽप्यनुमीयते प्रतिदिशं यस्य प्रतापानलः
साधूनां सुखदो विपक्षशलभव्यूहस्य दाहोद्धुरः।
प्रागेव स्फुटने विशङ्कितधिया यस्योष्मणां प्रक्रमैः
श्रीशेनावारणैरकारि बहुभिर्ब्रह्माण्डलेपो बहिः।। नाटक, पृ० 3

[2] वही, पृ0 188-191 तथा पृ0 199-202

[3] राजा-धिग् भूपत्वम्। कदाहमेषां मध्ये यः कश्चिदेव भवन् भगवन्तमनुव्रजामि। वही, पृ० 195

[4] कड़चा, 4/16

रूप को ही उभारा गया है जबकि नाटक में उसका पर्याप्त व्यक्तिगत रूप सामने आया। द्वितीयतः मुरारि का ग्रन्थ 'काव्य' होने के कारण पाठकों अथवा श्रोताओं के पठन तथा श्रवण का अतएव सीमित क्षेत्र का विषय था जबकि 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक है जो प्रत्येक पात्र को पूर्णरूप से दर्शकों के समक्ष उपस्थित कर देता है। काव्य के वर्णन की अपेक्षा नाटक का वर्णन तत्कालीन परिवेश में अधिक व्यापक तथा जन-सामान्य सम्प्रेष्य था। अतः नाटक में राजा का ऐसा व्यक्तिगत चित्रण राजा की जीवितावस्था में असम्भव प्रतीत होता है। नाटक के भरतवाक्य में कर्णपूर ने अद्वैताचार्य के मुख से कहलवाया है-

.......सन्तो मत्सरतां त्यजन्तु कुजनाः सन्तोषवन्तः सदा
सन्तु क्षोणिभुजो भवच्चरणयोर्भक्त्या प्रजाः च।[1]

यदि वस्तुतः राजा प्रतापरुद्र के समय में ही नाटक की रचना हुई होती तो नाटककार भरतवाक्य को प्रतापरुद्र के प्रशंसावाचक रूप में उपस्थित कर सकता था जैसा कि उसने नाटक के प्रारम्भ में किया है[2]।

ऊपर विवेचित इन सभी तथ्यों के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि 'चैतन्यचन्द्रोदय' की रचना प्रतापरुद्र के राज्यकाल अर्थात् 1540 ई० तक नहीं हुई होगी वरन् नाटक के अन्त में कर्णपूर ने जो तिथि प्रदान की है तदनुसार 1572 ई० को ही नाटक रचना का निर्धारित समय मानना उचित है। नाटक की प्रस्तावना में अभिनय के लिए प्रतापरुद्र के आदेश का जो उल्लेख हुआ है वह कोई ऐतिहासिक सत्य नहीं वरन् नाटककार की अपनी कल्पना तथा वर्णन-नैपुण्य मात्र है। ऐतिहासिक कथानक होने पर भी अन्यत्र की गई काल्पनिक योजना के समान इसे भी एक कल्पनाप्रसूत वर्णन समझना चाहिए।

'चैतन्यचन्द्रोदय' के कतिपय श्लोक कर्णपूर ने अपने 'अलङ्कारकौस्तुभ' में संग्रहीत किये हैं[3]। अतः स्पष्ट है कि कर्णपूर की उपलब्ध रचनाओं, 'चैतन्यचरितामृत' महाकाव्य, 'कृष्णाह्निककौमुदी' तथा 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' के पश्चात् अर्थात् लेखक की चतुर्थ रचना यह नाटक है तथा इसके पश्चाद्वर्ती ग्रन्थ हैं 'अलङ्कारकौस्तुभ' तथा 'गौरगणोद्देशदीपिका'।

---

[1] पृ० 206

[2] S.P. Bhattacharya, Two Ascriptions Examined, Our Haritage, Vol. IV, Pt. I, p.11

[3]

नाटक,	3/8-	अलङ्कारकौस्तुभ,	5/35
वही	3/32-	वही,	8/72
वही	7/2-	वही	3/55
वही	7/8-	वही,	8/237
वही	7/10-	वही,	8/236

अलङ्कारकौस्तुभ

'अलङ्कारकौस्तुभ' में कर्णपूर ने अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं में से प्रारम्भिक अतः अपरिपक्व रचना कृष्णाह्निककौमुदी को छोड़, शेष तीनों-महाकाव्य, चम्पू तथा नाटक में से उद्धरण दिये हैं। इस आधार पर 'अलङ्कारकौस्तुभ' का उन चारों ग्रन्थों से पश्चाद्वर्ती होना प्रमाणित होता है।

अपनी प्रथम रचना 'चैतन्यचरितामृत' काव्य के कतिपय श्लोकों को कर्णपूर ने 'अलङ्कारकौस्तुभ' में परिवर्तन के साथ उद्धृत किया है। उदाहरण स्वरूप महाकाव्य का प्रस्तुत श्लोक

स्मरसमरसमाप्तौ वीतभङ्गीभवद्भ्रूः किमपि किमपि मन्दं मन्दमामीलिताक्षी।
धनुरिव चिरसज्यं ज्याविहीनं विधत्ते शरमिव चिरमुक्तं तूणमध्ये करोति।।[1]

का पाठान्तर 'अलङ्कारकौस्तुभ' में इस प्रकार है,

स्मरसमरसमाप्तौ वक्रतां भ्रूरहार्षीदजनिषत मृगाक्ष्या वीतलक्ष्याः कटाक्षाः।
धनुरिव कुसुमेषोर्ज्याविमुक्तं तदासीद् विविशुरिव निर्षङ्गे मुक्तशेषाः पृषत्काः।।[2]

इन दोनों श्लोकों की तुलना से स्पष्ट हो जाता है कि प्रारम्भिक रचना 'काव्य' में कवि ने सम्भवतः अनुप्रास की छटा से मुग्ध होकर भवभूति के 'उत्तररामचरितम्' के 'किमपि किमपि मन्दमन्दमासत्ति[3] इत्यादि के पूर्व भाग को यथायथ ग्रहण कर लिया था। 'अलङ्कारकौस्तुभ' रचना के समय तक प्रौढ़ कवि अपनी इस अनुकरण की प्रवृत्ति के विषय में सम्भवतः सचेतन हो गये थे अतः उस पंक्ति को उन्होंने पूर्णतः परिवर्तित कर दिया। इसी प्रकार 'अलङ्कारकौस्तुभ' में वर्णित मृगाक्षियों के वीतलक्ष्य कटाक्षों से जो अर्थ गुञ्जित हो रहा है वह आमीलिताक्षियों के वर्णन से नहीं निकलता है। 'काव्य' के श्लोक के उत्तरवर्ती भाग में कामदेव का स्पष्ट कथन न होने के कारण कल्पना में क्लिष्टता आ गई है। 'अलङ्कारकौस्तुभ' में 'कुसुमेषो......' पद का प्रयोग करके लेखक ने उस त्रुटि का परिमार्जन कर दिया है।

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि 'अलङ्कारकौस्तुभ' के रचना-काल तक कर्णपूर पर्याप्त काव्य-नैपुण्य प्राप्त कर चुके थे।

कर्णपूर की तृतीय कृति 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' के तो अनेकों श्लोक परिवर्तित तथा अपरिवर्तित रूप में 'अलङ्कारकौस्तुभ' में उपस्थित होकर उसकी रचना के क्रम को

---

[1] चै०च० (काव्य) 17/75

[2] 4/10

[3] 1/27

निर्धारित करने में सहायता करते हैं। यहाँ 'आनन्दवृन्दावन चम्पू' का एक श्लोक उद्धृत किया जा रहा है जिसे कर्णपूर ने 'अलङ्कारकौस्तुभ' में उसी रूप में ले लिया है-

जय श्रीमद्वृन्दावनमदननन्दात्मजविभो। प्रियाभीरवृन्दारक निखिलवृन्दारकमणे।
चिदानन्दस्यन्दाधिकपदारविन्दासव नमो। नमस्ते गोविन्दाखिलभुवनकन्दाय महते।।[1]

इसके अतिरिक्त भी 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' के अनेक श्लोक स्वल्प परिवर्तन के साथ 'अलङ्कारकौस्तुभ' में दृष्टिगोचर होते हैं[2]। इससे 'अलङ्कारकौस्तुभ' का 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' से परवर्ती होना सूचित होता है।

तदनन्तर 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक, जिसका रचनाकाल स्वयं कर्णपूर के अनुसार 1572 ई० है[3] के भी श्लोक स्वल्प परिवर्तन के साथ 'अलङ्कारकौस्तुभ' में मिलते हैं [4]। 'चैतन्यचन्द्रोदय' का यह श्लोक-

सर्वे रसाश्च भावाश्च तरङ्गा इव वारिधौ
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेमसंज्ञकः।[5]

का परिवर्तित रूप 'अलङ्कार कौस्तुभ' में इस प्रकार है,

उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेमण्यखण्डरसत्वतः।
सर्वे रसाश्च भावाश्च तरङ्गा इव वारिधौ।[6]

इन दोनों श्लोकों में सामान्य सा प्रतीत होने पर भी भावाभिव्यक्ति तथा काव्यात्मकता की दृष्टि से यह महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है। 'चैतन्यचन्द्रोदय' के श्लोक में कवि ने अपने वक्तव्य को 'दशरूपककार' द्वारा व्यभिचारिभाव के प्रतिपादन के लिये रचित श्लोक की

---

[1] आ०वृ०च०, 15/249, तथा अलङ्कारकौस्तुभ, 5/36

[2]

आ०वृ०च०	अलङ्कार कौस्तुभ	आ०वृ०च०	अलङ्कार कौस्तुभ
20/107	5/59	14/32	5/56
20/126	6/60	19/98	5/261
14/38	5/57	19/93	8/230
	14/98	8/236	

[3] नाटक पृ० 207

[4] नाटक, 3/55 अलङ्कार कौस्तुभ, 7/3
वही, 3/32 वही, 7/72

[5] नाटक, पृ० 44

[6] 5/35

शैली में मात्र एक उपमा के द्वारा स्पष्ट कर दिया है[1] परन्तु 'अलङ्कारकौस्तुभ' में प्रेमण्यखण्डरसत्वतः कहकर कर्णपूर ने प्रेम रस में अखण्डरसता को हेतु बतलाकर उसे अन्य रसों से विलक्षण सिद्ध कर दिया है। नाटक से 'अलङ्कारकौस्तुभ' में कहीं-कहीं परिमार्जन स्पष्ट है। अन्यत्र नाटक के श्लोक का सामान्य परिवर्तन के साथ प्रयोग 'अलङ्कारकौस्तुभ' में हुआ है, यथा-

का विद्या हरिभक्तिरेव न पुनर्वेदादिनिष्णातता
कीर्तिः का भगवत्परोऽयमिति या ख्यातिर्न दानादिजा।
का श्रीः कृष्णरतिर्न वै धनजनग्रामादिभूयिष्ठता
किं दुःखं भगवत्प्रियस्य विरहो नो हृद्व्रणादिव्यथा।।[2]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि नाटक रचना के अनन्तर ही 'अलङ्कारकौस्तुभ' की रचना हुई थी।

गौरगणोद्देशदीपिका

कविकर्णपूर ने 'गौरगणोद्देशदीपिका' के अन्त में ग्रन्थ रचना की तिथि स्वयं दी है परन्तु उसमें एक पाठ भेद होने से रचना-तिथि विवादास्पद बन गयी है। अधिकतर पाठ इस प्रकार है-

शाके वसुग्रहमिते मनुनैव युक्ते ग्रन्थोऽयमाविरभवत् कतमस्य घस्रात् [3]।

इसके अनुसार 1468 शक अर्थात् 1576 ई० में 'गौरगणोद्देशदीपिका' की रचना होने का पता चलता है परन्तु इण्डिया ऑफिस में संरक्षित पाण्डुलिपि का पाठ इस प्रकार है-

'शाके रसारसमिते मनुनैव युक्ते.......' [4]।

तदनुसार ग्रन्थ रचना 1466 शक अर्थात् 1544 ई० की माननी चाहिए। दे महोदय ने 1576 ई० को ही ग्रन्थ रचना का काल स्वीकार किया है क्योंकि इस ग्रन्थ में श्रीचैतन्य तथा उनके परिकरों को जो कृष्ण तथा उनके परिकरों के रूप में निर्धारित किया गया है, वह पर्याप्त देर से विकसित सिद्धान्त प्रतीत होता है। यद्यपि 1542 ई० में रचित कर्णपूर के 'चैतन्यचरितामृत' काव्य में नित्यानन्द को बलराम, अद्वैत को शिव तथा श्रीवास को नारद का अवतार माना गया है तथापि इस सिद्धान्त को 'गौरगणोद्देशदीपिका' के परिपक्व सिद्धान्त तक पहुँचने में 1576 ई० हो जाना सम्भव है। इसी के साथ ही दे महाशय श्रीरूपरचित 'राधाकृष्णगणोद्देशदीपिका' जिसका रचना काल 1550 ई० है, को

---

[1] विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिमग्नाः कल्लोला इव वारिधौ।। धनञ्जय, दशरूपक, 4/7

[2] 8/237-नाटक में इस श्लोक की तृतीय पंक्ति इस प्रकार है, 'का श्रीः तत्प्रियता.....' पृ० 128

[3] Haraprasad Sastri's Noticies, ii, No. 60 (pp. 49-50), Aufrecht's Leipzig Catalogue No. 721, तथा राधारमण प्रेस से 'गौरगणोद्देशदीपिका' के प्रकाशित संस्करण, इन तीनों में ऊपर दिया हुआ पाठ मिलता है।

[4] S.K. De, VFM, p. 45, Footnote 2

'गौरगणोद्देशदीपिका' का सम्भावित प्रेरणा स्रोत स्वीकार करते हैं। इस कारण से पश्चाद्वर्ती तिथि उचित प्रतीत होती है[1]।

शिवप्रसाद भट्टाचार्य केवल एक पाण्डुलिपि के आधार पर पूर्ववर्ती तिथि को स्वीकार करना अनुचित समझते हैं। उनकी मान्यता है कि जब कर्णपूर 'गौरगणोद्देशदीपिका' में लगभग 1490 शक (1568 ई०) में रचित 'भक्ति रत्न-प्रकाश'[2] तथा प्रबोधानन्द रचित 'चैतन्यचरितामृत'[3] का उपयोग करते हैं तो इसे पश्चाद्वर्ती मानना ही उचित है।[4]

काल-क्रम की दृष्टि से 'गौरगणोद्देशदीपिका' कर्णपूर की अन्तिम रचना है क्योंकि इसमें लेखक ने अपनी पूर्ववर्ती रचनाओं का यत्र तत्र उद्धरण उपस्थित किया है। इसका मङ्गलाचरण कर्णपूर ने अपनी प्रारम्भिक कृति 'चैतन्यचरितामृत काव्य' से उद्धृत किया है [5]। अपने परवर्ती ग्रन्थ 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' के प्रारम्भ में गुरु श्रीनाथ को जो नमन किया गया था, उसी श्लोक को 'गौरगणोद्देशदीपिका' में उसी रूप में उद्धृत किया गया है चम्पू से परवर्ती तथा प्रौढ़ रचना 'चैतन्यचन्द्रोदय' के नामोल्लेख के साथ उसके अनेकों[6] श्लोकों को भी उसी रूप में 'गौरगणोद्देशदीपिका' में यत्र तत्र सङ्कलित किया गया है[7]। अतः यह स्पष्ट है कि रचनाक्रम की दृष्टि से 'गौरगणोद्देशदीपिका' कर्णपूर की अन्तिम रचना है।

रचना मूल्याङ्कन

स्पष्ट है कि कविकर्णपूर ने विविध विधाओं से सम्बन्धित ग्रन्थों की रचना की।

---

[1] वही, पृ० 46 पादटीका

[2] साद्य राघवगोस्वामीगोवर्धनकृतस्थितिः। भक्तिरत्नप्रकाशाख्यग्रन्थो येन विनिर्म्मितः।, गौ०ग०दी०, 162

[3] तुङ्गविद्या व्रजे यासीत् सर्वशास्त्रे विशारदा। सा प्रबोधानन्दयतिगौरोद्गानसरस्वती। वही, 163

[4] S.P.Bhattacharya, Two Ascriptions Examined, Our Heritage, Vol.-IV, Pt. I. 1956, p. 11

[5] यः श्रीवृन्दावनभुवि पुरा सच्चिदानन्दसान्द्रो गौराङ्गीभिः सदृशरुचिभिः श्यामधामा ननर्त।
तासां शश्वद्दृढ़तरपरीरम्भसम्भेदतः किं गौराङ्ग सन् जयति स नवद्वीपमालम्बमानः ।।
चै०च०, (काव्य) 1/1; गौ०ग०दी०, 1

[6] गुरुं नः श्रीनाथाभिधमवनिदेवान्वयविधुं
नुमो भूषारत्नं भुव इव विभोरस्य दयितम्।
यदास्यादुन्मीलन्निरवकरवृन्दावनरहः
कथास्वांद लब्ध्वा जगति न जनः कोऽपि रमते।। आ०वृ०च०, 1/5, गौ०ग०दी०, 3

[7] नित्यानन्दावधूतो मह इह महितं हन्त साङ्कर्षणं यः। नाटक, पृ० 8- गौ०ग०दी०, 61

तथा- नाटक,	पृ० 9-	गौ०ग०दी,	48
वही,	पृ० 9-10,	वही,	60
वही,	पृ० 206,	वही,	34

प्रस्तुत सन्दर्भ में उनका क्रम से मूल्याङ्कन किया जा रहा है।

श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृतम् महाकाव्यम्

श्रीचैतन्य सम्बन्धित संस्कृत महाकाव्यों में कविकर्णपूर रचित 'श्रीकृष्णचैतन्याचरितामृत' महाकाव्य उल्लेखनीय है। कविकर्णपूर ने अपने पूर्ववर्ती मुरारि के काव्य को आधार बनाकर प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। ग्रन्थ के अन्त में कर्णपूर ने मुरारि के प्रति अपनी कृतज्ञता को स्पष्ट शब्दों में व्यक्त किया है-

आशैशवं प्रभुचरित्रविलासविज्ञैः कैश्चिन्मुरारिरितिमङ्गलनामधेयैः।
यद् यद्विलासललितं समलेखितज्जज्ञ-स्ततद्विलोक्य विलिलेख शिशुः स एषः।।[1]

प्रस्तुत काव्य को कर्णपूर रचित न मानकर उनके अग्रज चैतन्यदास रचित मानने का भी उल्लेख मिलता है[2] परन्तु ऐसा मानने के आधार रूप में किसी युक्ति अथवा प्रमाण को उपस्थित नहीं किया जाता है। सम्भवतः ऐसा मानने का कारण यही हो सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में कवि कहीं भी अपना स्पष्ट नामोल्लेख नहीं करता है। स्पष्ट नामोल्लेख न होने पर भी लेखक ने महाकाव्य के अन्त में स्वयं को शिवानन्द के कनिष्ठ पुत्र के रूप में परिचित करवाया है-

इह परमकृपालोगौरचन्द्रस्य कोऽपि प्रणयरसशरीर श्रीशिवानन्दसेनः।
भुवि निवसति तस्यापत्यमेकं कणीयस्तत्कृतपरममौग्ध्याच्चित्रमेतं प्रबन्धम्।।[3]

पूर्व में बताया जा चुका है कि शिवानन्द के कनिष्ठ पुत्र कर्णपूर अथवा परमानन्द दास ही थे [4]। अतः प्रस्तुत पद्य के माध्यम से कर्णपूर ने भङ्ग्यन्तर से अपना परिचय दे दिया है। कर्णपूर रचित अन्य ग्रन्थों के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि कर्णपूर प्रत्येक ग्रन्थ में अलग-अलग ढंग से अपना परिचय देने के अभ्यस्त रहे हैं। अतः प्रस्तुत काव्य को कर्णपूर रचित न मानने का कोई कारण स्पष्ट नहीं है। इसके अतिरिक्त विषय-वस्तु के प्रतिपादन, शैली तथा पाण्डित्य के आधार पर भी यह काव्य कर्णपूर का ही सिद्ध होता है। कर्णपूर रचित 'अलङ्कारकौस्तुभ' तथा 'गौरगणोद्देशदीपिका' में इस महाकाव्य के कतिपय श्लोकों को कहीं परिवर्तित तथा कहीं अपरिवर्तित रूप में उद्धृत किया गया है। लेखक अपनी ही कृति से इस प्रकार उद्धरण दे सकता है[5]।

---

[1] 20/40

[2] A.C. Bhakivedanta Swami, Teachings of Lord Chaitanya, p. 206

[3] 20/46

[4] छोट पुत्र देखि प्रभु नाम पुछि। परमानन्द नाम सेन जानाइल। चै०च०, अन्त्य, 12, पृ० 553

[5] शिवप्रसाद भट्टाचार्य की मान्यता है कि महाकाव्य के 10/75 श्लोक को कर्णपूर ने अलङ्कारकौस्तुभ (4-10) में सुधार के साथ प्रस्तुत किया है। कृष्णह्निककौमुदी के पद्य का भी ऐसा ही परिवर्तन अलङ्कारकौस्तुभ में है। इसके अतिरिक्त प्रतिलोमानुलोम तथा एकाक्षर के उदाहरणों को अलङ्कारकौस्तुभ में प्रस्तुत करके उनसे मिलते-जुलते उदाहरण प्रस्तुत किए हैं तथा नाटक के साथ साम्य आदि से यही सिद्ध होता है कि यह कृति कर्णपूर रचित है।

'चैतन्यचरितामृत' कविकर्णपूर की प्रारम्भिक रचना है। ग्रन्थ के अन्त में लेखक ने रचना-काल का उल्लेख करते हुए कहा है-

वेदा रसाः श्रुतय इन्दुरिति प्रसिद्धे शके तथा खलु शुचौ शुभगे च मासि।
वारे सुधाकिरणनाम्न्यसितद्वितीयातिथ्यन्तरे परसमाप्तिरभूदमुष्य।।[1]

अर्थात् 1464 शकाब्द (1542 ई०) के आषाढ़ मास के सोमवार, कृष्णपक्ष की द्वितीया तिथि को प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना समाप्त हुई। कर्णपूर का जन्म 1524-1527 ई० के मध्य मानने पर काव्य-रचना उन्होंने अपनी तरुणावस्था में ही की थी। प्रस्तुत महाकाव्य के एक लिपिकर विष्णुदास की उक्ति से भी इस कथन का समर्थन हो जाता है[2]। श्रीरूप कृत इस महाकाव्य की एक प्रतिलिपि का समापन काल 1467 शक है। लिपिकर की उक्ति है-'**समाप्तमिदं श्रीकृष्णचैतन्यचरितकाव्यमिति। शकाब्द 1467 आषाढ़ कृष्णप्रतिपदा......**'[3] यदि काव्य की अनुलिपि की तिथि 1467 शक अर्थात् 1545 ई० है तो महाकाव्य की ख्याति बंगाल से वृन्दावन पहुँचने तथा उसकी अनुलिपि करने में कम से कम तीन वर्ष का समय लगना स्वाभाविक ही है। अतः इस महाकाव्य को श्रीचैतन्य के तिरोभाव (1533 ई०) के नौ वर्ष पश्चात् तथा मुरारि की कड़चा की रचना के अनन्तर अर्थात् 1542 ई० की रचना मानना सर्वथा उचित है।

'चैतन्यचरितामृत' रचना के समय कर्णपूर आयु तथा काव्य रचना दोनों दृष्टि से तरुण थे। अतः मुरारि के प्रति ऋण-स्वीकार करना[4] उनका विनय प्रदर्शन मात्र नहीं है। वस्तुतः 'चैतन्य-जीवन' पर एक मात्र उपलब्ध कृति होने के कारण मुरारि के 'कड़चा' को ही कर्णपूर ने अपने महाकाव्य के प्रारम्भिक एकादश सर्गों का आधार बनाया। बीस सर्गों के महाकाव्य के इतना अधिक अपने पूर्ववर्ती काव्य से प्रभावित होने का एक कारण सम्भवतः यह भी रहा है कि अपनी अपरिपक्व लेखनी के कारण उस समय कर्णपूर में आत्मनिर्भरता का भी अभाव था। प्रत्यक्षदर्शी मुरारि द्वारा वर्णित लीला, विशेषकर नवद्वीप लीला-वर्णन से प्रेरणा लेना कर्णपूर के लिए स्वाभाविक ही था। फिर भी कुछ घटनाओं के चित्रण में मुरारि से उनकी भिन्नता भी दृष्टिगत होती है। ये परिवर्तन ऐतिहासिकता की दृष्टि से उपेक्षिणीय भी नहीं हैं क्योंकि कर्णपूर के पिता शिवानन्द चैतन्य-लीला, विशेष कर नीलाचल-लीला के प्रत्यक्ष-दर्शी थे। अन्य चैतन्य-परिकरों से भी शिवानन्द के माध्यम से कर्णपूर का सम्पर्क रहा होगा। अतः अपने काव्य के उत्तरार्ध में कर्णपूर का मुरारि के

---

[1] 20/49, वेद-4, रस-6, श्रुति-4 तथा इन्दु - 1, अर्थात् 1464 शक-1542 ई.

[2] द्र० S.K. De, VFM, p. 163, Footnote 2

[3] वृन्दावन शोध संस्थान क्रम संख्या 7686

[4] चै०च० (काव्य), 20/42

वर्णन पर निर्भर न रहकर इन प्रत्यक्ष-द्रष्टाओं के वर्णन को आधिकारिक मानकर तदनुसार अपने काव्य की घटनाओं की योजना करना उचित ही है। इसी के परिणामस्वरूप बारहवें सर्ग से जिन घटनाओं का वर्णन हुआ है यथा सार्वभौम उद्धार, दक्षिण-दिशा-भ्रमण, रामानन्द-मिलन, प्रतापरुद्र-उद्धार, वृन्दावन-भ्रमण तथा नीलाचल लीला, इन सबमें ही कर्णपूर की मुरारि से भिन्नता दृष्टिगोचर होती है।

महाकाव्य की शैली में लिखित इस काव्य का आरम्भ चैतन्यदेव के नमन से होता है। इसके बाद उनके 47 वर्ष के जीवन का पूर्ण चित्रण काव्य में प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि ऐतिहासिक पुरुष चैतन्य के जीवन की प्रायः समस्त घटनाओं का समावेश इस काव्य में हुआ है तथा लेखक ने जान बूझ कर ऐतिहासिकता का खण्डन भी नहीं किया है तथापि इसे शुद्ध ऐतिहासिक काव्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। इसका प्रधान कारण यही है कि लेखक कवि के साथ-साथ भक्त भी हैं। भक्तोचित भाव-विभोर होकर ही काव्य-रचना की गई है। परिणामतः कवि-सुलभ कल्पना तथा भक्त के भावों की बहुलता से काव्य मुक्त नहीं रह पाया है। महत्तम गुणनिधि, धीरोदात्त नायक के चरित्र के विकास तथा प्रभाव को बनाये रखने के लिये अलौकिक तथा अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन भी काव्य में आ गये हैं। यही कारण है कि कवि के रूप में समादृत होने पर भी इतिहास-वेत्ता के रूप में उन्हें स्वीकार नहीं किया जाता है।

प्रस्तुत महाकाव्य के कतिपय स्थलों में यथा अन्तिम दो सर्गों में घटनाओं के उल्लेख की अपेक्षा काव्यात्मक वर्णन अधिक उपादेय बन गया है। स्नान-दोला, गुण्डिचा-परिमार्जन, रथ-यात्रा आदि वर्णनात्मक चित्रणों में कवि अधिक रुचि लेते प्रतीत होते हैं।

पण्डित कवि ने इस महाकाव्य में कलापक्षीय कवियों के मनोनुकूल पाण्डित्य का प्रदर्शन यत्र-तत्र किया है। अपने अलङ्कारकौस्तुभ में जिस चित्र-बन्ध का सैद्धान्तिक पक्ष कर्णपूर ने उपस्थित किया था, उसी का प्रयोगात्मक रूप वृन्दावन वर्णन के अवसर पर उपस्थित किया गया है। कलापक्षीय कवियों के प्रिय एकाक्षर, द्वयक्षर, असन्ध्यक्षर, निरौष्ठ्य तथा उसके साथ गोमूत्रिका-बन्ध, मुरज-बन्ध, प्रतिलोमानुलोम, श्लोकावृत्ति, पदावृत्ति तथा अनेक प्रकार के यमक, अनुप्रासादि शब्दालङ्कारों का, विशेषकर अन्तिम दो सर्गों में, बाहुल्य से प्रयोग हुआ है। यहाँ कतिपय उदाहरण प्रस्तुत करना अप्रासङ्गिक न होगा।

पादगत प्रतिलोमानुलोम के लिये द्रष्टव्य है-

काके ने व वने के का लाव केन न के वला
शुद्धा सा र र सा द्धा शु नुति रा सु सु रा तिनु।[1]

[1] चै०च० (काव्य), 19/45

श्लोकगत प्रतिलोमानुलोम भी दर्शनीय है-

सा र सा स र सा सा रं र सा नू त न नू तना।
ना त नू न त नू सा र रं सा सा र स सा र सा।।[1]

एकाक्षर का प्रयोग इस भाँति हुआ है-

नानाना नुनि नानेने नाना नूननन्नू ननु। नाना नूने नानानान्नोने नो नाना ननुन्ननु।।[2]

स्पष्ट है कि कलात्मक शैली को कर्णपूर ने अपने महाकाव्य में अपनाया है। यह ठीक है कि कलापक्षीय कवियों के समान कविकर्णपूर ने कथानक की कहीं भी अवहेलना नहीं की है तथापि इस प्रकार की अलङ्कार-प्रियता काव्य की विषय वस्तु के साथ कठिनता से ही सामञ्जस्य बना पाती है।

शब्दालङ्कारों में अधिक रुचि लेने पर भी अर्थालङ्कार भी यत्र-तत्र दर्शनीय हैं। सुन्दर उपमानों के माध्यम से प्रस्तुत प्रकृति-वर्णन पाण्डित्य पूर्ण होते हुये भी हृदयग्राही है-

वर्षाशरत्मध्यगतः सकालः परिष्वजन्तीं शरदं चुचुम्ब।
कान्ताद्वयान्तः शयितो विलासी पार्श्ववृत्ताविव वीतनिद्राः।।[3]

अलङ्कार-प्रयोग के साथ विविध शब्दों का प्रयोग 'चैतन्यचरितामृत' काव्य का एक अन्य आकर्षण है। महाकाव्य की परम्परा का पालन करते हुए उन्होंने प्रायः सभी सर्गों को एक छन्द में बद्ध करके सर्ग के अन्त में एक या दो भिन्न छन्दों का प्रयोग किया है परन्तु दसवें सर्ग के पश्चात् शब्द वैचित्र्य दर्शनीय है। तेरहवें तथा सोलहवें सर्ग में तो उनका पिङ्गलशास्त्रीय ज्ञान भूर्त हो उठा है जहाँ उन्होंने एक-एक सर्ग में छः से लेकर नौ तक छन्दों का प्रयोग किया है। सत्रहवां सर्ग तो छन्द की दृष्टि से अपवाद ही है जिसमें कर्णपूर ने एक साथ सोलह ख्यात, अल्पख्यात तथा अख्यात छन्दों का प्रयोग किया है यथा-मञ्जुभाषिणी, श्लोक, मत्तमयूर, कलहंस, भ्रमरविलसित, दोधक, शालिनी, उपजाति, रथोद्धता, वसन्ततिलका, शशिकला, लीलाखेला, लोला, शार्दूलविक्रीडित, चन्द्रवर्त्म तथा कई अख्यात छन्द। इनके अतिरिक्त कवि ने षट्पदी श्लोक का भी प्रयोग किया है यथा-

किमेतदाश्चर्यमतीव देव कथं गतो वा कथमागतो वा।
ततः प्रभुर्दन्तविसूनरोचिश्छटा समापृक्त विलोहितौष्ठः।।
उवाच माध्वीकरसाप्लुतेन वचो विलासेन विलासवान् सः।[4]

[1] वही, 19/53

[2] वही, 19/37

[3] वही, 13/6

[4] वही, 12/49।

किसी काव्य में इस प्रकार विविध छन्द प्रयोग तथा चित्र-बन्ध प्रयाससाध्य कृत्रिम शैली का ही प्रतीक होता है तथापि इसमें सन्देह नहीं है कि सामान्य दृष्टि से बीस सर्गात्मक यह काव्य अलङ्कारों से बोझिल अथवा पाण्डित्य से क्लिष्ट नहीं बना है। पारम्परिक शैली का प्रयोग करने पर भी लेखक की लेखनी में धारा प्रवाहता तथा प्राञ्जलता है। अलङ्कारयुक्त शैली होने पर भी भाषा की सुन्दरता उपेक्षणीय नहीं है। कविकर्णपूर को भाषा में अलङ्कार, विशेषकर यमक तथा अनुप्रास का अधिकता से प्रयोग करना अच्छा लगता है। इस प्रारम्भिक रचना में अलङ्कार-आधिक्य के साथ भाषा की अपरिपक्वता का भी बोध होता है तथापि एक तरुण लेखक का यह प्रयास वस्तुतः स्तुत्य है।

प्रस्तुत काव्य का एक अन्य वैशिष्ट्य है कि एक विशेष धार्मिक-सम्प्रदाय से सम्बन्धित होने तथा उसी से सम्बन्धित कथानक को चुनने पर भी लेखक ने अपनी कृति को दार्शनिक गुत्थियों तथा वाद-विवाद से भाराक्रान्त नहीं बनाया है। स्थान विशेष पर सैद्धान्तिक मान्यताओं की स्थापना की आवश्यकता होने पर भी कवि ने सरल एवं स्वाभाविक ढंग से भावों की अभिव्यक्ति की है। उदाहरणस्वरूप बारहवें सर्ग में सार्वभौम भट्टाचार्य के साथ वादानुवाद में श्रीचैतन्य अद्वैतमत का खण्डन करके वेदान्त की व्याख्या करते हैं। अपने मत की प्रतिष्ठा हेतु 'भागवत' से उद्धरण भी उपस्थित करते हैं परन्तु इस समस्त सन्दर्भ में दार्शनिकता की बोझिलता नहीं पनप सकी अतः काव्यात्मकता की भी विशेष क्षति नहीं हुई है। इसी प्रकार तेरहवें सर्ग में चैतन्य-रामानन्द के कथोपकथन में 'भक्ति' की स्थापना किसी प्रकार की क्लिष्टता के बिना ही की गई है।

उपर्युक्त विशेषताओं से सम्पन्न होने पर भी प्रस्तुत महाकाव्य को संस्कृत के लोकप्रिय महाकाव्यों की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता है। चैतन्यदेव को नायक बनाकर उनकी अलौकिकता तथा देवत्व के प्रतिपादन में तो महाकाव्य सफल है, परन्तु रसपेशलता तथा भावाभिव्यञ्जनायुक्त उत्तम-काव्य की कोटि तक यह नहीं पहुँच सका है। काव्यात्मकता की दृष्टि से काव्य-रसिकों का कण्ठहार न बन सकने पर भी श्रीचैतन्य के समसामयिक तथा पश्चाद्वर्ती चैतन्यचरितकारों तथा भक्तवृन्द के लिये यह काव्य अत्यन्त उपादेय सिद्ध हुआ है।

कर्णपूर का 'चैतन्यचरितामृत महाकाव्य' वैष्णव समाज में कितना लोकप्रिय रहा है इसका प्रमाण तो यही है कि प्रस्तुत काव्य की रचना के केवल तीन वर्ष के अन्तराल में वृन्दावनस्थ श्रीरूप ने अपने हाथों से इसकी अनुलिपि की थी। इससे यह भी स्पष्ट हो जाता है कि न केवल बङ्गीय वैष्णवों के मध्य में इसकी लोकप्रियता रही अपितु वृन्दावन के गोस्वामियों में भी इसका समादर था। संस्कृत रसमर्मज्ञों में इसकी लोकप्रियता के

अभाव का एक कारण सम्भवतः यह भी है कि दीर्घकाल तक इसका देवनागरी लिपि में प्रकाशन नहीं हुआ अन्यथा एक व्यापक-रसिक समाज को कुछ मात्रा में आनन्द देने में प्रस्तुत महाकाव्य अवश्यमेव समर्थ हो सकता था।

कृष्णाह्निकौमुदी

'कृष्णाह्निककौमुदी' कविकर्णपूर रचित राधा-कृष्ण की नित्य-लीला से सम्बन्धित काव्य है। वैष्णव-सिद्धान्तानुसार रागानुगा-भक्ति के श्रवण-कीर्तन आदि अङ्गों में से 'स्मरण' को इसमें प्रधानता दी गई है। स्मरण से अभिप्राय भक्त के लिये अपनी भावना के अनुकूल लीला तथा आवेशादियुक्त श्रीकृष्ण तथा उनके प्रियजनों का चिन्तन करना है[1]। इस स्मरण को अनुचिन्तन भी कहा जाता है। तदनुसार तैलधारावत् अविच्छिन्न प्रवाह में अभीष्ट ध्येय वस्तु का स्मरण अनुचिन्तन है [2]।

श्रीकृष्ण की लीलाओं में से वृन्दावन लीला ही गौड़ीय वैष्णवों का प्रिय विषय है। अतः व्रज-भूमि में गोप-गोपियों के साथ की गई श्रीकृष्ण की विविध लीलाओं का स्मरण तथा भावन भक्ति का प्रधान साधक माना गया है। यह वृन्दावन लीला नित्य तथा नैमित्तिक, दो प्रकार की है। नित्य लीला श्रीकृष्ण-राधा के दिन-प्रतिदिन के आठों प्रहरों की लीलाओं से युक्त है। अष्ट-प्रहर की अवधि में सम्पन्न होने वाली लीला 'अष्ट-कालिक-लीला' कहलाती है तथा वही नित्य लीला की विषय-वस्तु होती है। कवि कर्णपूर ने राधा-कृष्ण की इसी अष्ट-कालिक लीला का चयन कर 'कृष्णाह्निककौमुदी' की रचना की है।

'कृष्णाह्निककौमुदी' छः प्रकाशों में विभाजित काव्य है। प्रथम प्रकाश में राधा-कृष्ण की निशान्त-लीला का वर्णन है। रात्रि के अवसान पर वृन्दा-प्रेषित शुकों द्वारा गाये गये पदों से राधा-कृष्ण की निद्रा-भंग होती है। रात्रि की रति-क्रीडा के चिह्नों सहित वे अपने-अपने आवास को चले जाते हैं। द्वितीय प्रकाश में 'प्रातः लीला' वर्णित है जिसमें राधा तथा कृष्ण दोनों के अलग-अलग प्रातःकालीन कृत्यों का चित्रण किया गया है। राधा के अलङ्कृत होने का सुन्दर वर्णन है। तृतीय प्रकाश में पूर्वाह्न लीला का चित्रण है। चतुर्थ प्रकाश सबसे दीर्घ है जिसमें मध्याह्न लीला का विस्तृत चित्रण हुआ है। प्रस्तुत प्रकाश का वर्ण्य विषय विविध है यथा कृष्ण के शारीरिक सौन्दर्य का चित्रण, राधा और सखियों का हास-परिहास, कृष्ण से कलह, स्नान-लीला, वन-विहार तथा अन्य अनेक क्रीड़ायें इत्यादि। पञ्चम प्रकाश में अपराह्न तथा सायंकालीन-लीला का चित्रण है। गौचारण के

---

[1] तत्र रागानुगायां स्मरणं मुख्यत्वम्। तच्च स्मरणं निजभावोचितलीलावेशस्वभावस्य श्रीकृष्णस्य तत्प्रियजनस्य च। भ०र०सि० बिन्दु, पृ० 126

[2] हरिदास दास, गौड़ीय वैष्णव अभिधान, पृ० 1482।

पश्चात् कृष्ण का गृह-प्रत्यागमन तथा अन्य व्यक्तिगत कार्य इस प्रकाश के उल्लेखनीय विषय हैं। अन्तिम प्रकाश प्रदोष लीला से प्रारम्भ होकर नैश-लीला में समाप्त होता है। यशोदा के वात्सल्य के चित्रण से प्रारम्भ होने पर भी इस प्रकाश का समापन राधा के साथ मिलन के चित्रण से होता है। इस प्रकार इन छः प्रकाशों में राधा-कृष्ण के अष्ट-प्रहरों की लीला का क्रमबद्ध चित्रण हुआ है।

'कृष्णाह्निककौमुदी' की रचना का उद्देश्य दिन-रात के किसी भी क्षण को व्यर्थ न गंवाकर अष्टकालीन लीला के अनुचिन्तन में व्यतीत करना होने पर भी इस ग्रन्थ का अपना साहित्यिक मूल्य भी है। कविकर्णपूर ने छः प्रकाशों की रचना क्रमशः मालिनी, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडितम्, स्वागता, पुष्पिताग्रा तथा मन्दाक्रान्ता छन्द में की है। पद्यों में पद-पद पर अनुप्रास की सुन्दर योजना हुई है। अन्त्यानुप्रास का एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

मौलौ बबन्ध कतमा सुमणिप्रवेकम् सन्मालतीकुसुमगर्भकान्तिसेकम्।
धम्मिल्लमुल्लसितलोहितपट्टदामा लम्बप्रलम्बयुगलेन मणीद्रधाम्ना।।[1]

कविकर्णपूर ने 'कृष्णाह्निककौमुदी' में नाना प्रकार के अनुप्रासों के साथ-साथ अर्थालङ्कारों का भी यथेष्ट प्रयोग किया है। कवि के भाषा-प्रयोग में एक वैशिष्ट्य उल्लेखनीय है। उन्होंने विविध प्रकार की सब्जियों की नाम-गणना में संस्कृत शब्दों के स्थान पर बंगला भाषा के अनेक नामों यथा आलुपटोल (परवल), ढेंडश (भिण्डी) इत्यादि का प्रयोग किया है। काव्य की भाषा सर्वत्र सरल तथा प्राञ्जल नहीं रही है। कतिपय वर्णन सुन्दर होने पर भी अतिशयोक्ति के कारण कहीं-कहीं काव्य में कृत्रिमता का समावेश हो गया है यथा अपराह्न में गौचारण के पश्चात् वन से प्रत्यागमन करते हुए कृष्ण के विरह में कातर वन के जड़ तथा चेतन पदार्थों का चित्रण[2] अतिशयोक्तिपूर्ण बन पड़ा है।

'आनन्दवृन्दावनचम्पू' के समान परवर्ती रचना के शृङ्गारिक-चित्रणों में कर्णपूर पर्याप्त संयमी प्रतीत होते हैं। उस तुलना में 'कृष्णाह्निककौमुदी' के निशान्तलीला तथा नैश-लीला के चित्रणों में कर्णपूर पर्याप्त मुखर हैं। अपनी रचना के अन्त में उन्होंने प्रस्तुत काव्य के प्रतिपाद्य को ही 'मधुपानोत्तमां लीलाम्' इत्यादि कहा है[3]। सरस-काव्य रचयिता कर्णपूर स्वयं अपनी दृष्टि में ही रसिकाचार्याग्रणी हैं-

---

[1] कृष्णाह्निककौमुदी, 2/70

[2] वही, 5/1-14

[3] वही, अन्तिम श्लोक, 1, पृ० 343

श्रीगौराङ्गकृपामयोऽवनितले श्रीमिच्छवानन्दकः
सेनोऽम्बुष्ठकुलोद्भवः सुकृतिभिः सार्धं सदा गौरदृक्।
तत्पुत्रः कविकर्णपूररसिकाचार्याग्रणीर्नीतितः
श्रीकृष्णाह्निककौमुदीति विदितं काव्यं सुकाव्यं व्यधात्।।[1]

भाषा-सौष्ठव अलङ्कार-विनियोजन, रस-परिपाक इत्यादि के होने पर भी 'कृष्णाह्निककौमुदी' को उच्चकोटि के काव्य का निदर्शन नहीं कहा जा सकता है। अतः इसकी लोकप्रियता केवल गौड़ीय-वैष्णव भक्तों तक ही सीमित रही है।

'आनन्दवृन्दावनचम्पू'

संस्कृत साहित्य की शुद्ध साहित्यिक कृति होने पर भी धार्मिक मान्यताओं के प्रचार के लिए भी चम्पू साहित्य की रचना होती रही है। बङ्गीय वैष्णव शाखा में भी अपनी धार्मिक मान्यताओं के अनुसार कृष्णकथा सम्बन्धित चम्पू की रचना हुई है। वैष्णव कवियों के इन चम्पू काव्यों में कविकर्णपूर-रचित 'आनन्दवृन्दावन चम्पू' अत्यन्त विख्यात है। यह कर्णपूर की प्रौढ़ लेखनी का फल है। 'श्रीमद्भागवत' के दशम स्कन्ध के पूर्वार्द्ध के लगभग 33 अध्यायों में वर्णित श्रीकृष्ण की बाललीला को ही कर्णपूर ने प्रस्तुत चम्पू-काव्य का आधार बनाया है। श्रीकृष्ण के जन्म से प्रारम्भ कर उनकी किशोरावस्था पर्यन्त लीलाओं का लालित्यपूर्ण वर्णन इसमें किया गया है। 'भागवत' की कथा में लेखक ने काव्यसौन्दर्य के आधान हेतु यथास्थान परिवर्तन तथा परिवर्धन किये हैं। श्रीकृष्ण की बाल्यलीला, विशेषकर पूतनादि असुरों के वध की लीला के वर्णन पर लेखक ने बल दिया है। 'भागवत' की सीधी-सादी वर्णन शैली के स्थान पर चम्पू में आलङ्कारिता तथा भाषा सौष्ठव के प्रति लेखक अधिक सजग रहे हैं। यमलार्जुन के प्रसङ्ग में इनका भाषासौष्ठव दर्शनीय है-

दूरे सदसतोरिव एकमूलयोः ज्ञानकर्मणोरिव पृथक् पृथक् काण्डयोः, सामयजुषोरिव बहुशाखयोः महाराजकीर्तिप्रतापयोरिव विदूरविस्तारयोर्गिरिवरघनवरयोरिव महासारयोःभीमानुजकार्तवीर्ययोरिवार्जुन-नामधेयोर्नकुलसहदेवयोरिव यमयोमहीरुहयोः समीपम्.....[2]।

बाईस स्तवकों में विभाजित प्रस्तुत चम्पू में धीरललित नायक श्रीकृष्ण की माधुर्य लीला का सुन्दर चित्रण किया गया है। श्रीकृष्ण की अतिमर्त्य लीला का वर्णन कवि ने इस सहजता से किया है कि वह कहीं कहीं नर लीला के समान प्रतीत होता है। 'भागवत' में कहीं राधा के नाम का उल्लेख न होने पर भी परवर्ती परम्परा के अनुसार कर्णपूर ने भी

---

[1] वही, अन्तिम श्लोक, 3, पृ० 344

[2] आ०वृ०च०, पृ० 148

नायिका के रूप में राधा का ही वर्णन किया है। नायक नायिका के रूप में श्रीकृष्ण-राधा के पूर्वराग के चित्र सुन्दर हैं। सम्भोग वर्णन में लेखक संयमी हैं। कृष्ण की बाललीला के अवसर पर वात्सल्य रस की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। पहली बार गौओं के पीछे जाते हुए कृष्ण के लिये माता-पिता की चिन्ता तथा पुत्र के लिए प्रयुक्त सावधान-वाणी माता-पिता के शाश्वत वात्सल्यपूरित हृदय की प्रतिध्वनि ही है। **'मा दूरं गाः इति एवाद्य चारय सवत्सान्, मा विलम्बश्च कार्यः शीघ्रमेवागन्तव्यम्, इति च ब्रुवाणौ पितरावथ निर्वत्य सबलः सबालसहचर सकौतुकमेव प्रथमेऽहनि कृताभ्यास इव वत्सान् चारयमास[1]।'**

न केवल वात्सल्य वरन् शृङ्गार, भय, हास्य, वीर, अद्भुत आदि रसों की अभिव्यक्ति भी यत्र तत्र सुन्दर है। चम्पू में वर्णन शैली की ओर अधिक ध्यान देने के कारण चरित्र-चित्रण गौण रह जाता है। प्रस्तुत चम्पू में भी कृष्ण-राधा के साथ चन्द्रावती, ललिता, श्यामा आदि राधा की प्रधान सखियों तथा कुसुमासव, सुदामा, श्रीदाम, सुभद्र आदि सखाओं का चित्रण होने पर भी किसी का चरित्र पूर्णरूपेण विकसित नहीं हो पाया है।

चम्पूकाव्यों की विशेषता उनकी आलङ्कारिक श्लेषबहुल एवं दीर्घसमाससम्पन्न शैली होती है। 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' इस परम्परा में अपवाद नहीं है। अपने अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा कर्णपूर ने इसमें प्रयास-साध्य अलङ्कारों तथा ऋजुतारहित बोझिल भाषा को अपनाया है। श्लेष व यमक कवि के प्रिय अलङ्कार हैं। अर्थालङ्कारों में उपमा, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, रूपक एवं अनुप्रास का बाहुल्य से प्रयोग मिलता है। क्लिष्ट भाषा माधुर्यमण्डित कृष्णलीला के लिये उपयुक्त नहीं रही है। काव्य में क्लिष्टता के आ जाने से उसमें प्राञ्जलता नहीं रही है फिर भी पाण्डित्य के निदर्शन के रूप में शास्त्रीय अप्रस्तुत विधानों का प्रयोग दर्शनीय है। युवावस्था में पदार्पण करती गोपिकाओं के शारीरिक सौन्दर्य का वर्णन करते हुए लेखक श्लेष के माध्यम से अष्ट-सिद्धियों का परिचय भी देते हैं **'किञ्च, अणिमामध्यमे, महिमा श्रोणिभारे, लघिमा वचसि, प्राप्तिरपत्रपायाम्, कामावसायिता मनसि, इशिता लावण्ये, वशिता नयनकोणयोः, प्रकाम्यं माधुर्ये इति सिद्धयोऽपि तदा तासु प्रादुरासन्[2]।**

अन्यत्र शाब्दीक्रीड़ा का प्रयोग दर्शनीय है-

सन्ति तत्र लब्धोदया दया इव शरीरिण्यः, आशुचिताः शुचिता इव मूर्तिमत्यः, मानव्योऽपि न मानव्यः, प्रतीपदर्शिन्योऽपि न प्रतीपदर्शिन्यः [3]।

[1] वही, पृ० 172

[2] वही, पृ० 238

[3] वही, पृ० 462-463

इस चम्पू में भाषा की क्लिष्टता तथा कृत्रिमता के साथ भावों की अभिव्यञ्जना भी कठिन हो गई है। अतः 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' को जनसामान्य का पाठ्य विषय न मानकर, उसे केवल सुरसिक, सहृदय तथा सुकविगणों के लिये ही समास्वाद्य माना गया है [1]।

कविकर्णपूर का व्याकरणसम्बन्धी पाण्डित्य यत्र तत्र दृष्टिगोचर होता है। व्युत्पत्ति के आधार पर वे ऐसे शब्दों का नूतन रूप में प्रयोग करते हैं जो भाषा में प्रायः अप्रयुक्त ही रहते हैं। श्रीकृष्ण के प्रति ब्राह्मणियों का मन अबाधित तथा प्रकट रूप से आसक्त था। कवि ने आवरण राहित्य के लिये 'कूलनाभाव' शब्द का प्रयोग किया है - 'स्वानुकूलकूलनाभावेन भावेन मनसि.....इत्यादि[2]।' यहाँ कूल् धातु का आवरण-अर्थ ग्रहण करना कर्णपूर के व्याकरणसम्बन्धित पाण्डित्य का परिचायक है। इसी प्रकार अलङ्कारशास्त्र, धर्मशास्त्र, कामशास्त्र आदि अनेक क्षेत्रों में कर्णपूर का पाण्डित्य दर्शनीय है।

अनेक शास्त्रों में विज्ञ होने पर भी कर्णपूर की सङ्गीत सम्बन्धित विद्वत्ता विशेष रूप से पाठकों को आकर्षित करती है। चम्पू में कालियदमन के वर्णन में उन्होंने मृदङ्ग, मुरज, पणव, पण आदि वाद्यों के साथ चञ्चत्पुट, चाचपुट आदि तालों एवं लघु, गुरु, प्लुत, द्रुत-द्रुत आदि लयों का उल्लेख किया है। विभिन्न तालों के बोलों का भी उल्लेख मिलता है[3]। बीसवें स्तवक में तो कर्णपूर का संगीत-शास्त्रीय ज्ञान मूर्त रूप धारण कर लेता है। यहाँ विविध वाद्यों के उल्लेख के साथ ही अनेक शास्त्रीय विषयों का भी विवेचन किया गया है।

बाण आदि के अनुरूप आलङ्कारिक शैली के प्रयोक्ता होने पर भी कवि कर्णपूर गम्भीर भावों को भी सरल तथा सहज ढंग से प्रस्तुत करने में पारङ्गत हैं। समस्त शास्त्रों के सार रूप भक्ति की प्रतिष्ठा यद्यपि उन्होंने अपने नाटक में विस्तृत रूप से की थी तथापि इस चम्पू में भी उसी उद्देश्य की सिद्धि के लिए दार्शनिक सिद्धान्तों की व्याख्या यत्र तत्र की गई है। कहीं-कहीं उनकी सरल शैली अत्यधिक आकर्षक है। नन्दलाल को बाँधने के लये उत्सुक माता यशोदा पुत्र-भ्रांति में प्रयास करते-करते श्रान्त हो जाती है। परमब्रह्म श्रीकृष्ण को बन्धन में सीमित कर देना कठिन ही नहीं असम्भव भी है। इस गूढ़ तथ्य को चम्पूकार ने सहज रूप में व्यक्त किया है-''**न क्वचिदपि केनापि चिद्बन्धुं शक्यते न चानन्दः, न च ज्ञानम् न महोऽपितत् कथमहो चिदानन्द-ज्ञानमहोमयवपुषं तमसौ बध्नातु**[4]।' सरस भक्ति रस के बिना शुष्क अध्यात्मविद्या नीरस है तथा अध्यात्मवादी का

[1] हरिदास दास, गौड़ीय वैष्णव साहित्य, पृ० 157

[2] आ०वृ०च०, पृ० 468

[3] वही, पृ० 295

[4] वही, पृ० 143

हृदय भी कठोर तथा अनार्द्र होता है, " इस मान्यता को भोज्य पदार्थ के सन्दर्भ में कवि अत्यन्त सरलता से व्यक्त करते हैं, "**अचिरेण भो अध्यात्मविदां मनांसीव नीरसतया कठिनप्राचाण्येव, गृह्णीत यानि वत्सानुपदं धावत्सु भवत्सु न गलन्ति**"[1] परन्तु यह सरलता चम्पू में सर्वत्र विराजित नहीं है।

कर्णपूर अपनी रचना को परम्परा से चली आई चम्पू की कृत्रिमता तथा अलङ्कारों से बोझिल भाषा की श्रृंखला से मुक्त न कर पाये। भाषा की दुरूहता, पाण्डित्य का घटाटोप तथा अलङ्कारों का बाहुल्य, विशेषकर पद-पद पर प्रयुक्त यमक, श्लेष तथा विरोधाभास जैसे शब्दालङ्कारों की भरमार ने काव्य की सरल-मधुरिमा तथा ऋजु गति को म्लान एवं बाधित कर दिया है। प्रस्तुत चम्पू के रचनाकाल में वे स्वयं को, भक्ति निमज्जित होने पर भी, तत्कालीन कलापक्ष-प्रियता से मुक्त न रख पाये। उनका सहृदय कवि, भावुक मन, स्पर्शकातर हृदय इसमें गौण हो गया है परन्तु केवल इस कारण से 'चम्पू' के महत्त्व को कम करके देखना वास्तव में उसका अवमूल्य करना होगा।

प्रस्तुत 'चम्पू' की लोकप्रियता इसी से स्पष्ट है कि इस पर समय-समय पर टीकाएं लिखी गई हैं। श्री विश्वनाथ चक्रवर्ती-रचित 'सुखवर्त्तनी 'टीका अत्यधिक लोकप्रिय हुई है तथा माना जाता है कि इस टीका की सहायता से सरलता से ही इस चम्पू का अर्थ बोधगम्य हो जाता है[2]।

संक्षेप में अनेक विशेषताओं तथा कुछ दुर्बलताओं से युक्त 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' कविकर्णपूर की रचनाओं में विशेष महत्त्व रखता है। सहृदयों की दृष्टि में कादम्बरी तथा हर्षचरित को पढ़कर जो आनन्द मिलता है उससे अधिक आनन्द 'आनन्दवृन्दावन्चम्पू' को पढ़ने से मिलता है। इसके साथ ही 'श्रीमद्भागवत' की व्याख्या के लिये भी इस चम्पू का अपना महत्त्व माना जाता है[3]।

अलङ्कारकौस्तुभ

कविकर्णपूर ने अपने अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ 'अलङ्कारकौस्तुभ' में काव्य सम्बन्धित सभी विषयों का सुन्दर प्रतिपादन किया है। अपनी वृत्ति सहित दस किरणों में विभक्त इस ग्रन्थ में 'काव्यसामान्योद्देश' नामक प्रथम किरण के अन्तर्गत काव्य का स्वरूप, लक्षण,

---

[1] वही, पृ० 186

[2] हरिदास दास, गौड़ीय वैष्णव साहित्य, पृ० 157

[3] द्र० मुर्शिदाबाद से प्रकाशित, आ०वृ०च०, भूमिका भाग

प्रयोजन तथा भेद आदि महत्त्वपूर्ण विषयों का विवेचन किया गया है। अग्रिम किरणों में क्रमशः शब्दार्थ तथा उनकी वृत्तियां, ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य, रस तथा भाव, गुण, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, रीति और दोष नामक विषयों को प्रस्तुत किया गया है। उनका यह विषय-विभाजन मम्मटाचार्य रचित काव्य प्रकाश के अनुरूप है।

गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदाय के सुप्रसिद्ध भक्त कर्णपूर अलङ्कार-शास्त्रीय ग्रन्थ की रचना के समय भी भक्ति-भावना से आप्लावित थे। परिणामस्वरूप काव्य का प्रयोजन सामान्य रूप से आनन्द प्राप्ति न मानकर उन्होंने काव्य रचना के समय श्रीकृष्ण के गुण-लावण्य-केलि में चित्त को निमज्जित करने से प्राप्त प्रगाढ़ आनन्दयुक्त तन्मयता को ही स्वीकार किया है। कवि के साथ आस्वादक का भी यही प्रयोजन माना गया है[1]। कर्णपूर द्वारा स्वीकार किया गया '**कविवाङ्निर्मितिः काव्यम्**'[2] काव्य लक्षण विशेष महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उन्होंने निर्मिति से अर्थ लिया है 'असाधारण चमत्कारकारिणी रचना'[3]। इस प्रकार चमत्कार का काव्य में समावेश करना उनकी उद्भावना है।

प्रथम किरण का एक अन्य उल्लेखनीय विषय 'काव्य-भेद-विमर्श' है। कर्णपूर ने ध्वनिवादी आचार्यों से विलक्षण काव्य के चार भेद किये हैं, उत्तम, मध्यम, अवर तथा उत्तमोत्तम। उत्तमोत्तम काव्य भेद सर्वप्रथम कर्णपूर द्वारा ही प्रतिपादित हुआ है जिसमें ध्वनि से ही ध्वन्यान्तर का उद्गार होना माना गया है[4]।

प्रथम किरण के समान 'अलङ्कारकौस्तुभ' की पञ्चम किरण भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। इस प्रकरण में रस, भाव तथा उनके भेदादि को निरूपित किया गया है। रस का लक्षण करते हुए कर्णपूर ने अपनी मौलिकता व्यक्त की है। उनके अनुसार बाह्य एवं अन्तःकरण के व्यापार को स्थगित करने वाला तथा अपने कारण विभाव आदि के साथ संश्लिष्ट चमत्कार रूप सुख ही रस है[5]। यद्यपि ध्वनिवादी आचार्य रसानुभूति के समय अन्य ज्ञेय विषयों का अभाव स्वीकार करते हैं[6] परन्तु कर्णपूर की विलक्षणता यह है कि वे

---

1 यशः प्रभृत्येव फलं नास्य केवलमिष्यते। निर्माणकाले श्रीकृष्णगुणलावण्यकेलिषु।
चित्तस्याभिनिवेशेन सान्द्रानन्दलयस्तु यः स एव परमो लाभः स्वादकानां तथैव सः।।
अलङ्कारकौस्तुभ, 1/8-9

2 वही, 1/2

3 असाधारण चमत्कारकारिणी रचना हि निर्म्मितिः। वही, पृ० 2-3

4 वही, पृ० 4-5

5 बहिरन्तःकरणयोर्व्यापारान्तररोधकम्। स्वकारणादि-संश्लेषि चमत्कारि सुखं रसः। वही, 5/12

6 वेद्यान्तरसम्पर्क शून्य........। मम्मट, काव्यप्रकाश, 4 पृ० 112

चमत्कारी सुख को ही रस स्वीकार करते हैं। 'अलङ्कारकौस्तुभ' के टीकाकार विश्वनाथ चक्रवर्ती चित्त की स्फारता को चमत्कार मानते हैं अर्थात् जिस प्रकार अनेक बाह्य वस्तुओं में से सर्वोत्कृष्ट अद्भुत वस्तु को देखने से नेत्र का चमत्कार उत्पन्न होता है उसी प्रकार अन्तःवस्तुओं के मध्य में रसता की दशा में किसी अद्भुत सुख के अनुभव से उत्पन्न चित्त का विस्फारित होना ही चमत्कार है[1]। कर्णपूर ने काव्य को असाधारण चमत्कारकारी माना था सो उसी के अनुरूप सुख रूप रस को चमत्कार का आधायक माना है। इसके साथ ही उन्होंने पारम्परिक दृष्टि से विभावादि रस हेतुओं के सहयोग का भी उल्लेख किया है। उनका यह रस-विवेचन वस्तुतः अभिनव है। काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में इसका महत्त्वपूर्ण योगदान है। डॉ. रमारञ्जन मुखर्जी महोदय के अनुसार 'कविकर्णपूर' को ही सर्वप्रथम चमत्कार को काव्य के साथ साक्षात् रूप से सम्बद्ध करने का श्रेय प्राप्त है तथा 'उत्तमोत्तम' काव्य भेद मानकर चार प्रकार का काव्य स्वीकार करना काव्यशास्त्र में उनका मौलिक योगदान है तथापि भारतीय काव्य-शास्त्र के क्षेत्र में उनका रसविषयक योगदान ही सर्वोत्कृष्ट है[2]।

उल्लिखित तथ्यों के अतिरिक्त कर्णपूर ने आस्वादाङ्कुरकन्द रूप चित्त के किसी धर्म विशेष को स्थायी माना है जो रसता को प्राप्त करता है[3]। रस को प्राकृत, अप्राकृत तथा आभास भेद से तीन प्रकार का माना है। मालती-माधव-निष्ठ रस प्राकृत, कृष्ण-राधा निष्ठ रस अप्राकृत तथा अनौचित्य से प्रवर्तित रस को आभास माना गया है[4]। इसके अतिरिक्त नौ ख्यात रसों में वात्सल्य, प्रेम तथा भक्ति रस को सम्मिलित करके कर्णपूर ने बारह प्रकार के रस स्वीकार किये हैं[5]। आलङ्कारिकों ने देव-विषयक रति को भाव कोटि में रखा था, उसे रस रूप में स्वीकृति नहीं मिली थी। कर्णपूर ने भक्ति को रस मानते हुए युक्ति दी है कि निर्वेद नामक व्यभिचारी भाव स्थायी भाव बनकर शान्त-रस-रूपता को प्राप्त कर लेता है उसी प्रकार देवादिविषयक रतिभाव भी उन-उन उपयुक्त विभावादि से संवलित होकर भक्ति रस कहलाता है[6]। इस प्रकार भक्ति रस की स्थापना करने पर भी

---

[1] चित्तस्य स्फारता एव चमत्कारः। सुबोधिनी टीका, पृ० 32

[2] The Contribution of Kavi Karnapura to Indian Poetics, Anviksa, Research Journal of the Department of Sanskrit, Jadavpur University Vol. I, P. I, 1966, p. 77-86

[3] आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायी रसायते। अलङ्कारकौस्तुभ, 5/2

[4] वही, पृ० 32

[5] वही, पृ० 36

[6] यथायं निर्वेदो व्यभिचारी सन्नपि शान्तरसे स्थायितां प्राप्य रसतामाप्नोति तथा सैव देवादिविषया रतिभाव इति पारिभाषिकोऽपि भावः स्थायी सन् तत्तद्विभावादि-सामग्री समवेतोभूत्वा भक्तिरस इति...। वही, पृ० 12

कर्णपूर ने उसे शेष ग्यारह रसों के साथ एक बारहवें रस के रूप में लिया है। इसके विपरीत श्रीरूप ने काव्यगत रस को स्वीकार न करके एक मात्र भक्ति रस तथा उसके मुख्या तथा गौणी रति भेद से बारह भेद किये हैं[1]। वस्तुतः कर्णपूर काव्य-रस को विवेचित कर रहे थे इसी कारण रसों के उदाहरण कृष्ण-परक चुनने पर भी उन्होंने भक्ति के साथ अन्य काव्य रसों का भी विवेचन किया है। वैष्णव-आलङ्कारिक कर्णपूर का अलङ्कार शास्त्र के क्षेत्र में यह विशिष्ट योगदान है।

पञ्चम किरण के नायक-नायिका विभाजन में भी कर्णपूर का वैशिष्ट्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। श्रीरूप ने कृष्ण को नायक मानते हुये लौकिक नायक से पृथक् पति तथा उपपति रूप से उसका विभाजन किया था[2]। कर्णपूर ने लौकिक काव्य के नायकों के भेद-उपभेद को स्वीकृति देते हुए ही गोकुलेन्द्र तनय को सुनायक माना है[3]। नायिका भेद में भी परम्परा का पालन करते हुए वैष्णव दृष्टि से विभाजन करके उसके सिद्धा, सुसिद्धा तथा नित्य सिद्धा तीन प्रकार से और भी भेद किये हैं[4]।

छः शब्दालङ्कारों के अतिरिक्त उपमा से लेकर व्याघातपर्यन्त बासठ अलङ्कारों का विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ में हुआ है[5]। चित्र-बन्ध काव्यों में लेखक ने विशेष रुचि व्यक्त की है।

'अलङ्कारकौस्तुभ' में अधिकतर सभी उदाहरण कृष्ण सम्बन्धित हैं, जिनमें से कुछ उदाहरण उन्होंने अपनी रचनाओं से स्वल्प परिवर्तन के साथ अथवा उसी रूप में ग्रहण किये हैं[6]। अन्य वैष्णव ग्रन्थों से भी उदाहरण लिये गये हैं। इसके अतिरिक्त विविध शास्त्रीय ग्रन्थों को आधार बनाया गया है जो लेखक के बहुमुखी पाण्डित्य को द्योतित करता है।

'अलङ्कारकौस्तुभ' जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, वैष्णव मान्यता के साथ लौकिक काव्य को भी दृष्टि में रखकर लिखा गया लक्षण ग्रन्थ है। एक धर्म-विशेष के साथ अनुबन्धित होने के कारण धार्मिकता की छाप से युक्त ग्रन्थों का क्षेत्र जिस प्रकार सीमित हो जाता है[7] उसी प्रकार 'अलङ्कारकौस्तुभ' वैष्णव मान्यता के कारण एक विशेष

[1] भ०र०सि०, दक्षिण, 5/96-98,

[2] उज्ज्वलनीलमणि, नायक भेद, 9

[3] अलङ्कारकौस्तुभ, 6/35-41

[4] वही, 5/61

[5] वही, 8/75

[6] विस्तार हेतु द्र० रचना-क्रम के अन्तर्गत अलङ्कारकौस्तुभ

[7] Chintaharan Chakravarti, Sanskrit Literature of the Vaisnavas of Bengal, ABORI, Poona, Vol. X, Pt. I-II, 1929, p. 125

क्षेत्र में ही सीमित रह गया है अन्यथा अपनी मौलिक उद्भावनाओं के कारण प्रस्तुत ग्रन्थ व्यापक समादर का अधिकारी है।

गौरगणोद्देशदीपिका

गौड़ीय वैष्णव सैद्धान्तिक ग्रन्थों में 'गौरगणोद्देशदीपिका' का विशिष्ट स्थान है। कर्णपूर ने इस ग्रन्थ में श्रीचैतन्य तथा उनके परिकरों का एक विशेष दृष्टि से विवेचन किया है अर्थात् उनके व्रजलीला-कालीन तत्त्व का निरूपण किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ सामान्यतया 'गौरगणोद्देशदीपिका'[1] के नाम से विख्यात होने पर भी इसको 'गौराङ्गगणोद्देशदीपिका'[2], 'गणोद्देशदीपिका'[3] एवं 'गौरोद्देशदीपिका'[4] भी कहा जाता है। 'गणोद्देशदीपिका' के नाम से इसका एक टिप्पणी सहित बङ्गानुवाद भी प्रकाशित हो चुका है[5]।

गौरगणोद्देशदीपिका की प्रामाणिकता

'गौरगणोद्देशदीपिका' की प्रामाणिकता के सन्दर्भ में समय-समय पर सन्देह किया जाता रहा है। विमानविहारी मजुमदार ने 'चैतन्यचरितेर उपादान' नामक अपने शोधग्रन्थ में इस सन्देह के कारण तथा उसके निराकरण पर विशद प्रकाश डाला है। उनकी विवेचना के अनुसार 'गौरगणोद्देशदीपिका' को अप्रामाणिक मानने के निम्न कारण हैं (1) कृष्णदास कविराज ने इस ग्रन्थ का नाम अथवा श्लोक अपने ग्रन्थ में उद्धृत नहीं किया है। (2) ग्रन्थ में निरूपित चैतन्य के पार्षदों का तत्त्व वृन्दावन के गोस्वामियों द्वारा निर्धारित तत्त्व के अनुरूप नहीं है। (3) चैतन्यदेव को माध्व सम्प्रदाय के अन्तर्गत माना गया है[6]।

प्रथम आपत्ति का निराकरण करते हुए मजुमदार कहते हैं कि कृष्णदास कविराज ने कर्णपूर रचित महाकाव्य का नामोल्लेख अपनी रचना में नहीं किया है तथापि वे उस

---

[1] (i) Acc. No. 806, 1105 A Descriptive Catalogue of Sanskrit MSS. in Vangiya Sahitya Parishat. (ii) Acc. No. 44432 A Descriptive Cat. of the Skt. MSS., Vol. XII, Sanskrit University Library, Varanasi, 1965.

[2] Acc. No. 2510 Cat. of Skt. MSS. in the Library of the India Office, Part IV.

[3] 'गणोद्देशदीपिका' OR 'गौरोद्देशदीपिका' by Kavi Karnapura, Catalogus Catalogorum, Vol. Five, 1969.

[4] वही,

[5] गौड़ेश्वर वैष्णव कार्यालय, वृन्दावन से बङ्गाब्द 1307 में प्रकाशित

[6] द्रष्टव्य, वि०वि० मजुमदार, चै०च०उ०, पृ० 107

काव्य से परिचित थे, यह स्पष्ट है[1]। कृष्णदास कविराज के ग्रन्थ में कई स्थलों पर कर्णपूर रचित 'चैतन्यचन्द्रोदय' के अतिरिक्त उनके महाकाव्य का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। उदाहरणस्वरूप चैतन्य रामानन्द-मिलन के प्रसङ्ग के क्रमानुसार साध्य निर्णय, कर्णपूर के श्लोक विशेष तथा चैतन्य द्वारा 'बाह्य' शब्द का प्रयोग एवं रामानन्द रचित 'पहिलगि राग' इन तीनों का चयन कृष्णदास ने नामोल्लेख किये बिना ही कर्णपूर के महाकाव्य से किया है[2]। अतः किसी ग्रन्थ का नामोल्लेख न करना उस ग्रन्थ की अप्रामाणिकता को सिद्ध नहीं करता है।

'गौरगणोद्देशदीपिका' की अप्रामाणिकता का द्वितीय कारण मजुमदार ने कर्णपूर तथा वृन्दावन के गोस्वामियों द्वारा निरूपित पार्षदों के तात्त्विक अन्तर को माना है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए वे कहते हैं कि यह तात्त्विक अन्तर आकस्मिक नहीं है वरन् मूल रूप से ही गौड़ में एक प्रकार का मतवाद स्थापित हुआ था तथा वृन्दावन में दूसरे प्रकार का। अतः कर्णपूर ने जानबूझकर ही स्वरूपदामोदर के मत का खण्डन 'गौरगणोद्देशदीपिका' में किया है[3]।

'गौरगणोद्देशदीपिका' को कर्णपूर रचित मानने के पक्ष में मजुमदार की युक्ति है कि शिवानन्दसेन के पुत्र के अतिरिक्त किसी दूसरे व्यक्ति को स्वरूप दामोदर के मत का खण्डन करने का साहस न होता[4]। 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' के समान इसमें भी लेखक ने अपने गुरु श्रीनाथ को प्रणाम किया है[5]। 'गौरगणोद्देशदीपिका' में जो अपने माता, पिता तथा दो अग्रजों का तत्त्व निरूपण[6] एवं 'जनक' कहकर शिवानन्द का उल्लेख किया है[7]। उससे स्पष्ट होता है कि शिवानन्द के पुत्र के अतिरिक्त कोई दूसरा ऐसा नहीं लिख सक्ता था[8]।

'गौरगणोद्देशदीपिका' को अप्रामाणिक मानने वालों की धारणा यह है कि बलदेव विद्याभूषण इसके रचयिता हैं। मजुमदार महोदय की मान्यता है कि बलदेव विद्याभूषण से पर्याप्त पूर्ववर्ती विश्वनाथ चक्रवर्ती रचित 'गौरगणस्वरूप-तत्त्व-चन्द्रिका' में माध्व-गुरु - परम्परा का उल्लेख मिलता है। अतः यह मानना अनुचित है कि बलदेव विद्याभूषण ने

[1] वही, पृ० 107-108

[2] वही, पृ० 321-324

[3] द्र० 147-149

[4] वि०वि० मजुमदार, चै०च०उ०, पृ० 108

[5] गुरुं नः श्रीनाथाभिधमवनिदेवान्वयविधुं नुमो भूषारत्नं भुव इव विभोरस्य दयितम्।
आ०वृ०च०, 1/5, गौ०ग०दी०; 3

[6] गौ०ग०दी० 176, 145

[7] वही, 63

[8] वि०वि० मजुमदार, चै०च०उ०, पृ० 108

सर्वप्रथम कर्णपूर के नाम से इस मत का प्रचलन किया था। 'गौरगणोद्देशदीपिका' के कर्णपूर रचित होने का प्रमाण 'भक्तिरत्नाकर' तथा बंगला में रचित 'भक्तमाल' के उद्धरणों से मिलता है क्योंकि इन दोनों ग्रन्थकारों ने उक्त माध्व गुरु परम्परा को कविकर्णपूरकृत माना है। इन सभी बातों के आधार पर मजुमदार महाशय इस सिद्धान्त पर पहुँचते हैं कि 'गौरगणोद्देशदीपिका' कविकर्णपूर रचित ही है[1]।

इन तथ्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य तथ्य भी ग्रन्थ की प्रामाणिकता को सिद्ध करने में सहायक हैं यथा-

1. कर्णपूर ने अपनी प्रथम रचना 'चैतन्यचरितामृत' के माङ्गलिक श्लोक का 'गौरगणोद्देशदीपिका' के मङ्गलश्लोक[2] के रूप में प्रयोग किया है। स्वयं लेखक ही अपनी रचना से इस प्रकार उद्धरण दे सकता है।

2. 'गौरगणोद्देशदीपिका' में अनेक बार किसी तथ्य को सिद्ध करने के लिये लेखक ने 'चैतन्यचन्द्रोदय' की पंक्तियों अथवा घटनाओं को उद्धृत किया है। इसके साथ ही लेखक ने बहुत अपनत्व तथा अधिकार के साथ नाटक का अलग-अलग नामों यथा 'गौरचन्द्रोदय'[3] 'चैतन्यविधूदय'[4] से उल्लेख किया है। इस प्रकार का नाम परिवर्तन अपनी कृति का ही हो सकता है।

3. प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि इस ग्रन्थ-रचयिता के लिये सम्पूर्ण गौड़ीय वैष्णव साहित्य नख-दर्पण पर था। कर्णपूर की जीवनी देखने से ऐसी सम्भवाना उनके लिये सहज ही की जा सकती है।

4. 'गौरगणोद्देशदीपिका' की रचना के स्रोतों में लेखक ने जिन मथुरा, उत्कल तथा गौड़-निवासी जनों का उल्लेख किया है[5] वह स्रोत शिवानन्द-तनुज कर्णपूर को सुलभ था।

समस्त विवेचना से सिद्ध होता है कि 'गौरगणोद्देशदीपिका' कविकर्णपूर रचित प्रामाणिक ग्रन्थ है। 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक के अध्ययन के लिये 'गौरगणोद्देशदीपिका' महत्त्वपूर्ण ही नहीं वरन् 'अपरिहार्य' है। नाटक में जहां चैतन्य के लीला-वर्णन के माध्यम से नाटककार ने चैतन्य-द्वारा प्रचारित भक्ति-योग तथा दार्शनिकता की स्थापना की है वहाँ 'गौरगणोद्देशदीपिका' में चैतन्य तथा उनके परिकरों की व्रजलीला की स्थिति वर्णित है।

---

[1] वही, पृ० 107-110,

[2] यः श्रीवृन्दावनभुवि पुरा सच्चिदानन्दसान्द्रो गौराङ्गीभिः सदृशरुचिभिः श्यामधामा ननर्त्त। तासां शश्वद्दृढतरपरीरम्भसम्भेदतः किं गौराङ्गः सन् जयति स नवद्वीपमालम्बमानः कर्णपूर, चै०च० (काव्य) 1/1, गौ०ग०दी०,1

[3] गौ०ग०दी०, 34. 59

[4] वही, 48

[5] विलोक्यान्यानि साधूनां मथुरौड्रनिवासिनाम्। गौडीयानामपि मुखान्निशम्य स्वमनीषया।। विविच्याम्रेडितः कैश्चित् कैश्चित्तानि लिखाम्यहम्। वही, 5।

नाटक की दार्शनिक मान्यताओं के आधार रूप में इसे लिया जा सकता है। अतः कर्णपूर की अन्य रचनाओं की अपेक्षा इसका मूल्य अधिक है। 'गौरगणोद्देशदीपिका' वैष्णव सम्प्रदाय का एक अत्यन्त उपादेय सैद्धान्तिक ग्रन्थ है। श्री चैतन्यदेव के जीवन-चरित को आधार बनाकर 'चैतन्य-चरितामृत' महाकाव्य तथा 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक लिखकर कविकर्णपूर ने जहाँ एक ओर काव्य के माध्यम से चैतन्य के जीवन की लीलाओं का प्रचार-प्रसार किया वहीं पर 'गौरगणोद्देशदीपिका' के माध्यम से उन्होंने श्रीचैतन्य तथा उनके परिकरों का सैद्धान्तिक तत्त्व निरूपण किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुसार श्रीचैतन्य साक्षात् श्रीकृष्ण के अवतार हैं तो उनका प्रत्येक पार्षद अथवा प्रियजन उनकी वृन्दावन लीला से सम्बद्ध कोई गोप अथवा गोपी है। नाटक के माध्यम से जिस राधा-भाव-आस्वादन का सङ्केत चैतन्य-लीला-वर्णन द्वारा लेखक ने प्रकट किया था, प्रस्तुत ग्रन्थ में विभिन्न गोपियों के ही पार्षद रूप में आविर्भाव के वर्णन से उसी मान्यता का शास्त्रीय रूप स्पष्ट किया गया है। यद्यपि कविकर्णपूर ने अपनी इस ग्रन्थ-रचना का मूल स्रोत श्रीस्वरूपादि महात्माओं के ग्रन्थ तथा मथुरा, उत्कल तथा गौड़वासी साधुजनों के कथन आदि को ही माना है[1] तथापि मजुमदार महाशय का कथन है कि 'गौरगणोद्देशदीपिका' में भक्तगणों का जो तत्त्व निरूपण लेखक ने किया है वह कल्पनाप्रसूत नहीं है, वरन् श्रीचैतन्य भावावेश में जिस भक्त को कृष्णलीला के जिस व्यक्ति के रूप में सम्बोधित करते थे, उसी रूप में तत्त्व निरूपित किया गया है[2]।

'गौरगणोद्देशदीपिका' में लेखक ने महाप्रभु चैतन्यदेव तथा उनके कतिपय अत्यन्त प्रतिष्ठित परिकरों के साथ ही अनेक अल्पख्यात अथवा अख्यात व्यक्तियों का भी तत्त्व-निरूपण किया है जो कर्णपूर के महाकाव्य अथवा नाटक में परोक्ष में ही रह गए थे। उदाहरणरस्वरूप वृन्दावन की अणिमादि अष्टसिद्धियों को महाप्रभु ने गौड़ीय भक्त अनन्त, सुखानन्द, गोविन्द, रघुनाथ, कृष्णानन्द, केशव, दामोदर तथा राघव रूप में परिगणित किया गया है।[3] इसी प्रकार न केवल चैतन्यदेव के निकटस्थ प्रियजन वरन् उस प्रियजन के आत्मीयस्वजन यथा अद्वैताचार्य की पत्नी सीता देवी तथा पुत्र अच्युतानन्द[4] आदि व्यक्तियों पर भी यथावसर प्रकाश डाला गया है। चैतन्य-सम्प्रदाय में कालान्तर में चैतन्यदेव के समान ही नित्यानन्द तथा अद्वैतादि का परिवार भी प्रसिद्ध हो गया था।

---

[1] वही, 5

[2] वि०वि० मजुमदार, चै०च०उ०, पृ० 110

[3] गौ०ग०दी०, 96-97

[4] वही, 86-87

लेखक ने उन सबका उल्लेख किया है। श्रीचैतन्य के पञ्चतत्त्व[1] का विशद वर्णन यहीं से विस्तार पा सका है। व्यक्तिगत स्वरूप वर्णन के साथ-साथ अनेक शास्त्रीय विषयों का उद्‌घाटन भी इसमें हुआ है यथा महन्त, महत्तर आदि पारिभाषिक शब्दावली पर यथायथ प्रकाश डाला गया है[2]। विशिष्ट पार्षदों के अतिरिक्त लेखक ने चैतन्यदेव के माता-पिता[3], भाई[4], पत्नी[5] आदि पारिवारिक सदस्यों तथा अपने माता-पिता[6] भाई[7] आदि का भी तत्त्व-निरूपण किया है जो जीवन-चरित के परिचय के लिये अत्यधिक उपादेय है।

वास्तव में यदि 'गौरगणोद्देशदीपिका' का सूक्ष्म विश्लेषण किया जाए तो वैष्णव साहित्य के अध्येताओं के लिए प्रस्तुत ग्रन्थ अत्यधिक उपयोगी सिद्ध होता है। श्रीचैतन्य के जीवन को आधार बनाकर अनेक चरित काव्यों की रचना होने पर भी 'गौरगणोद्देशदीपिका' से उनके जीवन से सम्बन्धित कुछ नूतन तथ्य सामने आते हैं यथा निजभाव का आस्वादन करते हुए राधा-विरह से कातर श्रीचैतन्य पुण्डरीकाक्ष (जो पहले व्रजमण्डल में वृषभानु थे) के लिए 'तात' सम्बोधन का प्रयोग करते थे। श्रीचैतन्य के जीवन-चरित के एक अन्य रहस्य का उद्‌घाटन प्रस्तुत ग्रन्थ से हो जाता है। रामचन्द्रपुरी से चैतन्यदेव के भिक्षादि ग्रहण न करने का कारण चैतन्यदेव का सहज सङ्कोच था क्योंकि श्रीराधा की सास ने कार्यवश रामचन्द्रपुरी में प्रवेश किया था[8]।

महाप्रभु के सैद्धान्तिक पक्ष पर भी यह ग्रन्थ पर्याप्त प्रकाश डालता है। सर्वप्रथम 'गौरगणोद्देशदीपिका' ने ही महाप्रभु के माध्व-सम्प्रदाय-भुक्त होने की घोषणा की है.....' तत्र माध्वीसम्प्रदायः प्रस्तावादत्र लिख्यते' कहकर लेखक ने जो गुरु परम्परा निर्धारित की है उसके अनुसार श्रीगौरचन्द्र ने ईश्वरपुरी को गुरु रूप में वरण किया[9]। श्रीचैतन्य के साथ ही माधवेन्द्रपुरी भी इस प्रसङ्ग में माध्व-सम्प्रदाय के अन्तर्गत माने गए हैं। ऐसी नूतन सूचना देने के कारण भी 'गौरगणोद्देशदीपिका' महत्त्वपूर्ण है।

'गौरगणोद्देशदीपिका' में लेखक ने अनेक पूर्ववर्ती अथवा समसामयिक ग्रन्थों तथा

---

[1] वही, 6-12

[2] वही, 14-17

[3] वही, 37-40,

[4] वही, 58

[5] वही, 47

[6] वही, 176

[7] वही, 145

[8] जटिला राधिकाश्वश्रूः कार्य्यतोऽविशदेव तम्। अतो महाप्रभुर्भिक्षां सङ्कोचादि ततोऽकरोत्।
वही, 93

[9] वही, 21-25

लेखकों का नाम निर्देश किया है और कहीं-कहीं उन ग्रन्थों से उद्धरण भी दिये हैं। उल्लेखनीय ग्रन्थों में पद्मपुराण, शतदूषणी संहिता, भागवत पुराण, विष्णु संहिता, स्कन्द पुराण और चन्द्रोदय, चैतन्यचरित, शिवतन्त्र, भक्तिरत्नावली, चैतन्यचरितामृत (कड़चा) भक्तिरत्नप्रकाश, कृष्णप्रेमतरङ्गिणी हैं[1]। इस उल्लेख से अनेक व्यक्तियों तथा रचनाओं के काल-निर्धारण तथा ऐतिहासिकता के प्रमाण में सहायता मिल सकती है। इसी प्रकार कुछ व्यक्तियों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण तथ्य उद्घाटित हुए हैं यथा श्रीजीवगोस्वामी का नामोल्लेख मुरारिगुप्त की 'कड़चा' अथवा 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक में नहीं हुआ है परन्तु 'गौरगणोद्देशदीपिका' में उनके सादर नाम ग्रहण से[2] ज्ञात होता है कि पूर्वोल्लिखित ग्रन्थों की रचना के पश्चात् किन्तु 1576 ई० जो 'गणोद्देशदीपिका' का रचनाकाल है, से पूर्व ही जीवगोस्वामी ख्याति को प्राप्त कर चुके थे।

एक अन्य महत्त्वपूर्ण सूचना इस ग्रन्थ से मिलती है कि 'षड्गोस्वामी' पद तब तक अर्थात् 1576 ई० तक विख्यात नहीं हुआ था अन्यथा कविकर्णपूर श्रीरूप आदि का वर्णन 'षड्गोस्वामी' अभिधा के अन्तर्गत तथा एक वर्ग-भुक्त के रूप में करते जबकि उन्होंने इनका वर्णन अलग-अलग किया है[3]।

स्पष्ट है कि कविकर्णपूर रचित 'गौरगणोद्देशदीपिका' का साहित्यिक कृति के रूप में नाम न होने पर भी यह गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदाय का एक अपरिहार्य तथा बहुमूल्य ग्रन्थ है। कविकर्णपूर की साहित्यिक तथा आलङ्कारिक कृति का जहाँ अपना महत्त्व है, वहीं इस सैद्धान्तिक ग्रन्थ की उपादेयता भी किसी अंश में कम नहीं है।

---

[1] वही, 21, 22, 31, 34, 45, 77, 94, 124, 162, 203

[2] वही, 203

[3] वही, 180-182, 194, 186, 206

तृतीय परिच्छेद

चैतन्यचन्द्रोदय – कथावस्तु
कथासार
चैतन्यचन्द्रोदय – मूलस्रोत
कविकृत परिवर्तन
गौड़ीय वैष्णव साहित्य के परिप्रेक्ष्य में कथावस्तु की ऐतिहासिकता
नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से कथावस्तु–विवेचन
अर्थोपक्षेपक
गर्भाङ्क–दान विनोद
अभिनेयता
संवाद

तृतीय परिच्छेद
चैतन्यचन्द्रोदय-कथावस्तु

नाटक के तत्त्व

संस्कृत नाट्यशास्त्र के अनुसार वस्तु, नेता तथा रस के आधार पर रूपक के भेद किये गये हैं[1]। नाटक के प्रधान तत्त्व ये ही तीन हैं। अर्वाचीन दृष्टि में नाटक के छः तत्त्व स्वीकार किये गये हैं-कथावस्तु, पात्र, कथोपकथन, वातावरण, भाषा-शैली तथा उद्देश्य [2]। प्राचीन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित तीनों तत्त्वों में ही अतिरिक्त तीन तत्त्वों का भी समावेश हो जाता है यथा नेता अथवा चरित्र-चित्रण में कथोपकथन अथवा संवाद का तथा रसाभिव्यक्ति में भाषा-शैली तथा उद्देश्य का अन्तर्भाव हो जाता है। वातावरण को अलग से तत्त्व मानने की आवश्यकता अनुभव नहीं की गई।

अस्तु, 'चैतन्यचन्द्रोदय' ऐतिहासिक, धार्मिक, दार्शनिक तथा कुछ अंशों में प्रतीकात्मक नाटक है परन्तु उल्लेखनीय विषय तो यह है कि प्रस्तुत कृति कविकर्णपूर के चैतन्य के प्रति प्रगाढ़ अनुराग का परिणाम है। कर्णपूर अनुराग के मार्ग को शास्त्रीय मार्ग से पूर्णतया पृथक् मानते हैं। उनकी मान्यता यह है कि शास्त्रीय मार्ग नियमानुवर्तिता को मानता है जबकि अनुराग का मार्ग अनियमितता को ग्रहण करता है[3]। सम्भवतः इसी के परिणाम स्वरूप कर्णपूर ने नाटकीय तत्त्वों का अपने नाटक में प्रायः पूर्णतया पालन नहीं किया है तथापि नाटकीय समीक्षा करते हुए कथावस्तु, चरित्र-चित्रण, रस इन तीनों तत्त्वों के अतिरिक्त दार्शनिकता के अन्तर्गत उद्देश्य, काव्य की दृष्टि से मूल्याङ्कन के अन्तर्गत भाषा-शैली एवं सामाजिक अवस्था के अन्तर्गत वातावरण को लिया गया है। संवाद अथवा कथोपकथन का विवेचन कथावस्तु के सन्दर्भ में किया गया है।

नाटक-कथासार

नाटक की प्रस्तावना से सूचना मिलती है कि श्रीचैतन्य के तिरोभाव से राजा प्रतापरुद्र आकुल हैं अतएव रथ-यात्रा के अवसर पर मनोविनोद के लिये चैतन्य-लीला सम्बन्धी अभिनय का आदेश हुआ है। परिणामस्वरूप प्रस्तुत नाटक 'चैतन्यचन्द्रोदय' का

---

[1] वस्तुनेतारसस्तेषां भेदकः। दशरूपक, 1/11

[2] श्यामसुन्दर दास, साहित्यालोचन, पृ० 86

[3] शास्त्रीय खलु मार्गः पृथगनुरागस्य मार्गोऽन्यः।
प्रथमोऽर्हति सनियमतामनियतामन्तिमो भजते। नाटक, पृ० 49

अभिनय होने जा रहा है। यहीं चैतन्य की भगवत्ता का परिचय मिलता है।

प्रथम अङ्क के प्रारम्भिक विष्कम्भक में कलि तथा अधर्म के कथोपकथन से चैतन्य के जन्म, उनके शैशव, विवाह, अग्रज विश्वरूप का संन्यास, चैतन्य का गया-गमन तथा वहाँ ईश्वरपुरी से दीक्षा ग्रहण, प्रेमावेश में नवद्वीप प्रत्यागमन, सङ्कीर्तन-लीला, जगन्नाथ माधव-उद्धार आदि घटनाओं की सूचना मिलती है। यहीं आनन्दमय चैतन्य की भगवत्ता स्थापित की जाती है।

प्रथम अङ्क में अद्वैत के आह्वान पर चैतन्य के गोकुल से अवतरण तथा मधुर रस-आस्वादन की सूचना दी गई है। श्रीवास के देवालय में उनका महाभिषेक होता है। श्रीवास की प्रारम्भिक जीवन-कथा सुनाई जाती है। तदनन्तर अद्वैत के अनुरोध पर अध्यात्मवादी मुरारि तथा मुकुन्द का उद्धार साथ ही शुक्लाम्बर ब्रह्मचारी पर कृपा-कटाक्ष की घटना घटित होती है। अङ्क के अन्त में श्रीचैतन्य की माता शची को पुत्र की भगवत्ता का प्रत्यक्ष अनुभव होता है।

द्वितीय अङ्क के प्रारम्भ में विराग देश की धार्मिक दृष्टि से दुर्दशा की सूचना देता है। भक्तिदेवी उसे भक्तियोग की स्थापना के लिये अवतरित चैतन्य (विश्वम्भर) का परिचय देती है तथा नवद्वीप के घर-घर में सरस भक्ति-विस्तार की सूचना देती है। भक्ति के कथन से चैतन्य के विविध अवतारों के प्रदर्शन का भी बोध होता है। यवन दर्जी के अवधूत रूप में परिणत होने की सूचना दी जाती है। चैतन्य के प्रेमावेश में मूर्च्छित होने की बात नाटक में प्रथम बार यहीं बतायी जाती है। भगवान् की कृपा से कुष्ठ रोगी के उद्धार की चर्चा भी यहीं हुई है।

भक्ति तथा विराग के निष्क्रमण के बाद चैतन्य का सपरिकर मञ्च पर आगमन होता है जहाँ नित्यानन्द को षड्रूप दिखलाने की सूचना मिलती है। अद्वैत के अनुरोध पर चैतन्य उसे अपना षड्रूप दर्शन करवाते हैं जिसके आधार पर उसे श्रीकृष्ण तथा चैतन्य के ऐक्य की प्रतीति होती है।

तृतीय अङ्क के प्रवेशक का आरम्भ मैत्री तथा प्रेमभक्ति के कथोपकथन से होता है। मैत्री कलि के अत्याचार से सन्त्रस्त है पर प्रेमभक्ति उसे अवलम्बन देती है। यहीं यह ज्ञात होता है कि राधाभाव के आस्वादन हेतु तथा भक्तों को भी उसका आस्वादन करवाने के लिये 'श्रीमद्भागवत' की 'दान-लीला' प्रसङ्ग के आधार पर अभिनय होगा।

तृतीय अङ्क में 'दान-विनोद' अभिनीत होता है जिसमें चैतन्य-राधा, अद्वैत-कृष्ण, गदाधर-ललिता तथा नित्यानन्द-योगमाया की भूमिका ग्रहण करते हैं। यद्यपि चैतन्य बाह्यतः राधा का अभिनय सम्पन्न करते हैं पर वस्तुतः वे कृष्ण, राधा तथा ललिता तीनों

में अपनी शक्ति से विराजित होते हैं। कतिपय अधिकारी भक्तजनों के समक्ष यह अभिनय होता है।

चतुर्थ अङ्क में शची के कथन से केशवभारती के चैतन्य के समीप नवद्वीप आने तथा चैतन्य के उनके प्रति अत्यन्त आदरभाव रखने की सूचना मिलती है। चैतन्य माता से कुछ दिनों के लिये बाहर जाने की अनुमति लेते हैं। शान्तिपुर से आये हुये अद्वैत के साथ श्रीवास-प्राङ्गण में उनका रात भर नृत्य सङ्कीर्तन चलता है। प्रातःकाल उनके किसी को बिना बतलाये चले जाने के कारण भक्त-मण्डली में आकुलता व्याप्त हो जाती है। उनके रोदन तथा विलाप के मध्य ही पता चलता है कि आचार्य-रत्न तथा नित्यानन्द चैतन्य के साथ गये हैं। इससे पार्षदों को कुछ आश्वासन मिलता है। तीन दिन के पश्चात् आचार्यरत्न आकर अद्वैतादि को सूचना देते हैं कि नवद्वीप से कांटोया ग्राम में जाकर चैतन्य ने केशवभारती से संन्यास की दीक्षा ली है तथा वे प्रेमावेश में चल पड़े हैं। नित्यानन्द उनके साथ ही गये हैं। चैतन्य ने संन्यास आश्रम के लिए उचित नाम 'श्रीकृष्ण चैतन्य' ग्रहण कर लिया है। पञ्चम अङ्क में वृन्दावनगामी प्रेमोन्मत्त चैतन्य के दर्शन होते हैं जिन्हें बाह्य-बोध नहीं है। नित्यानन्द अपनी प्रत्युत्पन्नमति से यमुना के भ्रम में डालकर चैतन्य को गङ्गा तट पर ले आते हैं जहाँ नित्यानन्द की सूचनानुसार अद्वैत आ पहुँचते हैं। नौका द्वारा चैतन्यादि का अद्वैतालय में आगमन होता है तथा भिक्षा ग्रहण होता है। नूतन संन्यासी चैतन्य के दर्शनाभिलाषी असंख्य भक्त वहाँ पहुँचते हैं। अद्वैत की सूचना पाकर नवद्वीप से माता शची तथा चैतन्य-भक्त-गण भी वहीं आ जाते हैं। सबका चैतन्य से मिलन होता है।

षष्ठ अङ्क के प्रवेशक के पात्र रत्नाकर (सागर) तथा गंगा (नदी) के कथोपकथन से सूचना मिलती है कि अद्वैतालय में तीन दिन रहकर, माता शची के परामर्श से चैतन्य नीलाचल के लिये चल पड़े हैं। उनके साथ नित्यानन्द, जगदानन्द, दामोदर तथा मुकुन्द को भी भेजा गया है। राजनैतिक विषमता के कारण आवागमन सरल न होने पर भी वे अपनी भगवत्ता के कारण राजमार्ग तथा वनमार्ग से अबाधित रूप से चलते हुये तथा देव दर्शन करते हुए नीलाचल पहुँच गये हैं। मार्ग में उनके दण्ड को व्यर्थ समझकर नित्यानन्द ने तोड़ दिया है।

षष्ठ अङ्क में जगन्नाथदर्शन की सुविधा प्राप्त करने के लिये मुकुन्द के सुझाव से सभी गोपीनाथाचार्य के साथ सार्वभौम भट्टाचार्य के समीप आते हैं। चैतन्य के प्रथम दर्शन से प्रभावित सार्वभौम समस्त वाञ्छित व्यवस्था तो कर देते हैं परन्तु चैतन्य की अनुपस्थिति में गोपीनाथ को सुझाव देते हैं कि चैतन्य को पुनः वेदान्त श्रवण करवाकर किसी अच्छे सम्प्रदाय के माध्यम से संन्यास ग्रहण करवाया जाये। प्रत्युत्तर में गोपीनाथ श्रीचैतन्य को साक्षात् भगवान् स्वीकार करते हुए स्पष्ट करते हैं कि चैतन्य को संन्यास ग्रहण करने के लिये किसी बाह्य सम्प्रदाय की अपेक्षा नहीं है परन्तु सार्वभौम उनके मत का उपहास

करते हैं। परिणामतः गोपीनाथ चैतन्य के प्रति की गई इस उपेक्षा से स्वयं को अपमानित अनुभव करते हैं। इनके कथोपकथन के मध्य में चैतन्य जगन्नाथदर्शन करते हैं। सार्वभौम के सुझाव को सुनकर वे इसे अत्यन्त साधारण रूप से ग्रहण करते हैं। दूसरे दिन प्रातः काल जगन्नाथ के प्रसादान्न को लेकर वे सार्वभौम के शयन-कक्ष में जाते हैं। सार्वभौम प्रभु के प्रभाव से विमोहित हुये प्रसादान्न ग्रहण कर लेते हैं। तदनन्तर सार्वभौम श्रीचैतन्य के आवास में आकर उन्हें साक्षात् भगवान् मान कर उन्हें समस्त शास्त्रों के सार अमूर्तानन्द कृष्ण स्वीकार करते हैं। अन्त में स्वरचित दो पद्यों में कृष्ण से अभिन्न चैतन्य की स्तुति भी करते हैं।

सप्तम अङ्क में राजा गजपति प्रतापरुद्र तथा सार्वभौम के कथोपकथन से सूचना मिलती है कि राजा भी चैतन्य के दर्शनाभिलाषी हैं तथा श्रीचैतन्य उस समय दक्षिण गये हुये हैं। गोदावरी के पास रामानन्दराय के स्थान तक कुछ ब्राह्मण चैतन्य के साथ गये हैं। वे विप्र आकर सूचित करते हैं कि निरन्तर नाम सङ्कीर्तन करते हुये चैतन्य आलालनाथ तथा कूर्मक्षेत्रादि होते हुये गोदावरी के तट पर पहुँच गये हैं। मार्ग में वे कूर्म नामक ब्राह्मण के यहाँ जाते हैं तथा एक कुष्ठ रोगी कृष्ण भक्त का भी उद्धार करते हैं। गोदावरी तट पर रामानन्द राय आकर चैतन्य से मिलते हैं जहाँ रामानन्द चैतन्य के साथ कथोपकथन में राधा-कृष्ण के अनुपधि प्रेम की श्रेष्ठता को प्रतिपादित करते हैं। इसके उपरान्त पुरी में दक्षिण के राजा के अमात्य मल्लभट्ट आते हैं और राजा एवं सार्वभौम से चैतन्य की दक्षिण-यात्रा का विशद वर्णन करते हैं। तदनुसार ज्ञात होता है कि चैतन्य की दक्षिण यात्रा से वहाँ भक्ति का प्रचार हो रहा है। वे कुछ पाखण्डियों द्वारा चैतन्य के अपमान के प्रयास तथा उनके स्वयं पराजित होने का उल्लेख भी करते हैं। इसी प्रसङ्ग में राम-नाम-पाठी ब्राह्मण को चैतन्य दर्शन मात्र से कृष्ण-नाम स्फुरण तथा गीता-पाठी ब्राह्मण के साक्षात् कृष्ण दर्शन का भी उल्लेख मिलता है। अङ्क की समाप्ति पर श्रीचैतन्य के प्रत्यावर्तन की सूचना दी जाती है।

अष्टम अङ्क के प्रारम्भ में ही ज्ञात होता है कि राजा प्रतापरुद्र काशी मिश्र के आवास को चैतन्य के रहने के लिए निर्धारित कर चुके हैं। दक्षिणागत चैतन्य के दर्शन के लिये काशी मिश्र आदि के साथ सभी जगन्नाथ-सेवक आते हैं। इस अङ्क में ही चैतन्य-दर्शन के लिये आगतों में सर्वप्रथम वाराणसी से माधवेन्द्रपुरी के शिष्य परमानन्दपुरी आते हैं। तत्पश्चात् स्वरूप दामोदर का आगमन होता है। इसके बाद ईश्वरपुरी के परिचारक गोविन्द आते हैं, ब्रह्मानन्द भारती चर्माम्बर में आते हैं परन्तु चैतन्य की मौन शिक्षा से अपनी भूल को समझ कर इस बाह्याडम्बर का परित्याग कर देते हैं। तदनन्तर सार्वभौम राजा की चैतन्य-दर्शनाभिलाषा को व्यक्त की जाती हैं पर चैतन्य अस्वीकार कर देते हैं। राजा की प्रगाढ़ लालसा को जानकर सार्वभौम उन्हें जगन्नाथ-रथोत्सव के समय गोपनीय

रूप से चैतन्य-दर्शन का सुझाव देते हैं। इसी अङ्क में नवद्वीप से आए हुए अद्वैत आदि से चैतन्य-मिलन वर्णित है। अङ्क के अन्त में रथोत्सव के सङ्कीर्तन-नृत्य से क्लान्त विश्राम करते हुये चैतन्य के चरणों में सामान्य वेश में उपस्थित राजा द्वारा शरण लेने तथा राजा पर चैतन्य की कृपा का उल्लेख मिलता है।

नवम अङ्क के प्रवेशक में अष्टम अङ्क में वर्णित रथोत्सव के उपरान्त अनेकों वर्ष व्यतीत हो जाने की सूचना मिलती है। प्रवेशक के पात्र किन्नरमिथुन के कथोपकथन द्वारा इन वर्षों में घटित अनेक घटनाओं की सूचना दी जाती है जिनमें प्रत्येक वर्ष नीलाचल से आने वाले तथा नियमित रूप से नीलाचल में वास करने वाले भक्तों का नामोल्लेख भी किया जाता है। इसके अतिरिक्त चैतन्य के साक्षात्, चिन्तन-मात्र तथा परहृदयप्रवेश रूप अनुग्रह-प्रकार को बतलाया गया है। इस सन्दर्भ में नकुल ब्रह्मचारी तथा शिवानन्दसेन एवं नृसिंह ब्रह्मचारी और शिवानन्दसेन का उपाख्यान उल्लेखनीय है। इसी प्रवेशक में चैतन्य के गौड़ मार्ग से मथुरा जाने की भी सूचना मिलती है।

नवम अङ्क में रामानन्द के द्वारा तीर्थयात्री चैतन्य के भद्रक पर्यन्त अनुगमन करने का समाचार मिलता है। तत्पश्चात् 'कुलिया' नामक ग्राम तक साथ जाने वाले ब्राह्मण से ज्ञात होता है कि मार्ग में यवन सीमाधिकारी पर चैतन्य की कृपादृष्टि हुई है। नौका से यात्रा करके चैतन्य श्रीवास, शिवानन्द तथा अद्वैत के घर जाते हैं। कुलिया ग्राम में माधवदास के घर सात दिन रहते हैं। वापस लौटते हुये वे अज्ञात रूप से ही मथुरा के लिये चल पड़ते हैं परन्तु उनके साथ जाने वाले जंघाजीवियों[1] से ज्ञात होता है कि वृन्दावन में अत्यधिक प्रेमावेश के कारण बाह्यवृत्तिशून्य उनकी अवस्था से चिन्तित बलभद्र आदि ने उन्हें शीघ्र ही वृन्दावन से वापस भेज दिया है। जाते हुये प्रयाग में वे श्रीरूप से तथा पुनः वाराणसी में श्रीरूप तथा सनातन से मिलते हैं और उनसे वृन्दावन की लुप्त केलि-वार्ता का पुनः प्रचार करने को कहते हैं। इसी अङ्क के अन्त में चैतन्य वापस आ जाते हैं।

दशम अङ्क के विष्कम्भक में अद्वैत-सेवक गन्धर्व तथा किसी वैदेशिक के कथोपकथन से ज्ञात होता है कि शिवानन्दसेन प्रत्येक वर्ष नवद्वीप से तीर्थयात्रियों को अपने संरक्षण में नीलाचल ले जाते हैं। इसी प्रसङ्ग में शिवानन्द से सम्बन्धित कतिपय घटनाओं का यथा कुक्कुर की भक्ति तथा देहान्तर प्राप्ति, चैतन्य-कृपा से शिवानन्द की कराधिकारियों के अत्याचार से मुक्ति आदि का उल्लेख मिलता है। शिवानन्द के भागिनेय श्रीनाथ का परिचय भी इसी विष्कम्भक से मिलता है।

दशम अङ्क में शिवानन्द का यात्रा-सम्बन्धी कार्यक्रम-निर्धारण, श्रीकान्त का पहले ही चैतन्य के पास चल पड़ने तथा चैतन्य के साथ कथोपकथन में शिवानन्द के दो पुत्र

[1] संवाद-वहन आदि हेतु शीघ्र आवागमन के लिये पैरों को लम्बे-लम्बे बांसों में फंसाकर चलने वाले।

विशेषकर छोटे पुत्र कर्णपूर की भी उस वर्ष चैतन्य-दर्शन के लिए नीलाचल आने की सूचना दी जाती है। इस छोटे पुत्र अर्थात् स्वयं नाटककार कर्णपूर के पुरीदास से सम्बद्ध होने का सङ्केत भी यहीं मिलता है। बाद में इस यात्रादल के नीलाचल पहुँचने पर चैतन्य का आगे बढ़कर स्वागत करना वर्णित है। उल्लेखनीय है कि इसी अवसर पर शिवानन्द अपने पुत्र (कर्णपूर) को चैतन्य का परिचय देते हैं।

दशम अङ्क में अन्य उल्लेखनीय विषय है स्नान महोत्सव जिसका दर्शन गजपति प्रतापरुद्र सपरिवार करते हैं। इसके बाद रथोत्सव का विस्तृत वर्णन हुआ है जिस अवसर पर चैतन्य के मधुर सङ्कीर्तन का उल्लेख है। रथयात्रा से पूर्व चैतन्य द्वारा गुण्डिचा-मार्जन की भी विस्तृत सूचना दी गई है। रथारोहण आदि से लेकर होरापञ्चमी आदि सभी उत्सवों की सूचना इस अङ्क में दे दी गई है। साथ ही चैतन्य के प्रेमावेश का भी उल्लेख यथास्थान हुआ है। चार दिन के उत्सव के अनन्तर होरापञ्चमी के अन्तर्गत श्रीदेवी के कोपप्रयाणमहोत्सव के प्रसङ्ग में चैतन्य स्पष्ट करते हैं कि श्रीवास में नारद का अंश होने के कारण उन्हें द्वारका विलास प्रिय है तथा स्वरूप को वृन्दावन की लीला रुचिकर है। अद्वैत महाप्रभु की कृपा को ही सभी अपनों के सौभाग्य रूप में स्वीकार करते हैं तथा स्पष्ट करते हैं कि श्रीचैतन्य ने अनायास ही कलि का मन्थन करके भक्तियोग की स्थापना कर दी है एवं प्रेम नामक अत्यन्त गोपनीय पदार्थ को व्यक्त किया है। कहीं-कहीं गोपललनाओं द्वारा प्रवर्तित प्रेम तत्त्व को फैलाया है। अद्वैत धर्म, अर्थ, काम, यहाँ तक कि मोक्ष प्राप्त करने में भी अपनी अनिच्छा व्यक्त करते हैं और लोक लोकान्तरों में भी भगवान् के सहवास की ही प्रार्थना करते हैं। महाप्रभु चैतन्य भी सभी भक्तों को वृन्दावन-आसक्ति दान करने का आश्वासन देते हैं। इसके पश्चात् भरतवाक्य के साथ नाटक का समापन हो जाता है।

चैतन्यचन्द्रोदय-मूल स्रोत

'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक की रचना ऐतिहासिक पुरुष चैतन्य देव को आश्रित करके की गई है परन्तु साहित्यिक विधा, विशेषकर अभिनेय नाटक के लिये ऐतिहासिक कथानक को यथायथ ग्रहण करना सर्वदा तथा सर्वथा सम्भव नहीं होता है एवं उस कथानक को ग्रहण करने के लिये किसी स्रोत का होना भी आवश्यक होता है। संस्कृत साहित्य में प्रस्तुत नाटक से पूर्व मुरारिगुप्त द्वारा रचित 'श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृत' काव्य तथा स्वयं कविकर्णपूर द्वारा लिखित 'चैतन्यचरितामृत' महाकाव्य उपलब्ध थे। स्वाभाविक था कि कविकर्णपूर अपने नाटक के प्रतिपाद्य का ग्रहण मुरारि की रचना से ही करते क्योंकि उन्होंने अपने महाकाव्य का आधार तो पूर्णरूपेण मुरारिगुप्त के काव्य उर्फ कड़चा को बनाया था जिसमें चैतन्य का सर्वाङ्गीण जीवन चित्रित किया गया था। कड़चा में भी चैतन्य का सम्पूर्ण जीवन ही चित्रित था। सम्भवतः उक्त दोनों रचनाओं के विद्यमान होने

पर कर्णपूर को अपने नाटक में भी नायक चैतन्य के सम्पूर्ण जीवन को प्रतिपाद्य बनाना पिष्टपेषण मात्र ही लगा हो। इसकी भी पूरी सम्भावना है कि आयु की परिपक्वता के साथ-साथ नाटककार का दृष्टिकोण भी बदल गया हो और वे अपने नाटक के माध्यम से अपने अभीष्ट देव चैतन्य के ऐश्वर्य तथा अलौकिकता को ही प्रतिष्ठित करने के आग्रही हो गये हों। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये नायक चैतन्य का उत्तरवर्ती जीवन ही चित्रित करना उन्हें अभीप्सित रहा हो। अतएव 'चैतन्यचन्द्रोदय' में चैतन्य के 'गया' से प्रत्यागमन से प्रारम्भ कर नीलाचल की गम्भीरा लीला पर्यन्त जीवन का चित्रण किया गया है। कविकर्णपूर के लिये इस समस्त चित्रण में मुरारिगुप्त से प्रभावित होना कोई नई बात नहीं थी फिर भी दस अङ्कों में विभाजित इस नाटक की प्रत्येक घटना का पर्यवेक्षण स्वयं ही इस निष्कर्ष पर पहुँचा देगा कि उस घटना का मूल स्रोत मुरारिगुप्त का कड़चा है अथवा अन्य कोई स्थल और उसके लिए आवश्यक है नाटक की प्रमुख घटनाओं का अङ्कानुसार विश्लेषण तथा मुरारिगुप्त द्वारा वर्णित घटनाओं से उनकी तुलना करना और इसी से दोनों लेखकों द्वारा वर्णित घटनाओं का साम्य अथवा वैषम्य स्वयमेव स्पष्ट हो जाएगा।

प्रथम-अङ्क

प्रथम अङ्क के विष्कम्भक में कलि तथा अधर्म दो अमूर्त पात्रों के कथोपकथन के माध्यम से विश्वम्भर[1] के प्रारम्भिक जीवन की कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं को सूचित किया गया है, जो प्रायः 'कड़चा' के अनुसार हैं। मुरारि ने जिन घटनाओं का विस्तृत वर्णन किया है, कर्णपूर ने उनका सङ्केत मात्र किया है। मुरारि द्वारा वर्णित कई वर्णन यथा विश्वम्भर विवाहसंस्कार का विशद चित्रण, प्रवास गमन आदि का नाटक में परिहार किया गया है। नाटकीय घटनाओं की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करने के लिए मात्र आवश्यक सूचनाओं के रूप में इनका उल्लेख हुआ है। मुरारि से साम्य होने पर भी कहीं-कहीं इन प्रारम्भिक घटनाओं में भी अन्तर दृष्टिगोचर होता है यथा नाटक में चैतन्य अपने पिता के श्राद्ध के लिये 'गया' अकेले ही गये हैं जबकि कड़चा में उनके साथ ब्राह्मण भी गये हैं[2]।

गया में ईश्वरपुरी से मिलन की बात यद्यपि दोनों ग्रन्थों में है तथापि 'कड़चा' में उनसे केवल मिलने का ही उल्लेख हुआ है जबकि नाटक में चैतन्य के उनसे शिक्षा गुरु के रूप में मन्त्रग्रहण करने का स्पष्ट वर्णन है[3]।

---

[1] महाप्रभु चैतन्य का संन्यासाश्रम से पूर्व का नाम विश्वम्भर होने पर भी कविकर्णपूर उनके लिए सर्वत्र 'भगवान्' शब्द का उपयोग करते हैं। पुस्तक में सुविधा की दृष्टि से विश्वम्भर के साथ 'चैतन्य' शब्द का भी प्रयोग किया जा रहा है।

[2] नाटक, पृ० 11 कड़चा ; 1/15/6

[3] कड़चा, 1/15/16 नाटक ; पृ० 11

दोनों ग्रन्थों में गयाप्रत्यावृत्त चैतन्य के प्रेमावेश का वर्णन किया गया है परन्तु नाटक में 'कड़चा' की अपेक्षा प्रेमावेश के स्थान पर उनके सङ्कीर्तन आदि को अधिक महत्त्व दिया गया है[1]।

कर्णपूर ने जगन्नाथ तथा माधव नामक दो कुख्यात ब्राह्मणपुत्रों के चैतन्य से मिलने तथा चैतन्य-उपदेश प्राप्त करने एवं उससे एकदम परिवर्तित होकर परम भागवतों की पदवी को प्राप्त करने का विस्तृत वर्णन किया है। 'कड़चा' में इसका सङ्केत मात्र ही मिलता है [2]।

नाटक का प्रारम्भिक अङ्क चैतन्य के अभिषेक-वर्णन से आरम्भ होता है। कर्णपूर ने इस घटना को अत्यधिक महत्त्व देते हुये इसका विस्तृत वर्णन किया है। श्रीवास के देवगृह में चैतन्य के प्रेमावेश में आ जाने पर यह अभिषेक कार्य सम्पन्न हुआ जिसमें श्रीवास के भाइयों तथा स्त्रियों ने भी प्रत्यक्ष एवं परोक्ष योगदान दिया। परम देव के समान उनका गङ्गा जल से अभिषेक के अनन्तर नूतन वस्त्राभूषणों से उन्हें सुसज्जित किया गया। तत्पश्चात् उनकी वन्दना भी की गई[3]। स्वानन्दनिमग्न वे जब बाह्य वृत्ति को प्राप्त हुये तब उन्होंने स्पष्ट शब्दों में अद्वैताचार्य के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए कहा कि अद्वैत के अप्रतिहत प्रेमाधिक्य के कारण ही वे गोलोक से मर्त्यलोक में अवतरित हुये हैं[4]।

मुरारि ने भी इस अभिषेक का वर्णन किया है, लेकिन कुछ परिवर्तित रूप में। 'कड़चा' के द्वितीय प्रक्रम के द्वादश सर्ग में अर्थात् नित्यानन्द को षड्भुजरूप दिखलाने एवं चैतन्य के नृसिंह, शिव आदि के आवेश में आने के पश्चात् ही चैतन्य के सहसा कान्तिमान् होने का वर्णन है। उनके उस अनुपम रूप से पुलकित श्रीवास आदि ने उनका अभिषेक किया, नित्यानन्द ने उनके सिर पर छत्र धारण करवाया, गदाधर ने उनके मुख में ताम्बूल प्रदान किया। इसके पश्चात् उन पर चंवर भी डुलाये गये[5]।

प्रस्तुत 'महाप्रकाशाभिषेक' नामक सर्ग में अभिषेक का इस प्रकार वर्णन होने पर भी दोनों की वर्णन शैली में पर्याप्त अन्तर है। चैतन्य की पूजा के प्रारम्भ होने का सङ्केत इस वर्णन से मिलने पर भी नाटक में उसका विकसित रूप प्रस्तुत किया गया है। दोनों में उल्लेखनीय भेद यह है कि 'कड़चा' में इस अवसर पर अद्वैताचार्य अनुपस्थित हैं जबकि नाटक में श्रीवास के घर अभिषेक होने पर भी उसके प्रधान कर्ता अद्वैताचार्य हैं। अभिषेक

[1] नाटक, पृ० 11; कड़चा , 1/16/12

[2] नाटक, पृ० 11-12 ; कड़चा, 2/13/17

[3] पृ० 13

[4] पृ० 17

[5] 2/12/14-16

के पश्चात् मुकुन्द तथा मुरारि के उद्धार में अद्वैताचार्य की केवल उपस्थिति ही नहीं वरन् उनकी महत्ता भी स्पष्ट की गयी है क्योंकि उनके अनुरोध पर ही भगवान् ने उन दोनों का उद्धार किया[1]। इसके विपरीत 'कड़चा' के अनुसार गया से लौटे हुये चैतन्य तथा अद्वैताचार्य एक-दूसरे से अपरिचित थे, मुरारि-मुकुन्द के उद्धार तथा श्रीवास के गृह प्राङ्गण में अनेकदा कीर्तन आदि के उल्लेखों के पश्चात् ही श्रीचैतन्य का श्रीवास आदि भक्तों के साथ दर्शनोत्सुक होकर अद्वैताचार्य के घर जाने का वर्णन मिलता है[2]। मुरारि के अनुसार स्वयं विश्वम्भर ने मुकुन्द से राम पद को ब्रह्मवाचक बतलाया तथा मुकुन्द के मत की हेयता स्पष्ट करते हुये उसे समस्त फलों के दाता द्विभुज भगवान् का ध्यान करने का उपदेश दिया[3]। तदनन्तर मुकुन्द के अनुरोध पर उसके सिर पर अपने चरण-कमल रख उसे कृतार्थ किया एवं अपने दासरूप में उसे स्वीकृति दी[4]। तत्पश्चात् बिना किसी के अनुरोध के, स्वेच्छा से चैतन्य ने मुरारि को अध्यात्मपरक गीतों से हटकर हरिगान का उपदेश दिया। उनकी मान्यता थी कि यदि जीवन के प्रति अभिलाषा है और हरि के प्रेम के प्रति स्पृहा है तो मुरारि को अध्यात्मपरक गीतों का परित्याग करके हरि नाम लेना चाहिए[5]। इस वर्णन में चैतन्य के मन में मुरारि अथवा मुकुन्द के प्रति क्रोध या वितृष्णा की भावना का पता नहीं चलता है। वे एक मङ्गलाकांक्षी के समान उन दोनों को श्रेय-मार्ग का निर्देश करते हैं। कविकर्णपूर ने इस घटना का चयन यद्यपि 'कड़चा' से किया है तथापि उसमें किया गया परिवर्तन विशेष महत्त्वपूर्ण है। प्रथमतः इस घटना के माध्यम से अद्वैताचार्य के महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है। पहले स्पष्ट किया गया है कि 'कड़चा' की अपेक्षा नाटक में अद्वैताचार्य को अधिक महत्त्व दिया गया है। परम ब्रह्म श्री कृष्ण के चैतन्य-रूप में अवतरित होने का मूल कारण जहाँ अद्वैत हैं वहीं उनकी भक्ति के प्रचार-प्रसार के प्रधान सहायक भी वे ही हैं। इसीलिये महाप्रभु के निषेध करने पर भी अद्वैत ने मुकुन्द एवं मुरारि के उद्धार के लिये बारम्बार अनुरोध किया तथा उन दोनों को महाप्रभु का कृपा-पात्र बना दिया[6]। अद्वैत के अनुरोध की महत्ता को दिखलाते हुये लेखक ने वास्तव में अद्वैत के महत्त्व को ही प्रतिपादित किया है। मुरारि ने अपने 'कड़चा' में अद्वैत को इस प्रकार का महिमामय पद प्रदान नहीं किया है। इसी घटना में एक और परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है कि कड़चाकार ने अपने प्रति महाप्रभु के दृष्टिकोण को

[1] अद्वैत :- भगवन् मुरारिमुकुन्दादयोऽप्येते तव दास्यमावदातारो दातारो नयनानन्दस्य। नाटक, पृ० 13

[2] ततो जगाम पुर्यां स श्रीवासादिभिरन्वितः। अद्वैताचार्यवर्यस्य भक्तस्य दर्शनोत्सुकः। कड़चा, 2/5/1

[3] वही, 2/4/17

[4] वही, 2/4/20

[5] वही, 2/4/21-23

[6] अद्वैत- भगवन्, अनयोः प्रसीद सीदत एवेतौ, कृतमनोऽरुषा परुषापराधेन। नाटक, पृ० 20

अधिक सदय तथा प्रेम पूर्ण दिखलाया है, जबकि कर्णपूर के अनुसार चैतन्य मुरारि तथा मुकुन्द के हृदय में महान् दुर्नीति का वास मानते हैं तथा उनका अध्यात्मवादी होने के कारण दृढ़ता से तिरस्कार करते हैं[1]। उनके उद्धार के पीछे महाप्रभु की सदय भावना की अपेक्षा अद्वैत का अनुल्लंघनीय अनुरोध ही अधिक उल्लेखनीय है। कड़चाकार ने भी यद्यपि अपनी तथा मुकुन्द की अध्यात्म-विषयक रुचि को स्पष्ट किया है तथापि अन्य स्थलों के समान महाप्रभु की दृष्टि में अपने महत्त्व को ही प्रचारित किया है। कर्णपूर द्वारा किया गया यह परिवर्तन एक ओर चैतन्य सम्प्रदाय में अद्वैत की महिमा को प्रकट करता है तो दूसरी ओर चेतन्य एवं अद्वैत के इस सामीप्य से कथानक भी कुछ स्वाभाविक बन जाता है।

यद्यपि दोनों ग्रन्थों में ही श्रीवास का चैतन्य द्वारा प्रवर्तित हरि नाम सङ्कीर्तन के सन्दर्भ में विशेषरूपेण उल्लेख हुआ है तथापि कर्णपूर ने उनके जीवन से सम्बन्धित एक विशेष घटना का उल्लेख नाटक में किया है जो 'कड़चा' में अनुपलब्ध है। चैतन्य अपने साथियों के समक्ष श्रीवास की तारुण्यावस्था की एक घटना का सङ्केत देते हैं। श्रीवास, जो चैतन्य से पर्याप्त वयोज्येष्ठ हैं, याद दिलाने पर उस घटना का उल्लेख करते हुये बताते हैं कि भगवान् चैतन्य के आविर्भाव से पूर्व वे स्वयं सोलह वर्ष की आयुपर्यन्त अत्यधिक उद्दण्डतापूर्ण जीवन व्यतीत करते थे। भूल से भी कभी भगवान् का स्मरण नहीं करते थे। ऐसे विपरीतमति उनको स्वप्न में भगवान् ने सचेत करते हुये कहा कि 'श्रीवास की आयु मात्र एक वर्ष और अवशिष्ट है अतः उन्हें अपना समय व्यर्थ में नष्ट नहीं करना चाहिए।' इस उपदेश से श्रीवास में उल्लेखनीय परिवर्तन हो गया और वे 'नारदीय-पुराण' के अनुसार हरि नाम की महिमा समझ गये। भक्ति का उनमें उदय हो गया। इस प्रकार वर्ष पर्यन्त भक्ति में निमज्जित होकर अपने जीवन के अन्तिम दिन प्रह्लादचरित सुनते हुये वे गिरकर मूर्च्छित हो गये। बाद में भगवान् ने उन्हें पुनः जीवन दान देने की सूचना स्वप्न में दी।[2] श्रीवास के इस घटना को सुनाने पर चैतन्य ने उपसंहार में सबको बताया कि तभी से नारदीय शक्ति के प्रवेश से श्रीवास का शरीर विलक्षण बन गया है[3]। यद्यपि मुरारि ने भी 'कड़चा' में 'श्री नारदांश जातोऽसौ श्रीमत् श्रीवास पण्डितः'[4] कहकर श्रीवास को नारदशक्तियुक्त ही स्वीकार किया है तथापि वहाँ इस घटना का कोई सङ्केत नहीं मिलता है।

इस नाटक के प्रथम अङ्क की एक और घटना उल्लेखनीय है-माता शची का पुत्र चैतन्य के प्रति सीमित मातृ-भाव का परित्याग कर भक्तिभाव से उनका साक्षात्कार

[1] भगवान्- अद्वैत, अन्तरनयोरनयोः महानस्ति। वही, पृ० 19

[2] वही, पृ० 18-19

[3] तव तु तदेव शरीरं नारदशक्तिप्रवेशतोऽन्यदिव। वही, पृ० 19

[4] कड़चा, 1/4/7

करना। गया से वापस लौटकर सांसारिक धर्म से विमुख होकर चैतन्यदेव के सर्वदा हरिनाम सङ्कीर्तन में निमग्न रहने से शची माता का चिन्तित एवं असन्तुष्ट रहना स्वाभाविक ही था। उन्होंने चैतन्य के इस परिवर्तन का कारण उनके सहचर श्रीवास, अद्वैत, गदाधर आदि को समझा तथा उनका तिरस्कार भी किया। मुकुन्द, मुरारि तथा शुक्लाम्बर को अनुगृहीत कर श्रीचैतन्य जब आनन्दावेश में निमग्न होकर बाह्यवृत्ति रहित हो चुके थे, उस समय श्रीवास आदि ने शची माता को वहाँ उपस्थित किया जिससे अपने पुत्र को इस रूप में देखकर उनकी भ्रांति दूर हो जाये। प्रेमाविष्ट पुत्र के दर्शन करते हुए ईश्वरानुकम्पा से शची माता भक्ति के आवेश में आ गईं तथा उनकी स्तुति करते हुये चरण स्पर्श करने की इच्छा करने लगीं। श्री विश्वम्भर ने उन्हें श्रीवास आदि भागवतों के प्रति अपराधी माना तथा उस अपराध को खण्डित करने का उपदेश दिया[1]।

'कड़चा' में भी गया से लौटे हुये पुत्र को प्रेमविह्वल देखकर माता शची चिन्तित होती हैं। कालक्रम से पुत्र की प्रेम भक्ति को जानकर वह उसकी याचना भी करती हैं। पुत्र ने वैष्णवानुग्रह को ही उस भक्ति की उपलब्धि का साधन बताया[2]।

दोनों वर्णनों से यह तो स्पष्ट हो जाता है कि मुरारि की वैष्णवानुग्रह-भावना को ही कवि कर्णपूर ने ग्रहण किया है परन्तु मुरारि गुप्त के चैतन्य माता के प्रति सदय हैं। साक्षात् भगवान् होने पर भी मानव रूप में अवतरित वे अपनी माता के लिए पुत्र ही हैं। यही कारण है कि अपनी माता को दिया गया उनका उपदेश सादर एवं सस्नेह है। इसके विपरीत कविकर्णपूर के चैतन्य व्यक्तिगत सम्पर्कों की अपेक्षा भागवतों के प्रति अधिक सदय हैं। भागवत-अपराधिनी अपनी जन्म-दात्री माता को भी वे क्षमा नहीं करते हैं। भागवत प्रेम की इस भावना को उद्घाटित करने के लिये ही नाटककार ने शची सम्बन्धित इस नूतन घटना की संयोजना की है। पुत्र के प्रति माता के सीमित स्नेह भाव के तिरोहित होने पर पुत्र को परमेश बनाकर उसके प्रति अनाविल भक्ति से माता का युक्त हो जाना नाटककार की अपनी उद्भावना है। उन्होंने अपनी इस कल्पना के द्वारा शची माता को भक्ति की दृष्टि में देवकी से भी ऊपर की श्रेणी में पहुँचा दिया है[3]।

उपर्युक्त विश्लेषण से स्पष्ट हो जाता है कि नाटककार ने प्रथम अङ्क में श्रीचैतन्य के जीवन की अनेक घटनाओं का मूल मुरारि के ग्रन्थ को माना है तथा उनका यथायथ अनुकरण भी किया है, वहीं उन्होंने कुछ घटनाओं में यथेच्छ परिवर्तन एवं परिवर्धन भी

---

[1] भगवान्- देवि, यद्यपि जगज्जननी त्वमसि तथापि श्रीवासादिषु यज्जातस्तेऽपराधस्तदुपरमे परमेश्वरप्रसादस्ते भावी.......। नाटक, पृ० 22

[2] तस्या वचः श्रुत्वा मातुः स्नेहादुवाच ताम्।
वैष्णवानुग्रहान्मातस्तव तत् सम्भविष्यति।। कड़चा, 2/1/14

[3] यद्यपीशधिषणा तनयेऽभूद्देवकस्य दुहितुर्न तथापि।
भक्तिरीदृगजनिष्ट यदेषा पुत्र पद्युगजिघृक्षुरिहासीत्।। नाटक, पृ० 22

किये हैं। मुरारि वर्णित अनेक घटनाओं को अनावश्यक समझकर परिहार करने के साथ-साथ कुछ नई घटनाओं की संयोजना भी दृष्टिगोचर होती है।

द्वितीय अङ्क

द्वितीय अङ्क में एक ऐसी घटना का उल्लेख मिलता है जिसका सङ्केत मुरारि के 'कड़चा' में अनुलब्ध है। तदनुसार श्रीचैतन्य के दर्शन करते ही कोई यवन मद्यप दर्जी मदोन्मत्त होकर प्रेमविह्वल हो गया। प्रेम के आवेश के कारण अपनी बाह्य-स्थिति को विस्मृत कर मत्त-प्रायः होकर उसने नृत्य करना प्रारम्भ कर दिया। उस समय से ही अवधूत रूप धारण किए हुए उस व्यक्ति ने कीर्तन रस में ही निमज्जित रहना स्वीकार किया। यवनाचार्य का अत्याचार भी उसे पथभ्रष्ट न कर सका[1]। कर्णपूर ने इस घटना के द्वारा केवल भक्त-चरित ही नहीं वरन् ईश्वर के ऐश्वर्य प्रदर्शन का भी उल्लेख किया है।

मुरारि के समान कर्णपूर ने भी चैतन्य के विविध अवतारों के आवेश में आने का वर्णन किया है। मुरारि के ग्रन्थ में पहले नित्यानन्द को षड्भुज तथा उसके साथ चतुर्भुज एवं द्विभुज रूप दिखलाने का वर्णन है[2]। तत्पश्चात् बलभद्र आवेश का उल्लेख है, जिसमें उन्होंने मुरारि के घर जाकर सुधा की मांग की। समस्त दिन वह इसी आवेश में लीन रहे। अपराह्न में आचार्यरत्न आदि को बुलाकर आवेश में ही नृत्य किया[3]। बलराम के प्रिय पुष्प की सुगन्ध अन्यों को भी अनुभूत हुई[4]।

नाटक में भी इसी प्रकार चैतन्य के विविध अवतारों के आवेश में आने का उल्लेख हुआ है पर कर्णपूर ने केवल इसके क्रम में परिवर्तन कर दिया है[5]। कोई नवीन संयोजना नहीं की है। मुरारि द्वारा वर्णित मुरारि-गृह गमन आदि के वर्णन को उन्होंने छोड़ दिया है जो उल्लेखनीय है। इस आवेश के बाद ही बुद्ध,[6] वराह, नरसिंह आदि मुख्यावतारों का क्रमशः अनुकरण करके कुछ दिनों के पश्चात् नित्यानन्द को षड्भुज रूप दिखाने का संक्षिप्त वर्णन किया गया है[7]।

---

[1] वही, पृ० 30-31

[2] ततः सन्दर्शयामास नित्यानन्दाय स प्रभुः।
स्ववैभवं स्वमाधुर्यं कौतुकायाखिलेश्वरः।
स ददर्श ततो रूपं कृष्णस्य षड्भुजंमहत्।
क्षणाच्चतुर्भुजं रूपं द्विभुजश्च ततः क्षणात्। कड़चा, 2/8/26-27

[3] हृष्टोऽगमद्वैद्यमुरारिवेश्मनि। तत्रावदद्देहि सुधां मधूत्कटाम्। वही, 2/14/4
ततो ननर्ताखिल लोकनाथो। हलायुधावेशरसेन मत्तः।। वही, 2/14/21

[4] द्र० वही, 2/14/17-18

[5] पृ० 32-33

[6] श्री पुरीदास सम्पादित, हरिदास शर्मा, वृन्दावन से प्रकाशित नाटक में रुद्र पाठ है जो अधिक उत्तम पाठ है

[7] एवं रुद्रवराहनरसिंहमुख्यतरावतारानुकारंक्रमेण कृत्वा गते दिवसेऽहेतुककरुणेन नित्यानन्दस्य षड्भुजं रूपं तेन दर्शितम्। वही, पृ० 33

इसी अङ्क में एक अन्य घटना दृष्टि को आकर्षित करती है। किसी दिन विश्वम्भर आचार्यरत्न के घर से नृत्य कर लौट रहे थे। विश्वम्भर से कुष्ठ रोग से पीड़ित एक व्यक्ति ने कहा, 'हे शचीपुत्र विश्वम्भर ! यदि आप मेरे इस रोग को दूर कर सकें तो आप वास्तव में कमलनयन कल्याणकारी ईश्वर ही हैं, इसमें शङ्का नहीं रहेगी[1]। तब देव ने रोग से सन्त्रस्त उस ब्राह्मण को बताया कि 'वह ईश्वर तो वास्तव में दुर्लभ ही है परन्तु इस रोग से मुक्ति का एक ही उपाय है और वह है समस्त कालुष्यों का निराकरण करने वाले, भागवत श्रेष्ठ अद्वैताचार्य का चरणोदक पान। इसी से यह रोग दूर हो ज़ाएगा [2]।' इस पर आस्थावान् उस ब्राह्मण ने प्रत्युत्तर दिया कि रोग तो उनके दर्शन मात्र से ही दूर हो जाएगा। बताए हुए उपचार की क्या आवश्यकता है। इस प्रकार ईश्वर की शक्ति से वैसा करने पर उस गलिताङ्ग ब्राह्मण का शरीर पूर्वापेक्षा भी शोभनतर हो गया[3]।

मुरारि की कृति में एक मिलती जुलती घटना का वर्णन हुआ है कि किसी समय मार्ग पर चलते हुए विश्वम्भर की किसी कुष्ठ रोगी से भेंट हो गई। रोगी ने विनम्रतापूर्वक प्रणाम करके उन्हें देवदेवेश सनातन पुरुष स्वीकार करते हुये उस दुस्साध्य एवं भयङ्कर रोग से रक्षा करने का अनुरोध किया। इस पर अत्यधिक क्रुद्ध हुए विश्वम्भर ने कहा, 'अरे दुराचारी, वैष्णवविद्वेषी, श्रीवास पण्डित के साथ द्वेष करके तुम कैसे सुखी रह सकते हो। तुमने श्रेष्ठ वैष्णव को अकथनीय कहा है अतः तुम सैकड़ों जन्मों तक कुष्ठ रोग से विकलाङ्ग बने रहोगे। मैं वैष्णवों के प्रति द्वेष करने वालों का कभी उद्धार नहीं करता हूँ।' अनन्तर परिकरों के मध्य बैठे हुए विश्वम्भर ने सारी घटना श्रीवास को बता दी। श्रीवास ने उत्तर दिया, 'हे भगवन् ! मुझे ऐसा वर दीजिए कि जो मेरे प्रति अपराध करे, उसका आप उद्धार करेंगे।' प्रभु ने उनकी प्रार्थना को स्वीकृति दे दी[4]।

मुरारिगुप्त की इस घटना में यद्यपि प्रभु का क्रोध ही कुष्ठ रोगी पर व्यक्त होता है तथा श्रीवास को ही प्रभु ने महत्त्व दिया है तथापि कविकर्णपूर वर्णित घटना का मूल उत्स इसी घटना में खोजा जा सकता है। दयामय करुणानिधि चैतन्य के उज्ज्वल चित्रण को अधिक दीप्तिमान् बनाने के लिये ही सम्भवतः कर्णपूर को यह परिवर्तन करना पड़ा होगा जिससे नाटक की घटना में प्रभु के क्रोध का उल्लेख नहीं हुआ है। मुरारि ने प्रभु की वैष्णव प्रीति को महत्त्व दिया है। नाटककार ने भी प्रभु से अधिक अद्वैताचार्य के पादोदक को फलदायक बता कर उसी वैष्णव प्रीति की महिमा गाई है।

---

[1] वही, पृ० 35

[2] भगवतः प्रेमपरायणानां प्रधानतमोऽयमद्वैताचार्यः। अस्य चेत्पादोदकं पिबसि तदा पापकृतोऽयं गदो हेत्वाभावे हेतुकाभाव इति दूरी भविष्यति। वही, पृ० 36

[3] वही, पृ० 36

[4] कड़चा, 2/13/6-9

इस अङ्क में अद्वैताचार्य के शान्तिपुर से नवद्वीप आगमन, प्रभु से साक्षात्कार, भोजन आदि का वर्णन है जो मुरारि के ग्रन्थ में भी तद्रूपेण मिलता है[1]। उल्लेखनीय है कि नाटक के अनुसार श्रीवास के वासस्थल में अद्वैताचार्य श्रीचैतन्य से पूर्ववचनानुसार षड्रूप-प्रदर्शन के लिए प्रार्थना करते हैं। पहले तो प्रभु आना-कानी करते हैं परन्तु बाद में अद्वैत के अन्तःकरण में स्वरूप का आविर्भाव करते हैं। अद्वैताचार्य स्वानुभूत रूप का विशद वर्णन करते हैं जिसके आधार पर चैतन्य तथा कृष्ण का अभेद स्थापित होता है। श्रीवासादि उसे सुनकर तृप्ति का अनुभव करते हैं। प्रभु द्वारा स्वरूप का तिरोधान करने पर भी अद्वैत कुछ समय तक उसी आनन्दविह्वलता का अनुभव करते रहते हैं [2]।

मुरारिगुप्त के 'कड़चा' में इस घटना का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। नाटककार का इस सन्दर्भ में कोई अन्य स्रोत रहा होगा।

द्वितीय अङ्क की घटनाओं में यत्र-तत्र किए गए परिवर्तनों तथा परिवर्धनों के साथ-साथ दो नूतन अमूर्त पात्रों से परिचय होता है। प्रथम अङ्क के विष्कम्भक के कलि तथा अधर्म के समान द्वितीय अङ्क में विराग तथा भक्तिदेवी नामक दो अमूर्त पात्रों का आगमन होता है। नाटक में इस अङ्क की अधिकतर घटनाओं की सूचना इन्हीं पात्रों के द्वारा दी जाती है।

तृतीय अङ्क

तृतीय अङ्क के प्रारम्भिक प्रवेशक में प्रेमभक्ति तथा मैत्री नामक दो अमूर्त पात्रों की कल्पना की गई है। प्रथम दोनों अङ्कों के विवेचन से यह स्पष्ट हो चुका है कि मुरारि की कृति में इस प्रकार के अमूर्त पात्रों का कोई वर्णन नहीं है। इस अङ्क के ये दोनों अमूर्त पात्र भी कविकर्णपूर की कल्पना की उपज हैं।

प्रेमभक्ति तथा मैत्री के कथोपकथन से यह ज्ञात होता है कि भगवदनुग्रह तथा भगवज्जनासक्ति नामक पिता-माता के संयोग से विवेक नामक पुत्र तथा भक्ति नामक अनेक कन्याओं का जन्म हुआ[3]। उन्हीं के वंशज के रूप में अनसूया तथा मैत्री आदि की कल्पना की गई है। यह समस्त वर्णन नाटककार की उद्भावना है।

प्रस्तुत अङ्क में 'श्रीमद्भागवत' के दान-लीला-उपाख्यान को आश्रय बनाकर चैतन्यदेव तथा उनके परिकर लीला-अभिनय करते हैं। इसमें श्रीराधा का अभिनय स्वयं भगवान् चैतन्य तथा श्रीकृष्ण का अभिनय रुद्रांश श्रीअद्वैत करते हैं। इसके अतिरिक्त हरिदास-

[1] नाटक, पृ० 37-38; कड़चा, 2/6/1

[2] नवकुवलयदामश्यामलो वामजङ्घाहिततदितरजङ्घः कोऽपि दिव्यः किशोरः।
त्वमिव स स इव त्वं गोचरो नैव भेदः कथय कथमहो मे जाग्रतः स्वप्नः एषः।
नाटक, पृ० 41

[3] वही, पृ० 43

सूत्रधार, मुकुन्द-पारिपार्श्वक, वासुदेव-नेपथ्य रचनाकार, नित्यानन्द-योगमाया, श्रीवास-नारद, शुक्लाम्बर-स्नातक, श्रीरामादि-गाथक का रूप धारण करते हैं। इस अभिनय के दर्शक जन-सामान्य नहीं वरन् केवल कतिपय आप्तजन हैं। यह अभिनय आचार्यरत्न के गृह-प्राङ्गण में सम्पन्न होता है।

मुरारिगुप्त ने अपने 'कड़चा' में यद्यपि अन्य अनेक लीलाओं का वर्णन किया है यथा नित्यानन्द प्रभु का कौपीन ग्रहण करना[1], श्रीमद्भागवत के अनुसार चैतन्य द्वारा वस्त्राहरण करना[2] आदि, तथापि 'भागवत' की इस दान-लीला का वर्णन वहाँ अनुलब्ध है। यहाँ भी मुरारि कर्णपूर के प्रेरणादायक नहीं रहे हैं। उनके अतिरिक्त अन्य चैतन्य-सम्प्रदाय भुक्त लेखकगण यथा रूप गोस्वामी एवं रघुनाथदास की रचना क्रमशः 'दान-केलि-कौमुदी' तथा 'दान-केलि-चिन्तामणि' के प्रतिपाद्य विषय कर्णपूर के इस गर्भाङ्क के विषय से साम्य रखते हैं[3]। कर्णपूर ने इस अभिनय को अपने नाटक में गर्भाङ्क रूप में (यद्यपि इस शब्द का उन्होंने प्रयोग नहीं किया है) रखा है। गर्भाङ्क की यह कल्पना संस्कृत नाट्य-साहित्य में कोई नूतन उद्भावना नहीं है।

विशालकाय नाटक में यह तृतीय अङ्क पूर्ण स्वतन्त्र प्रतीत होता है। नाटककार की इस स्वतन्त्रता का कारण सम्भवतः यही है कि प्रस्तुत अङ्क की घटना नायक के जीवन-चरित्र की ऐतिहासिकता का प्रतिपादक न होकर उसकी लीला के मूल उद्देश्य का परिचायक है यथा चैतन्य का स्वयं भगवान् होकर स्त्रीवेश में नृत्य करने का एकमात्र कारण भक्तों के भावानुरोध से विचित्र लीला को करना है जिससे भक्तगण अपनी-अपनी वासना के अनुरूप उन लीलाओं का अनुकरण कर सकें।[4] इसी उद्देश्य की सिद्धि हेतु नाटककार ने इस दान-लीला का वर्णन किया है।

चतुर्थ-अङ्क

नाटक के चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ में माता शची एवं आचार्यरत्न की पत्नी के वार्तालाप से ज्ञात होता है कि केशवभारती नामक संन्यासी का आगमन कतिपय दिन पूर्व ही हुआ था। श्री विश्वम्भर ने उस संन्यासी के प्रति अत्यधिक भक्ति तथा अनुराग व्यक्त किया था। कविकर्णपूर ने इस सन्दर्भ का संक्षेप में वर्णन किया है जबकि मुरारिगुप्त ने विस्तार से केशवभारती के आगमन, विश्वम्भर द्वारा उनका स्वागत, केशवभारती द्वारा

---

[1] 2/10/79

[2] गोपाङ्गनाभावविभावनिष्ठः श्रीकृष्ण एवात्र रसेन पूर्णः।
गोपस्त्रीभावान् प्रणतान् विभाव्य करोति वस्त्राहरणादिलीलाम्।। वही, 2/10/15

[3] S.K. De, VFM, p. 571

[4] ईश्वरः खलु सर्वरसः सर्वेषां भक्तानामाशयानुरोधाद्विचित्रामेव लीलां करोति। स्वस्ववासनानुसारेण भक्तास्तां तामनुकुर्वन्ति। नाटक, पृ० 45

चैतन्य को साक्षात् ईश्वर स्वीकार करना आदि घटनाओं का वर्णन किया है[1]। स्पष्ट है कि दोनों लेखकों के अनुसार ही चैतन्य का संन्यास-ग्रहण से पूर्व केशवभारती से न केवल परिचय वरन् उनका सादर सम्पर्क भी था। इस प्रसङ्ग में मुरारि से कर्णपूर का पार्थक्य भी दृष्टिगोचर होता है। मुरारि के अनुसार न्यासि-श्रेष्ठ केशवभारती चैतन्य को परम-ईश स्वीकार करते हैं[2] तो कर्णपूर का नायक चैतन्य केशव-भारती को परम भागवत समझ कर ही आदर करता है[3]।

मुरारि के अनुसार संन्यास-ग्रहण से पूर्व ही चैतन्य ने यह स्पष्ट कर दिया था कि किसी उत्तम ब्राह्मण ने स्वप्न में आकर उनके कान में संन्यास-मन्त्र दिया है[4]।

कर्णपूर ने इस प्रकार किसी स्वप्न-निर्दिष्ट मन्त्र का उल्लेख नहीं किया है। नाटक में महाप्रभु के संन्यास ग्रहण की घटना इस प्रकार है-सामान्य नियमानुसार अद्वैताचार्य के आगमन पर श्रीवास के प्राङ्गण में सङ्कीर्तन का आयोजन हुआ। गौरहरि चैतन्य ने वक्रेश्वर, नित्यानन्द, अद्वैताचार्य आदि के साथ नृत्यादि किया। आनन्दमुखरित रात्रि का अधिकांश भाग इसी प्रकार नृत्य-गायन, नाम-सङ्कीर्तन में ही व्यतीत हो गया। तदनन्तर क्लान्त व्यक्ति निद्रा-निमग्न हो गए[5]। अन्य दिनों की भांति प्रातःकृत्यादि सम्पन्न करने के लिये अपने घर न पहुँचने पर माता शची ने पुत्र की खोज करवाई[6]। तुरन्त ही उनके परिकरों के मध्य चैतन्य की अनुपस्थिति की वार्ता व्याप्त हो गई। तीन दिन तक नवद्वीप शोक-सागर में निमज्जित रहा। चैतन्य परिकरों को जब यह मालूम हुआ कि उनके प्रिय प्रभु अकेले नहीं गये हैं वरन् नित्यानन्द तथा आचार्यरत्न भी उनके साथ हैं तो इस शोकाकुल अवस्था में भी उन्हें थोड़ी सान्त्वना मिली[7]। उन सबकी तीन दिन की अथक प्रतीक्षा तथा कातर क्रन्दन के पश्चात् आचार्यरत्न नवद्वीप पहुँचे तथा विश्वम्भर के संन्यास ग्रहण की सूचना दी। आचार्यरत्न ने बतलाया कि उस दिन कीर्तन के पश्चात् विश्वम्भर आचार्यरत्न तथा नित्यानन्द को साथ लेकर चल पड़े। कांटोया नामक ग्राम में वे केशवभारती के पास पहुँचे। दूसरे दिन विश्वम्भर के आदेश से आचार्यरत्न ने संन्यास से पूर्व किए जाने वाले समस्त संस्कारों को सम्पन्न करवाया। तब केशवभारती ने विश्वम्भर को संन्यास की दीक्षा दी[8]। संन्यासाश्रम के नाम 'कृष्णचैतन्य' से उन्हें अभिहित किया

---

[1] वही, पृ० 69-70; कड़चा, 2/18/7-10

[2] ततः प्रोवाच तं दृष्ट्वा विस्मितो न्यासिसत्तमः।
भगवन्तं भवान् कृष्ण ईश्वरो नात्र संशयः। कड़चा, 2/18/14

[3] देवः-अम्व, ते खलु परमभागवता भवन्ति। नाटक, पृ० 71

[4] स्वप्ने दृष्टो मया कश्चिदागत्य ब्राह्मणोत्तमः।
संन्यासमन्त्रं मत्कर्णे कथयामास सुस्मितः। कड़चा, 2/18/12

[5] ....सर्व एव भगवत्प्रमुखाः सङ्कीर्तनोपरमे यथायथं शयनाय गतवन्त इव लक्ष्यन्ते। नाटक, पृ० 77

[6] वही, पृ० 78

[7] वही, पृ० 82

[8] वही, पृ० 86

गया[1]। संन्यास-ग्रहण करके प्रेम-विह्वल हो, अपने साथियों के साथ सम्भाषण किये बिना वे चल पड़े[2]। नित्यानन्द ने चैतन्य की सूचना देने के लिए आचार्यरत्न को नवद्वीप अपने साथियों के समीप भेजा तथा स्वयं विश्वम्भर, जो अब चैतन्य कहलाने लगे, के साथ चल पड़े। नित्यानन्द का उद्देश्य श्रीचैतन्य को येन केन प्रकारेण अद्वैताचार्य के वासस्थान पर पहुँचाना था[3]।

इसके विपरीत 'कड़चा' में संन्यास ग्रहण से पूर्व ही उसकी स्पष्ट सूचना दे दी गई थी। जैसा कि पहले ही सङ्केत दिया जा चुका है कि 'कड़चा' में चैतन्य स्वप्न में मन्त्र-प्राप्ति की सूचना देते हैं। इससे ही भावी-संन्यास का सङ्केत मिल जाता है। तदनन्तर केशवभारती का आगमन होता है। उससे मिलकर ही चैतन्य संन्यासग्रहण का निश्चय कर लेते हैं[4]। तब मुकुन्द प्रभु के परिकरों को प्रभु के कुछ समय पश्चात् गृह-त्याग के निश्चय की सूचना देते हैं जिससे वे सभी व्याकुल हो उठते हैं[5]। उस समय स्वयं विश्वम्भर श्रीवासादि को शान्त करते हैं तथा उनके घर अपनी अमूर्त उपस्थिति की बात कहकर उन्हें आश्वस्त करते हैं[6]। हरिदास को साथ लेकर मुरारि को सदुपदेश देने के लिये उसके घर जाते हैं तथा भगवदंश अद्वैताचार्य की सेवा करने का आदेश भी देते हैं[7]। रात्रि अपने आवास पर व्यतीत करके प्रातःकाल वे सुरधुनी[8] के पार चल पड़ते हैं तथा संन्यास-ग्रहण कर लेते हैं। चैतन्य का आगमन सर्वविदित होने के कारण जन-समुदाय प्रसन्नचित हो उन्हें प्रणाम करता है। मुरारि के अनुसार चैतन्य का संन्यास-ग्रहण एक उत्सव रूप था अतः मुकुन्द ने नृत्य किया, आचार्यरत्नादि ने कृष्णनाम-गायन किया। कण्टकनगरी का जन-समुदाय भी प्रेम-विह्वल हो उसी स्थान पर आ उपस्थित हुआ[9]।

'कड़चा' एवं नाटक दोनों ग्रन्थों में वर्णित संन्यास-ग्रहण के प्रसङ्ग को देखने से इसमें सन्देह नहीं रहता है कि कविकर्णपूर ने अपनी इस घटना का आधार 'कड़चा' को ही बनाया है परन्तु यह भी स्पष्ट जान लेना चाहिए कि कड़चा की वर्णित घटना का यथायथ

---

[1] कृष्णस्वरूपं चैतन्यं कृष्णचैतन्यसंज्ञितः। वही, पृ० 86

[2] तत्कालमेव प्रभुर्धृत्वा मस्करिभूमिकां चलितवान्। वही, पृ० 86

[3] अद्वैतस्यालयमपि नयाम्येष याहि त्वमेतां वार्तामार्तानुपहर सुखं प्रापयाद्वैतमुख्यान्। वही, पृ० 87

[4] न्यासं कर्तुं मनश्चक्रे त्यक्त्वा स्वगृहमृद्धिमत्। कड़चा, 2/18/16

[5] ततो मुकुन्दः प्रोवाच वैष्णवान् भो द्विजोत्तमाः।
..... गमिष्यति कियत्काले त्यक्त्वा गेहं जगद्गुरुः।। वही, 2/18/17-18

[6] वही, 2/18/18, 23

[7] ...अद्वैताचार्यवर्योऽसौ महान् स वै सद्गुणाश्रयः।
ईश्वरांऽशोऽस्य सेवाञ्च कुरु यत्नेन सादरम्। वही, 2/18/25, 26

[8] अथापरदिने गत्वा कण्टकग्राममुत्तमम्। संन्यासं कृतवान् कृष्णः.....। वही, 2/18/31

[9] वही, 3/1/10

ग्रहण नाटक में कदापि नहीं हुआ है। नाटक में कथावस्तु की उत्सुकता को बनाए रखने के लिए नाटककार ने चैतन्य के संन्यास-ग्रहण की घोषणा पहले से नहीं की है। माता-पुत्र के संवाद में केवल कुछ अस्पष्ट सी ध्वनि मात्र गुञ्जित होती है। पुत्र के संन्यासी के प्रति आदर भाव से आशङ्कित माता पुत्र से स्पष्ट शब्दों में संन्यास-ग्रहण के विषय में प्रश्न पूछ बैठती है तो पुत्र उन्हें टाल अवश्य देते हैं परन्तु कथोपकथन के मध्य यह सङ्केत भी दे बैठते हैं-'आप मुझ पर इतनी कृपा अवश्य कीजिए कि यदि आप के चरणों में कोई अपराध कर बैठूं तो आप अवश्य क्षमा कर दीजिएगा'[1]। यहाँ पुत्र विश्वम्भर के स्नेह से आकुल ममतामयी माता के स्नेह क्रोड़ का परित्याग कर संन्यास ग्रहण करने रूप अपराध का ही सङ्केत निहित प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त विश्वम्भर माता से कुछ दिनों के लिए बाहर जाने की अनुमति की याचना भी करते हैं[2]। तदनन्तर गन्तव्य लक्ष्य का परिचय देते हुए उनका यह कहना कि 'आपके तथा समस्त बान्धव जनों के लिए जो सुखकर हो उसी को खोजने जाना है[3],' वास्तव में मुरारिगुप्त की 'कड़चा' में श्रीचैतन्य की श्रीवासादि के प्रति प्रेम धारा लाने की आश्वासन-वाणी[4] का ही प्रभाव प्रतीत होता है। यहाँ मुरारि के कथन को ग्रहण करते हुए भी कवि ने इस स्थल पर यथासाध्य परिष्कार तथा परिमार्जन किया है। पहले से ही संन्यास की घोषणा कर देने पर जहाँ एक ओर नाटकीयता को ठेस पहुँचती वहीं दर्शकों की उत्सुकता अथवा जिज्ञासा भी समाप्त हो जाती अतः नाटककार ने कुशलता से यहाँ केवल उसका सङ्केत मात्र ही दिया है।

इस सन्दर्भ में एक और उल्लेखनीय विषय यह है कि मुरारि के अनुसार चैतन्य देव संन्यास ग्रहण करने से पूर्व वहाँ एकत्रित जनसमुदाय से शुभाशीष की याचना करते हैं जिससे उन्हें हरि स्मरण बना रहे[5]। कविकर्णपूर ने नाटक के नायक के चरित्र को अधिक उज्ज्वल एवं भगवान्-रूप में उनकी अलौकिकता को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए सामान्य मानवोचित ऐसे व्यवहार का परिहार किया है। श्रीवासादि अपने परिकरों से संन्यास से पूर्व अनुमति ग्रहण करने का वर्णन मुरारिगुप्त ने किया था परन्तु कर्णपूर को इसमें भी चारित्रिक दीप्ति का हनन होता हुआ भान हुआ होगा। अतः नाटक में इस प्रसङ्ग का भी परिहार किया गया है। नाटककार ने आचार्यरत्न द्वारा किए जाने वाले विधि-

---

[1] किन्तु मयापराधो यदि भवति तदा क्षन्तव्य एवासौ मातृचरणेइति प्रसादः क्रियताम्। नाटक, पृ० 71

[2] अम्ब, दिनानि कतिपयानि कुत्रापि मम गन्तव्यमस्ति, त्वया मनसि खेदो न कार्यः। वही, पृ० 72

[3] देवः-अम्ब, येन भवत्याः सर्वेषां च बन्धूनां सदा सुखायैव भूयते तदनुसन्धानं कर्तुम्। वही, पृ० 72

[4] दिगन्तरात् समानीय दास्यामि प्रेमसन्ततिम्। यया सर्वसुराराध्यं श्रीकृष्णं परिपश्यसि। कड़चा, 2/8/20-21

[5] ततः समुत्थाय हरिः सगद्गद्स्वरेण तान् प्राह समागतान् जनान्।
मां तात भ्रातश्च विधेहि साम्प्रतं शुभाशिषो येन हरिस्मृतिः स्यात्। वही, 3/2/2

विधानों का उल्लेख मात्र किया है जबकि उनके मूल-स्रोत 'कड़चा' में उनका विशद वर्णन मिलता है। मुरारिगुप्त तथा कर्णपूर दोनों ही चैतन्यदेव की अलौकिकता की स्थापना के लिये प्रयत्नशील प्रतीत होते हैं परन्तु दोनों की वर्णनशैली में पार्थक्य स्पष्ट दृष्टिगोचर हो जाता है। कर्णपूर ने इस प्रसङ्ग में अलौकिकता को बनाए रखने के लिये अस्वाभाविकता का समावेश नहीं किया है। यही कारण है कि मुरारिगुप्त ने चैतन्य को स्वप्न में मन्त्र-प्राप्त होने तथा उसी स्वप्न-दृष्ट मन्त्र को गुरु केशवभारती के कान में कहने तथा उसी मन्त्र को तत्पश्चात् ग्रहण करने का जहाँ वर्णन किया है[1] वहीं नाटककार ने स्वाभाविकता बनाए रखने के लिये इन सन्दर्भों का परित्याग कर दिया है।

मुरारि के कथानक से नाटक में एक और भिन्नता परिलक्षित होती है। 'कड़चा' के अनुसार संन्यास-दीक्षा लेने के पश्चात् चैतन्य ने वह दिन वहीं कण्टकपुर में व्यतीत किया। इस समय-यापन के पीछे उनके गुरु का निर्देश था[2]। इसके विपरीत नाटक में संन्यास धारण करते ही चैतन्य प्रेमविह्वलता से आत्मविस्मृत हो चल पड़े[3]।

कविकर्णपूर ने विश्वम्भर के संन्यासी वेष धारण करने के पश्चात् संन्यासी के अनुरूप नूतन नाम 'श्रीकृष्णचैतन्य' धारण करने का उल्लेख किया है[4]। मुरारिगुप्त के काव्य में इस घटना पर कोई प्रकाश नहीं डाला गया है। कर्णपूर ने चतुर्थ अङ्क में चैतन्य के प्रियजनों की चैतन्य-विरह में शोकाकुल अवस्था का सुन्दर तथा विस्तृत चित्रण किया है। रस तथा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से प्रसङ्ग के महत्त्वपूर्ण होने के साथ इस बात पर भी प्रकाश पड़ता है कि चैतन्य परिकरों का उनके साथ कैसा अच्छेद्य सम्पर्क था। यह वर्णन नाटककार की अपनी देन है।

संक्षेपतः इस अङ्क की घटनाओं में मुरारि से मौलिक भिन्नता न होने पर भी दोनों में यत्र-तत्र जो पार्थक्य परिलक्षित होते हैं वे कोई कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। नाटक के संविधान एवं वस्तु-योजना की दृष्टि से वे आवश्यक थे। चैतन्य-विरह में भक्तों का विरह वर्णन कर्णपूर की काव्यात्मकता तथा मौलिकता का परिचायक है।

पञ्चम अङ्क

संन्यास-ग्रहण के पश्चात् आत्मलीन, प्रेमविह्वल चैतन्य के लक्ष्यहीन भ्रमण के वर्णन से पञ्चम अङ्क का प्रारम्भ होता है। प्रेमाकुल चैतन्य देव के साथ स्नान, आहार,

---

[1] वही, 3/2/7-8

[2] गुरोनिर्देशं बहुमन्यमानस्तत्रावसत्तद्दिवसं जितारि। वही, 3/1/13

[3] तत्कालमेव प्रभुर्धृत्वा मस्करिभूमिकां चलितवान्। नाटक, पृ० 86

[4] कृष्णस्वरूपचैतन्यं कृष्णचैतन्यसंज्ञितः।
अतः एव महावाक्यस्यार्थोहिफलवानिह। वही, पृ० 86

विश्राम रहित, सतत विचरणशील नित्यानन्द प्रभु भी तीन दिन व्यतीत करते हैं[1]। कर्णपूर ने जिस प्रेम की आकुलता का वर्णन अपने नाटक में किया है वह मुरारि की कड़चा में भी उपलब्ध है परन्तु इसके बाद के वर्णन में कर्णपूर ने मुरारि को अपना आधार पूर्णतः नहीं बनाया है। दोनों की भिन्नता निम्न प्रकार है।

कविकर्णपूर ने गोरक्षक बालकों के हरि-सङ्कीर्तन करने की घटना का चयन यद्यपि 'कड़चा' से किया है परन्तु उसमें पर्याप्त परिवर्तन भी कर दिया है। मुरारि के अनुसार राढ़देश में (अर्थात् बङ्गाल में गङ्गा के पश्चिमी भाग में) भ्रमण करते हुए श्रीचैतन्य को हरि-सङ्कीर्तन का अभाव आकुल करता रहा। अपने प्रियनाम-कीर्तन के न होने पर विरह-कातर हो उन्होंने जल में प्रवेश कर अपने प्राणविसर्जन का निश्चय किया। इसी उद्देश्य की सिद्धि-हेतु वे जल के समीप चले गये[2]। नित्यानन्द ने प्रभु के प्राणों की रक्षा करने के लिए समीपस्थ गोपबालकों को हरिनाम लेने के लिए कहा। उस समय एक बालक ने उच्च स्वर में हरि-नाम का उच्चारण किया जिसे सुनकर प्रभु आनन्द-विह्वल होकर रोदन करने लगे तथा भूमि पर गिर पड़े। नित्यानन्द प्रभु ने वृन्दावन की कथा सुनाकर उन्हें शान्त करने का प्रयत्न किया[3]।

कविकर्णपूर ने मुरारि वर्णित उपर्युक्त घटना को थोड़े परिवर्तित रूप में नाटक में लिया है। उनके अनुसार श्रीचैतन्य प्रेमनिमग्न होने के कारण आत्म-विभोर थे। ऐसे एक संन्यासी को देखकर स्वाभाविक कौतूहल से युक्त होकर गोरक्षक-बालकों ने हरिध्वनि प्रारम्भ कर दी। हरिध्वनि सुनकर आत्मनिमग्न होने पर भी श्रीचैतन्य कुछ कुछ बाह्य स्थिति में आए। तब उन्होंने बालकों को हरिसङ्कीर्तन करने के लिए प्रोत्साहन दिया तथा उनसे वृन्दावन का मार्ग पूछा। नित्यानन्द ने इस अवसर का यथासाध्य लाभ उठाया तथा एक बालक को अद्वैताचार्य के घर को ही वृन्दावन के मार्ग के रूप में बतलाने का निर्देश दिया। बालक ने निर्देशानुसार कार्य किया। श्रीचैतन्य ने वृन्दावन की भ्रान्ति से बताए हुए मार्ग का अनुसरण किया। अब तक नित्यानन्द की उपस्थिति से अनजान चैतन्य इस समय ही उनकी उपस्थिति के प्रति सचेत हुए[4]।

दोनों लेखकों के वर्णन से स्पष्ट है कि कर्णपूर ने मुरारि द्वारा राढ़ देश के हरि-सङ्कीर्तन रहित होने की कल्पना का समर्थन नहीं किया है। इसके अतिरिक्त चैतन्य के

---

[1] नाहारोऽद्य दिनत्रयं न च पयःपानं किमन्याः क्रियाः।
कौपीनैकपरिच्छदो निजसुखावेशैकमात्रानुगः।। वही, पृ० 88

[2] प्रविश्याहं जले क्षिप्रं त्यजामि देहमात्मनः। न शृणोमि हरेर्नाम कथं ब्राह्मणसंस्थितिः। कड़चा, 3/3/67

[3] वही, 3/3/10-11

[4] .... अयमवसरो मम। ......तात एषमार्गो वृन्दावनस्येति कथय। अनेन पथेनैवाद्वैतवाटीमासादयितुं शक्यते।......नाटक, पृ० 89

जीवन-परित्याग के लिए बद्धपरिकर होने की बात का भी परिहार किया है। इस घटना-योजना में परिवर्तन सामान्य है किन्तु उसी से चरित्र-चित्रण में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन आ गया है।

इस प्रसङ्ग में नाटककार ने मुरारि से एक और भिन्नता दिखलाई है। 'कड़चा' में चैतन्य ने स्वयं ही अद्वैताचार्य के घर जाने का निश्चय किया है[1]। उन्होंने नित्यानन्द प्रभु को जाह्नवी तट पर अवस्थित नवद्वीप जाने का आदेश दिया जिससे वे वहाँ जाकर माता शची को चैतन्य की तरफ से सान्त्वना दें तथा श्रीवासादि प्रियजनों को अद्वैतालय ले आएं[2]। कर्णपूर के नाटक में चैतन्य स्वेच्छा से अद्वैत के घर नहीं जाते हैं वरन् नित्यानन्द के सतत प्रयत्नों के परिणामस्वरूप ही वृन्दावन की भ्रान्ति में महाप्रभु का अद्वैतालय गमन होता है। नित्यानन्द गङ्गा के तीर पर चैतन्यदेव को लेकर पहुँचते हैं तथा उनके अज्ञान में ही किसी मार्ग-गामी पुरुष को अद्वैताचार्य के पास भेजते हैं जिससे कि अद्वैत वहाँ आएं और चैतन्यदेव को अपने आवास पर ले जाएं[3]। यहाँ कर्णपूर ने इस प्रकार नूतन कल्पनाओं का समावेश किया है यथा यमुना की भ्रान्ति में चैतन्य द्वारा गङ्गा की स्तुति करना[4], चैतन्य एवं नित्यानन्द का सुरधुनी गङ्गा में अवगाहन करना[5], अद्वैताचार्य का अपने परिजनों सहित गङ्गा के कूल पर पहुँचना तथा चैतन्य का अभिषेक, वस्त्र-परिवर्तन आदि सेवा करना[6] तथा अन्ततोगत्वा नौका में उन्हें आरोहण करवा कर अपने घर ले जाना और संन्यास-ग्रहण के पश्चात् प्रथम भिक्षा अपने घर ग्रहण करवाना[7] आदि। मुरारिगुप्त के अनुसार श्रीचैतन्य ने अपने श्रीमुख से ही नित्यानन्द को नवद्वीप जाने तथा श्रीवासादि को अद्वैतालय लाने के लिए आदेश दिया है। कर्णपूर ने इस प्रसङ्ग को अधिक स्वाभाविक तथा सर्वस्वत्यागी संन्यासी चैतन्य के चरित्र के अनुकूल बनाने के लिए ही परिवर्तित कर दिया है। नाटक में चैतन्य के बिना कहे ही अद्वैत अपनी बुद्धिमत्ता एवं सहृदयता के कारण ही अपने परिकर को चैतन्य के प्रियजनों को नवद्वीप से लाने के लिए

---

[1] अथ श्रीजगदीशो हि भक्तानामार्तिनाशकः। अद्वैताचार्यनिलये गच्छामीति मनो दधे। कड़चा, 3/4/2

[2] गच्छ त्वं जाह्नवीतीरे नवद्वीपं मनोरमम्। मातरं परया भक्त्या मम नामपुरःसरम्।
संशान्तय्य सुखीकृत्वा श्रीकृष्णचरित्रादिना। तत्रत्यान् वैष्णवान् सर्वान् श्रीवासादीन्।।
ममप्रियान् समानयाचार्यगेहं यावत्तत्र व्रजाम्यहम्। वही, 3/4/4-6

[3] नित्यानन्दः-(जनान्तिकम्) अये, इदमनतिदूरे पारेगङ्ग भगवतोऽद्वैतस्य पुरम्। त्वमितस्त्वरितं गत्वा विज्ञापय-नित्यानन्दः केनचिदन्येन संन्यासिना सह निकटवर्ती भवन्तमपेक्षते। तत्त्वरताम्। नाटक, पृ० 91

[4] नित्यानन्दः- भगवन् इयं यमुना। भगवान् - (सानन्दं प्रणम्य स्तौति)। वही, पृ० 90

[5] वही, पृ० 91

[6] वही, पृ० 93

[7] वही, पृ० 95

भेजते हैं[1]।

मुरारिगुप्त ने 'अद्वैतवाटी विहार' नामक सर्ग में नित्यानन्द के साथ नवद्वीप से भक्तों के दूसरे दिन अद्वैतालय पहुँचने का वर्णन किया है। कर्णपूर ने नवद्वीप के साथ शान्तिपुर के आस-पास के जन-समुदाय का तथा उसी दिन का वर्णन किया है[2]। ऐतिहासिक दृष्टि से यह एक दिन का परिवर्तन उल्लेखनीय है।

दोनों ही लेखकों ने चैतन्य के प्रियजनों के साथ माता शची के शान्तिपुर आने का वर्णन किया है। मुरारि ने माता के प्रति चैतन्य का व्यवहार स्नेहशीला जननी के प्रति सदय पुत्र के व्यवहार के अनुरूप ही प्रदर्शित किया है अर्थात् चैतन्यदेव ने माता को प्रणाम किया तथा उन्हें आश्वस्त किया कि सर्वदा माता के समीप ही बने रहेंगे[3]। कर्णपूर के अनुसार माता पुत्र के प्रणाम को स्वीकार कर केवल वात्सल्य भावना से ही ओतप्रोत नहीं होती है वरन् भय, भक्ति, वात्सल्य, परितोष आदि सभी भावों का मिश्रित रूप से अनुभव करती है। यह ठीक है कि इस शबलित भाव में भी उनका वात्सल्य भाव ही सर्वातिरेक रूप में रहता है[4]। नाटक में चैतन्य माता को मिथ्या आश्वासन नहीं देते हैं वरन् उनसे परोक्ष रूप से क्षमा याचना ही करते हैं[5]।

कर्णपूर ने इसी अङ्क में अद्वैताचार्य को अपने घर आए हुए सभी अतिथियों के भोजन-आवासादि का दायित्व ग्रहण करते हुए दिखाया है। वास्तव में अन्य स्थलों की भांति यहाँ भी नाटककार ने अद्वैत के चित्रण में अधिक मनोयोग दिया है। मुरारि ने अद्वैत के बहुमुखी व्यक्तित्व पर बहुत कम प्रकाश डाला है।

प्रस्तुत अङ्क की घटनाओं का विवेचन करने से स्पष्ट है कि मुरारि से उनमें मौलिक पार्थक्य विशेष न होते हुए भी यत्र-तत्र जो परिवर्तन नाटककार ने किए हैं, वे भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

---

[1] नित्यानन्दः- भो अद्वैत, नवद्वीपे कश्चित्प्रहितोऽस्ति।
अद्वैतः- अथ किम्। सर्वे समागतप्राया एव। वही, पृ० 93

[2] (क) तया पाचितमन्नञ्चभुक्त्वा स्थित्वा परे दिने सर्वैस्तैर्ब्राह्मणैः शूद्रवैद्यैरपि महामनाः। जगामाद्वैतनिलयं सहर्षत्वरयान्वितः। कड़चा, 3/4/9-10
(ख) (ततः प्रविशन्ति भगवद्दर्शनोत्कण्ठिताः पुरुषाः।) अहो, अमी भगवज्जन्मस्थलीनिवासिनः सर्वे समागच्छन्ति। नाटक, पृ० 94-96

[3] श्रीशचीं प्रणिपत्य सादरं करुणामयः। तिष्ठामि सततं मातस्तव सन्निहितो ह्यहम्। कड़चा, 3/4/27

[4] नाटक, पृ० 97

[5] श्रीकृष्णचैतन्यः-भगवति जगन्मातर्मातः परं फलमुत्तमं किमपि फलितुं वात्सल्याख्या लता भवति क्षमा। भवति भवती विश्वस्यैवानुपाधिसुवत्सलेत्यथ भगवता नूनं चक्रे क्षमापि शरीरिणी।वही, पृ० 97

षष्ठ अङ्क

प्रवेशक के पात्र गङ्गा तथा रत्नाकर के कथोपकथन के द्वारा नाटककार सूचित करता है कि संन्यास-ग्रहण के अनन्तर श्रीचैतन्य जब अद्वैताचार्य के आवास पर ले जाए गए थे (जिसका वर्णन पञ्चम अंक में आ चुका है) तब वहाँ माता शची द्वारा पकाये हुए भोजन का सेवन करके तथा दिन व्यतीत करके उन्होंने अपने परिकर-वर्ग से जाने की अनुमति चाही। संन्यासी का वेष धारण करके अपने बान्धव-वर्ग के साथ अधिक काल तक रहना नीति-गर्हित होने के कारण बन्धुओं का स्नेहशील व्यवहार भी चैतन्य को बाँधने में समर्थ न था। अद्वैतादि द्वारा माता शची से चैतन्य के जाने के विषय में पूछने पर माता ने अपने स्नेह की अपेक्षा चैतन्य के सुनाम को अधिक महत्त्व प्रदान किया तथा उन्हें जगन्नाथपुरी जाने की अनुमति दी। माता के विचार में चैतन्यदेव के पुरी जाने पर उनके स्नेहीजन उनके दर्शनार्थ पुरी जा सकते थे तथा इस प्रकार उन लोगों के पुनर्मिलन की आशा बनी रह सकती थी। श्रीचैतन्य ने माता के आदेश को सहर्ष स्वीकार किया तथा बन्धुजनों के अनुरोध से तीन दिन और वहीं ठहर गए। इन तीन दिनों तक माता शची तथा अच्युतानन्द की माता (अर्थात् अद्वैताचार्य की पत्नी) द्वारा पाचित अन्न का सेवन करते हुए चौथे दिन अपने लक्ष्य की ओर देव ने प्रस्थान किया। सभी साथियों ने मन्त्रणा करके नित्यानन्द, जगदानन्द, दामोदर और मुकुन्द को चैतन्य के साथ भेजा। नवद्वीपवासी जब अपने स्थान के लिए प्रस्थान करने लगे तभी चैतन्यदेव ने भी अपनी यात्रा प्रारम्भ की। उनके गमन की वेला में अद्वैताचार्य कातर होकर रोदन करने लगे अतः श्रीचैतन्य उनसे सम्भाषण तक किए बिना चल पड़े[1]।

मुरारिगुप्त ने अपने ग्रन्थ में श्री चैतन्य के अद्वैतालय जाने तथा ठहरने का वर्णन किया है, यह तो स्पष्ट हो गया है। उनके अनुसार श्रीचैतन्य ने अद्वैताचार्य द्वारा समर्पित चतुर्विध अन्न का अपने भक्तों सहित सेवन किया। रात्रि वहीं व्यतीत करने के अनन्तर अन्तिम प्रहर में अपने साथियों के साथ सङ्कीर्तन किया। इसके पश्चात् श्रीवासादि से अपने आवास पर लौट जाने के लिए अनुरोध किया तथा उन्हें सूचना दी कि वे (चैतन्य) सार्वभौम के साथ पुरुषोत्तम का दर्शन करेंगे अतः उन्हें जगन्नाथपुरी जाना है। श्रीचैतन्य ने भक्तों को मात्सर्यरहित होकर हरिसङ्कीर्तन का आदेश दिया। उन्होंने अद्वैतादि का प्रेमाश्रुपूरित होकर आलिङ्गन किया। अद्वैत द्वारा प्रभु के वियोग में कातरता व्यक्त करने पर उन्होंने उन्हें ऐसा करने से निवृत्त किया क्योंकि ऐसा प्रेम प्रभु के मार्ग का बाधक था[2]। इस प्रकार चैतन्य ने पुरुषोत्तम के दर्शनार्थ गमन किया।

दोनों ग्रन्थों की ऊपर वर्णित घटनाओं से यह स्पष्ट है कि कविकर्णपूर ने इस सन्दर्भ

---

[1] वही, पृ० 99-102

[2] कड़चा, 3/4/25-33

में दो महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किए हैं। प्रथम मुरारिवर्णित चैतन्य के शान्तिपुर में एक दिन व्यतीत करने के स्थान पर नाटक में अपने साथियों के अनुरोध पर भगवान् के वहाँ तीन दिन रहकर चौथे दिन प्रस्थान करने का उल्लेख हुआ है। दूसरा परिवर्तन अद्वैताचार्य के प्रति प्रभु के व्यवहार में है। मुरारि के अनुसार प्रभु ने उनका एक बार नहीं दो-दो बार प्रेमालिङ्गन किया तथा उनकी भावनाओं से स्वयं भी भावुक हो गए। अत्यधिक प्रेमपूर्ण उक्ति से ही उन्होंने उनको आश्वस्त किया जबकि कर्णपूर के अनुसार अत्यधिक रोदन करते हुए अद्वैताचार्य से चैतन्य बिना बोले ही चले गए। मुरारि के अनुसार महाप्रभु के साथ नित्यानन्द, मुकुन्द तथा गदाधर आदि गए जबकि कर्णपूर ने नित्यानन्द, दामोदर, मुकुन्द के साथ जगदानन्द के भी प्रभु के साथ जाने का वर्णन किया है।

यद्यपि मुरारिगुप्त ने इस प्रसङ्ग में चैतन्यदेव की माता से पुरी जाने की अनुमति-याचना की बात नहीं की है तथापि अन्यत्र कई स्थलों पर इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि चैतन्य माता की अनुमति से पुरी में निवास कर रहे हैं। 'कड़चा' के प्रायः अन्तिम भाग अर्थात् चतुर्थ प्रक्रम के बीसवें सर्ग में दामोदर पण्डित से वार्तालाप करते हुए चैतन्य देव के मुख से कवि ने इस बात को स्पष्ट कराया है[1]। सम्भवतः इसी सङ्केत को आधार बनाकर नाटककार ने चैतन्य के पुरीगमन से पूर्व माता शची की सम्मति का वर्णन किया हो।

षष्ठ अङ्क में इसी प्रवेशक से चैतन्यदेव की जगन्नाथ-यात्रा के क्रम का भी पता चलता है। उस समय गौड़देश के यवनाधिपति तथा उत्कल-नरेश गजपति प्रतापरुद्र में परस्पर वैमनस्य होने के कारण एक-दूसरे की सीमा में प्रवेश करना सहज न था। अतः चैतन्य ने राजमार्ग का परित्याग कर वनमार्ग से चलना प्रारम्भ किया[2]। रेमुणा नगरी के वेणुपाणि भगवान् का दर्शन करने के लिए बीच में वे राजमार्ग पर चले। फिर वनमार्ग से होते हुए वे साक्षिगोपाल भगवान् के दर्शन के लिए 'कटक' नगरी गए [3]। उस दिन वहीं ठहरकर दूसरे दिन वे शीघ्रता से चल पड़े। कमलपुर नामक ग्राम में पहुँचकर जब चैतन्यदेव नदी में स्नान करके देव-दर्शन के लिए गए तो नित्यानन्ददेव ने अपने हाथ में पकड़े हुए उनके दण्ड को व्यर्थ मानते हुए तोड़ कर नदी में विसर्जित कर दिया[4]।

मुरारिगुप्त ने चैतन्यदेव के जगन्नाथपुरी गमन का वर्णन करते हुए मार्ग के अन्य तीर्थ-क्षेत्रों याजपुर नामक नगरी तथा विरजादि देवी के दर्शन का भी वर्णन किया है। नाटक में इन प्रसङ्गों को छोड़ दिया गया है। कर्णपूर ने साक्षि-गोपाल के दर्शन का वर्णन

---

[1] तदाज्ञया हि क्षेत्रेऽस्मिन् वसामि नात्र संशयः। वही, 4/20/4

[2] एवं कियन्त दिनानि वने वने चलन्.....। नाटक, पृ० 103

[3] पुनरपि वनमार्गं लब्ध्वा पुनरपि साक्षिगोपालदर्शनार्थं 'कटकनामधेयां' राजधानीं गतः। वही, पृ० 104

[4] निजकरस्थितं देवस्य दण्डं नित्यानन्ददेवेन किमेतेन अकाण्डोपप्लवखण्डेन दण्डेनेति भक्त्वा नदीमध्ये निक्षिप्तः। वही, पृ० 106

किया है जो 'कड़चा' में नहीं मिलता है।

'कड़चा' में नित्यानन्दप्रभु द्वारा चैतन्य के दण्ड तोड़ने का जो वर्णन मिलता है, नाटक में उसी को ग्रहण किया गया है परन्तु अत्यन्त संक्षेप में। 'कड़चा' के अनुसार नित्यानन्द शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्म धारण करने वाले दैदीप्यमान साक्षात् भगवान् चैतन्य के दण्ड-धारण करने को लौकिक-चेष्टा की अभिव्यक्ति मात्र समझकर चैतन्य के दण्ड को तोड़ देते हैं। परिणामस्वरूप नरलीला करने वाले चैतन्य पहले तो नित्यानन्द पर क्रुद्ध होते हैं परन्तु अन्ततः उन्हें अपने अभिप्राय के अनुसार कार्य करने वाला स्वीकार कर लेते हैं[1]। मुरारिगुप्त ने जहाँ दण्ड की व्यर्थता को स्पष्ट किया है वहीं कर्णपूर ने उस दण्ड को एक व्यर्थ का काष्ठ खण्ड कहकर उसके तोड़ने की सूचना मात्र ही दी है। कर्णपूर की यात्रा के वर्णन में विशेष नूतनता दृष्टिगोचर नहीं होती है।

प्रवेशक के पश्चात् मूल अङ्क में श्रीचैतन्य के जगन्नाथ देव-दर्शन का वर्णन है। इस प्रसङ्ग में 'कड़चा' का पूरा अनुकरण न करके लेखक ने कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों की योजना की है। मुरारि के अनुसार पुरी पहुँचकर चैतन्यदेव सर्वप्रथम पुरुषोत्तम दर्शन के लिए गए। अन्य शिवलिङ्गों के दर्शन करने के पश्चात् भार्गवी नदी में यथाविधि स्नान के पश्चात् ही उन्होंने हरिमन्दिर में गमन किया। मन्दिर में प्रभु के दर्शन करते ही चैतन्यदेव देव के साथ एकात्म होते हुए पृथ्वी पर गिर पड़े। उनको ऐसी अवस्था में देखकर उनके साथी लोग भी मूर्छित हो गए। पश्चात् अनेक शिव स्तुतियों से स्तवन करके चैतन्यदेव यज्ञेशमहालय में गए[2]। पुनः पुलकित होकर देवगृह में प्रविष्ट हुए। देवता के समक्ष दण्डवत् प्रणाम करते हुए प्रेमविह्वल होकर कातर हो गये। चैतन्य की इस प्रकार की अवस्था को देखकर पुरुषोत्तम ने अपने कमल-कोमल हाथ को फैलाकर उन्हें अपने लाल करतल दिखाये। इससे चैतन्यदेव ने प्रसन्न होकर हास किया[3]। मुरारि ने इस प्रकार चैतन्य के पुरुषोत्तम दर्शन के पश्चात् सार्वभौम से मिलन का वर्णन किया है। तदनुसार चैतन्य स्वयं सार्वभौम भट्टाचार्य के घर गये जिन्होंने उठकर उनका स्वागत करते हुये दण्डवत् प्रणाम किया[4]। चैतन्य देव ने उससे जगन्नाथ दर्शन का उपाय पूछा। चैतन्य की असाधारण रूपसम्पदा को देखकर सार्वभौम अत्यधिक विस्मित हुये तथा सोचने लगे कि

[1] शङ्खचक्रगदापद्मधरो देवः क्रियान्वितः। लौकिकीं दर्शयन्श्चेष्टां न्यासदण्डधरो हरिः। कड़चा, 3/5/12-13;

ततश्चुकोप भगवानवधूतं जगाद च। दण्डे मे संस्थिता देवा शिवाद्यः सहशक्तय;। वही, 3/5/16;
.... प्रोवाच मधुराक्षरम्। मदभिप्रायमेव त्वं कर्तुमर्हसि सर्वदा। वही, 3/5/2

[2] वही, 3/10/3-14

[3] दृष्ट्वा तमित्थं पुरुषोत्तमो हरिः प्रसार्य पाणिं कमलाङ्ग कोमलम्।
अदर्शयद्रक्ततलं ततो मुदा चैतन्यदेवो हषितो जहास।। वही, 3/10/17

[4] वही, 3/11/4

क्या बात है कि महापुरुषों के लक्षणों से युक्त यह पुरुषसिंह बैकुण्ठ से अवतरित देव रूप-धारी के समान प्रतीत हो रहा है। क्या यह रस ही रूप धारण कर सच्चिदानन्द है अथवा समस्त संसार की कल्याण कामना से आगत स्वयं ईश्वर हैं[1]। तब उन्होंने अपने छोटे भाई को आज्ञा दी कि वह चैतन्य को जगन्नाथ देव के दर्शन उचित रूप से करवा दे। देव-दर्शन करते हुए चैतन्य मूर्च्छित हो गये। उनकी विवश अवस्था देखकर ब्राह्मण उन्हें भुजा से पकड़ कर भगवान् के सामने से अलग ले गये। सार्वभौम के घर जब उन्हें होश आया तो उन्होंने फिर सङ्कीर्तन प्रारम्भ कर दिया[2]।

चैतन्यदेव ने सन्ध्यासमय धूप, दीप, माला से शोभित जगन्नाथ के दर्शन देवालय में जाकर किये। इसी प्रकार देव चैतन्य सज्जनों से समादृत होते हुये कुछ दिन वहाँ रहे। इसके बाद किसी समय सार्वभौम ने चैतन्य को सामान्य मनुष्य समझते हुए अपने लोगों में यह इच्छा व्यक्त की कि इन्हें फिर से संन्यास धर्म में दीक्षित करके वेदान्त की शिक्षा दी जाये। चैतन्य को इस बात का पता चल गया परन्तु उन्होंने कोई रोष व्यक्त नहीं किया। अपराह्न के समय ब्राह्मण गोष्ठी में चैतन्य ने सार्वभौम के सामने वेदान्त के कृष्ण-भक्ति-परक गूढ़ अर्थ की व्याख्या की[3]। उस गूढ़ अर्थ को जानकर सार्वभौम न केवल विस्मित हुये वरन् उन्होंने भक्तियोग की शिक्षा के लिये चैतन्यशरीरधारी परम पुरुष को पहचानते हुये उनकी शरण ली[4]।

नाटककार के अनुसार नीलाचल पहुँचने के पश्चात् चैतन्य के सहचरों में यह विचार-विनिमय होता है कि नीलाचल-चन्द्र के दर्शन केवल परिचारकादि को ही सुलभ होते हैं। बिना किसी राजपुरुष की सहायता के उन जैसे विदेशी लोगों के लिये तो विग्रह-दर्शन असम्भव ही है। इस पर मुकुन्द यह सुझाव देते हैं कि महाप्रभु के नवद्वीप-विलास के विशेष अभिज्ञ गोपीनाथाचार्य, जो विशारद के जामाता तथा सार्वभौम भट्टाचार्य के भगिनीपति हैं, वहीं रहते हैं। वे ही सार्वभौम द्वारा चैतन्य देव को सरलता से देव-दर्शन करवाने में सहायक सिद्ध हो सकते हैं[5]। इस परामर्श के अनुसार गोपीनाथ समस्त विषय को जानकर चैतन्यदेव को सपरिकर सार्वभौम के समीप ले जाते हैं। आगे बढ़कर स्वागत एवं प्रणाम करने पर चैतन्यदेव सार्वभौम को 'कृष्ण में रति एवं मति' होने का आशीष देते

---

[1] किमसौ पुरुषव्याघ्रो महापुरुषलक्षणः अवतीर्ण इवाभाति वैकुण्ठद्देवरूपधृक्। वही, 3/11/11-12

[2] वही, 3/11/13, 18-19

[3] वही, 3/12/1-12

[4] वैराग्य विद्यानिजभक्तियोग-शिक्षार्थमेकः पुरुषः पुराणः।
श्रीकृष्ण चैतन्य शरीरधारी-कृपाम्बुधिर्यस्तमहं प्रपद्ये।
वही, 3/12/17

[5] नाटक, पृ० 107

हैं जिससे सार्वभौम अत्यधिक प्रभावित होते हैं[1]। तदनन्तर चैतन्य के पितृ-परिचय को जानकर वे उनके साथ अत्यन्त आत्मीयता का अनुभव करते हैं। उनके आगमन के उद्देश्य को जानकर वे अपने पुत्र चन्दनेश्वर को चैतन्य को देव-दर्शन करवाने का आदेश देते हैं। श्रीचैतन्य एवं उनके परिकरों के चन्दनेश्वर के साथ चले जाने पर सार्वभौम गोपीनाथ से चैतन्य का परिचय पूछते हैं। केशव भारती को चैतन्य के मन्त्रोपदेष्टा के रूप में जानकर वे क्षुब्ध होते हैं तथा सुझाव देते हैं कि चैतन्य को फिर से योगपट्ट ग्रहण करवाकर वेदान्त का अनुयायी बना दिया जाए[2]। गोपीनाथ द्वारा चैतन्य का ईश्वर-स्वरूप प्रतिपादित करने पर सार्वभौम उनका एवं उनकी वैष्णव-आस्था का उपहास करते हैं। गोपीनाथाचार्य उन पर ईश्वरानुग्रह की आकांक्षा व्यक्त करते हैं। सार्वभौम चैतन्य को सपरिकर आने तथा भगवान् का प्रसाद ग्रहण करने को कहते हैं। गोपीनाथ सार्वभौम के इस प्रकार के अपमान-कर व्यवहार से क्षुब्ध होते हैं तथा इसके प्रतिकार के लिये आतुर हो जाते हैं[3]।

सुस्पष्ट है कि कविकर्णपूर तथा मुरारिगुप्त के ग्रन्थों में इस प्रसङ्ग में पर्याप्त भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। प्रथम 'चैतन्यचन्द्रोदय' में चैतन्य पहले देवदर्शन के लिये नहीं जाते हैं वरन् दर्शन की सुविधा प्राप्त करने के लिए गोपीनाथ द्वारा सार्वभौम के आवास में ले जाए जाते हैं।[4] जबकि कड़चा में पहले देवदर्शन होता है, तदनन्तर सार्वभौम-मिलन। दूसरा महत्त्वपूर्ण परिवर्तन नाटक में सार्वभौम के श्यालक गोपीनाथ की उपस्थिति है। कविकर्णपूर ने गोपीनाथाचार्य को चैतन्य-सार्वभौम-मिलन का मूल हेतु बनाकर इस प्रसङ्ग को स्वाभाविक बना दिया है क्योंकि मुरारि ने चैतन्य के मुख से सार्वभौम की सहायता की याचना करवाई है जबकि कर्णपूर के चैतन्य ने स्वयं एक शब्द भी इस सम्बन्ध में उच्चरित नहीं किया है। नाटक में लेखक को जो कुछ कहलवाना था सब गोपीनाथ से कहलवाया है[5]। चैतन्य-चरित्र की उदात्तता को बनाये रखने के लिए यह परिवर्तन महत्त्वपूर्ण है। घटनाओं की योजना की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण न होने पर भी एक अन्य परिवर्तन यहाँ दृष्टि को आकर्षित करता है। मुरारि की 'कड़चा' में सार्वभौम ने अपने अनुज, जिसका कहीं नाम निर्देश नहीं हुआ है, को श्रीचैतन्य को देवदर्शन करवाने का दायित्व सौंपा है[6]। नाटककार ने चन्दनेश्वर नामक सार्वभौम के पुत्र का इस सन्दर्भ में उल्लेख किया है[7]।

---

[1] भगवान्-कृष्णे रतिः कृष्णे मतिः। सार्वभौमः- (स्वगतम्) अहो अपूर्वमिदमाशंसनम्। वही, पृ० 109

[2] तन्मयैवं भण्यते भद्रतर साम्प्रदायिकभिक्षोः पुनर्योगपट्टं ग्राहयित्वा वेदान्त-श्रवणेनायं संस्करणीयः। वही, पृ० 111

[3] वही, पृ० 112

[4] दृष्ट्वा तं प्राह भगवान् सगद्गद्गिरा हरिः। कथं द्रक्ष्यामि देवेशं जगन्नाथं सनातनम्। कड़चा, 3/11/5

[5] गोपीनाथाचार्यः - श्रीजगन्नाथदर्शनसौलभ्यमेषामुद्देश्यमस्ति। नाटक, पृ० 110

[6] कड़चा, 3/11/13

[7] .....चन्दनेश्वरो भगवन्तं प्रणम्य पितरं प्रणमति। नाटक, पृ० 110

चन्दनेश्वर का मञ्च पर आगमन इस अङ्क के बाद में भी होता है। इसके अतिरिक्त सार्वभौम तथा गोपीनाथ की परस्पर उक्ति-प्रत्युक्ति चैतन्य के ऐश्वर्य को सिद्ध करने का अच्छा उपाय है।

नीलाचल के दर्शन के प्रसङ्ग में भी कर्णपूर ने मुरारि का अनुसरण नहीं किया है। मुरारि के अनुसार नीलाचल के दर्शन से उत्पन्न हुए प्रेमावेश के कारण बाह्यवृत्ति-शून्य महाप्रभु को ब्राह्मणों ने अवलम्बन देकर सार्वभौम के घर पहुँचाया जबकि नाटक में 'कड़चा' के समान चैतन्य अकेले देवदर्शन के लिए नहीं जाते हैं वरन् उनके साथ नित्यानन्द, दामोदर आदि तथा चन्दनेश्वर भी जाते हैं[1]।

सार्वभौम पर चैतन्यानुग्रह की घटना नाटककार की अपनी है। नाटक के अनुसार नीलाचल-चन्द्र के दर्शन के दूसरे दिन महाप्रभु प्रातःकाल जगन्नाथदेव की शयनोत्थान-लीला का दर्शन करने जाते हैं। उस समय 'प्रातःधूप' के प्रसादान्न तथा पुष्प माला को दो ब्राह्मणों से ग्रहण करके चैतन्यदेव तत्काल ही सार्वभौम के शय्यागृह को पहुँचते हैं। सार्वभौम भट्टाचार्य ग्रहग्रस्त के समान शय्या से उठकर महाप्रभु के चरणों पर गिर पड़ते हैं। श्रीचैतन्य उनके मुख में प्रसादान्न डालते हैं। चैतन्य के आदेश से स्नान अथवा मुख-प्रक्षालनादि का विचार किए बिना सार्वभौम प्रसादान्न को ग्रहण कर लेते हैं। तभी उन्हें प्रेमावेश हो जाता है[2]। इसके पश्चात् नियमानुसार जगन्नाथ दर्शन किए बिना ही भट्टाचार्य चैतन्य-दर्शन के लिये आ जाते हैं। उनके मन में यही भाव उदित होता है कि गोपीनाथ का कथन ही सत्य है अर्थात् चैतन्य साक्षात् ईश्वर हैं[3]। चैतन्यदेव उनकी भावनाओं की परीक्षा लेने के लिए उनसे शास्त्रार्थ करते हैं। प्रकाण्ड पण्डित सार्वभौम अनेक शास्त्रों का उद्धरण देते हुए अन्त में कृष्ण को ही मूर्तानन्द के रूप में स्वीकार करते हैं[4]। इसके पश्चात् चैतन्यदेव की आज्ञा से वे जगन्नाथ दर्शन करने जाते हैं तथा दामोदर एवं जगदानन्द के हाथ महाप्रभु के पास प्रसादान्न तथा चैतन्य की स्तुति में स्वरचित पद्य भेजते हैं। चैतन्यदेव उन्हें पढ़कर फाड़ देते हैं[5]।

'कड़चा' में चैतन्य के प्रथम साक्षात्कार में ही उनके रूप-वैभव को देखकर सार्वभौम के मन में महाप्रभु की वास्तविकता के विषय में शङ्का उत्पन्न हो जाती है। वहीं पर वे उन्हें कृष्ण के अवतार के रूप में स्वीकार कर लेते हैं[6]। तदनन्तर लोकमुख से सम्प्रदाय

[1] वही, पृ० 113

[2] वही, पृ० 117

[3] सार्वभौमः - (स्वगतम्) अहो अवितथमेवाह गोपीनाथचार्यः अस्माकमपि चेतो यदीदृशमजनि तदयमीश्वर एव। वही, पृ० 120

[4] अतो मूर्तानन्द एव कृष्ण इति शास्त्रार्थः। वही, पृ० 122

[5] कालान्नष्टं भक्तियोगं निजं यः प्रादुष्कर्तुं कृष्णचैतन्यनामा।
आविर्भूतस्तस्य पादारविन्दे गाढं गाढं लीयतां चित्तभृङ्गः।। वही, पृ० 123

[6] कड़चा, 3/11/11-12

परिवर्तन करवाने की सार्वभौम की लालसा को जानकर महाप्रभु उनको वेदान्त का निगूढ़ अर्थ बतलाते हैं तथा इसी स्थल पर 'चैतन्य परमेश ही हैं' इसका बोध सार्वभौम को हो जाता है। नाटककार ने एक नाटकीय-घटना के रूप में इस प्रसङ्ग को उपस्थित किया है। चैतन्यदेव का ऐश्वर्य प्रतिष्ठापित करना नाटककार का प्रधान उद्देश्य है अतः अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए अलौकिक प्रसङ्ग भी उन्हें इष्ट है। परिणामतः चैतन्य का सार्वभौम को अलौकिक प्रभाव से वशीभूत कर लेना वर्णित हुआ है। सार्वभौम अपने समय के प्रख्यात वेदान्ती थे। नाटककार ने उनके मुख से समस्त शास्त्रों के साररूप श्रीकृष्ण को उपस्थित कर भक्ति मार्ग को ही आलोकित किया है। चैतन्य की स्तुति के रूप में सार्वभौम के जिन दो श्लोकों का नाटक में उल्लेख हुआ है वे सार्वभौम रचित ही माने जाते हैं। 'कड़चा' में स्तुतिपरक अन्य श्लोकों में उनका भी समावेश हुआ है। नाटककार ने उनका उल्लेख बहुत स्वाभाविक रूप से किया है।

उपसंहार रूप में कहा जा सकता है कि षष्ठ-अङ्क की अनेक घटनाओं में 'कड़चा' से साम्य अथवा वैषम्य परिलक्षित होने पर भी 'सार्वभौमानुग्रह' जो इस अङ्क की प्रधान घटना है, नाटककार की मौलिक उद्भावना तथा नाटकीय नैपुण्य का प्रतीक है। इसमें मुरारि का उन पर कोई ऋण नहीं है।

सप्तम अङ्क

प्रस्तुत अङ्क में महाप्रभु श्रीचैतन्य के दक्षिण-भ्रमण तथा अनेक भक्तों के उद्धार का वर्णन है। श्रीचैतन्य के जीवन की अन्य घटनाओं की अपेक्षा उनकी दक्षिण-लीला के विषय में चरितकार अत्यल्प परिचित थे। यही कारण है कि मुरारिगुप्त जैसे चरितकार ने भी संक्षेप में इस समय का वर्णन किया है। कविकर्णपूर के प्रस्तुत अङ्क का आधार मुरारि का 'कड़चा' के होने पर भी कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भी हैं।

प्रथम पार्थक्य, सार्वभौम भट्टाचार्य के प्रति चैतन्य के व्यवहार में है। कर्णपूर के अनुसार चैतन्यदेव ने सार्वभौम भट्टाचार्य द्वारा किए गए रोदन, विलाप, अनुग्रह आदि की चिन्ता न करते हुए अपनी दक्षिण-दिशा की यात्रा प्रारम्भ की थी[1] जबकि मुरारि के चैतन्य ने सहृदय सुहृद् के समान, भट्टाचार्य के घर जाकर उनसे अपने जाने के लिए अनुमति की याचना की थी, उन्हें प्रेम-पूर्ण सान्त्वना देकर शीघ्र ही वापस आने का आश्वासन भी दिया था[2]।

मुरारिगुप्त ने चैतन्य के अकेले ही तीर्थ पर चले जाने का उल्लेख किया है। नाटक के अनुसार इस यात्रा में भगवान् ने अपने साथ सहायक ले जाने की अनुमति नहीं दी थी,

---

[1] कति न रुदितं धृत्वा पादौ तथापि स जग्मिवान्।

प्रकृतिमहतां तुल्यौ स्यातामनुग्रहनिग्रहौ। नाटक, पृ० 124

[2] आगमिष्याम्यदीर्घेण कालेनित्याह केशवः। कड़चा, 3/13/22

परन्तु सार्वभौम ने महाप्रभु से गोदावरी कच्छ पर रामानन्दराय से साक्षात्कार करने का अनुरोध किया था तथा इसी उद्देश्य से उन्होंने कतिपय ब्राह्णों को नियुक्त किया जो गोदावरी पर्यन्त चैतन्य के साथ गए[1]। नाटककार ने अपने नाट्य-नैपुण्य से इन्हीं ब्राह्मणों के माध्यम से चैतन्य की दक्षिण-यात्रा का वर्णन करवाया है। मुरारि के अनुसार चैतन्य पहले कूर्मक्षेत्र पहुँचे, तदनन्तर आलालनाथ दर्शन के लिए गए[2]। नाटक के अनुसार इसके विपरीत, चैतन्य ने पहले आलालनाथदेव का दर्शन किया तदनन्तर स्वल्पकाल के पश्चात् वे कूर्मक्षेत्र पहुँचे[3]।

रामानन्दराय से मिलने के वर्णन-प्रसङ्ग में कर्णपूर ने मुरारि का अनुकरण नहीं किया है। मुरारि के अनुसार चैतन्य देव स्वयं राय महोदय के घर गए तथा उन्होंने अपनी लीला उनके सामने प्रकट की[4]। 'कड़चा' में राय के साथ महाप्रभु का मिलन उनके दक्षिण जाने तथा वापस आने, दोनों समय में ही दिखलाया गया था[5]। नाटककार ने चैतन्य के केवल दक्षिण जाने के समय में ही रामानन्द के साथ उनके साक्षात्कार का उल्लेख किया है। कर्णपूर के अनुसार श्रीचैतन्य जब गोदावरी तट पर पहुँचे तो जन समुदाय भगवान् की स्वयंप्रकाशिनी वार्ता से आकृष्ट होकर उनके दर्शन के लिये वहीं पहुँचा। रामानन्द भी मन्त्राकृष्ट से होकर चैतन्य के निकट पहुँचे। सार्वभौम ने दक्षिण की ओर प्रयाण करने से पूर्व ही चैतन्य से अनुरोध किया था कि वे रामानन्द से अवश्य मिलें और वह मिलन गोदावरी के तट पर अनायास ही हो गया। रामानन्द यद्यपि महाप्रभु के विषय में सर्वथा अपरिचित थे तथापि प्रथम दर्शन में ही उन्होंने चैतन्य के प्रति चिरकालीन सौख्यसुख का अनुभव किया। वहीं पर रामानन्द तथा चैतन्य में कुछ गम्भीर विचार विनिमय भी हुआ[6]। अन्ततः उन्होंने श्रीचैतन्य को साक्षात् श्रीकृष्ण-रूप में स्वीकार किया। इसी सन्दर्भ में उन्होंने चैतन्य को अपने स्वप्न में साक्षात्कार से पहले ही दर्शन कर लेने की बात बताई[7]। कड़चा में रामानन्द को कृष्णध्यान के अवसर पर ही गौराङ्गदर्शन हो गया था, ऐसी अलौकिक बात का चित्रण किया गया है। स्वाभाविकता लाने के लिए कर्णपूर ने ध्यान के

---

[1] नाटक, पृ० 125

[2] कड़चा, 3/14/1, 15

[3] नाटक, पृ० 126

[4] ययौ स काञ्चीनगरं जगद्गुरु-द्रष्टुं श्रीरामानन्दाख्यरायम्।
ददर्श वारत्रयमद्भुतं महद् गोराङ्गमाधुर्यमतीव विस्मितः।
कड़चा, 3/15/1-2

[5] श्रीरामरायेण पुनः सुपूजितो बभौ रसज्ञेन द्विजगृहे सुखी। कड़चा, 3/16/9

[6] नाटक, पृ० 127-128

[7] भगवन्, यथैवाद्य स्वप्ने दृष्टं तथैव साक्षादपि। वही, पृ० 132

गौराङ्ग-दर्शन को ही स्वप्न दर्शन के रूप में परिवर्तित कर दिया। चैतन्य की भगवत्ता तथा अलौकिकता का प्रभाव बनाए रखने के लिए ही नाटककार ने चैतन्य को रामानन्द के घर न भेजकर रामानन्द को ही चैतन्य के पास पहुँचाया। इस परिवर्तन के साथ ही रामानन्द तथा चैतन्य के मध्य हुए भक्ति-परक कथोपकथन का प्रसङ्ग नाटक का अपना वैशिष्ट्य है।

प्रस्तुत अङ्क में लेखक ने कुछ और नवीन तथ्यों का परिवेशन किया है जो 'कड़चा' में अनुपलब्ध हैं। कर्णाटपति के अमात्य मल्लभट्ट अपने स्वामी द्वारा प्रेषित उपहार लेकर उत्कल सम्राट प्रतापरुद्र की सभा में आते हैं। दक्षिण तथा उत्कल के राजनैतिक सम्पर्क पर मुरारि ने इस प्रकार का कोई प्रकाश नहीं डाला है। नाटक में अमात्य मल्लभट्ट का आगमन केवल दोनों राज्यों के स्नेहिल सम्पर्क का सूचक मात्र नहीं है वरन् कथावस्तु को गति देने में बहुत बड़ा सहायक भी है, क्योंकि मल्लभट्ट ही चैतन्य-महाप्रभु की दक्षिण-यात्रा तथा तज्जन्य अतुलनीय प्रभाव की सूचना देता है। ज्ञात होता है कि चैतन्य के आगमन से पूर्व अन्य प्रदेशों की भांति दक्षिण में भी विविध धार्मिक सम्प्रदाय प्रचलित थे तथा धर्म की अपेक्षा आडम्बर ही अधिक था। स्वयं शासक भी इस धार्मिक दुरवस्था से सन्त्रस्त थे। चैतन्य देव के आगमन के अनन्तर सामान्य जन उनसे अत्यधिक प्रभावित हुए तथा धार्मिक आडम्बरों का परित्याग करके वे सरल रूप से भक्ति मार्ग के अनुयायी बनने लगे[1]। स्वयं नरपति भी चैतन्य की अलौकिकता से चमत्कृत हुए।

प्रस्तुत सन्दर्भ में कतिपय नूतन घटनाओं का उल्लेख है जिनका मुरारिगुप्त ने कोई सङ्केत नहीं दिया है। प्रथम घटना के अनुसार दक्षिण मार्ग से परिचित न होने पर भी महाप्रभु प्रेमावेश में नाम सङ्कीर्तन करते हुए चल रहे थे। मार्ग में कुछ पाखण्डियों ने कुक्कुरोपयोगी दूषित अन्न को पात्र में रखकर उन्हें दिया। सर्वज्ञ होने के कारण वस्तुस्थिति से परिचित होने पर भी भगवान् के प्रसाद को अस्वीकार करना चैतन्य को उचित न लगा अतः उन्होंने उसे स्वीकार कर लिया तथा हाथ में ऊँचा उठाए हुए चल पड़े। उसी समय किसी विशालकाय पक्षी ने आकर अपने चञ्चुपुट में उसे ग्रहण किया तथा उड़ गया[2]। इस प्रकार उन पाखण्डियों पर भी चैतन्य का प्रभाव पड़ा।

दूसरी घटना भी मुरारि रचित कड़चा में नहीं मिलती है। नाटक के अनुसार महाप्रभु स्वेच्छा से ही किसी ब्राह्मण के पास गए तथा उसे राम नाम जपते हुए देखकर अपने मार्ग पर चले गए। उसी मार्ग से प्रत्यागमन करते हुए उन्होंने उसी ब्राह्मण को कृष्ण-नाम जपते हुए पाया। चैतन्य दर्शन के पश्चात् से ही उसकी जिह्वा विवश सी राम नाम छोड़कर कृष्ण नाम जप रही थी[3]। कृष्णात्मक श्रीचैतन्य के दर्शन से कृष्ण-स्फूर्ति होती थी। यही कारण था कि दक्षिण में जो वैष्णव राघव में आसक्त थे, चैतन्य के दर्शन के बाद

---

[1] वही, पृ० 133
[2] वही, पृ० 133-134
[3] वही, पृ० 134

वे सभी कृष्ण-पक्षपाती बन गए[1]।

मुरारिगुप्त ने जिस गीतापाठी अतत्त्वज्ञ ब्राह्मण का वर्णन किया है[2] कर्णपूर ने कुछ और विस्तार तथा प्रभु की अलौकिकता के उपादान के रूप में उसी विषय को ग्रहण किया है। तदनुसार महाप्रभु ने न केवल उस गीतापाठी को गीता-पाठ का उत्तमाधिकारी ही माना वरन् उसे अपने आलिङ्गनपाश में बांध भी लिया। इससे उसे अपार्थिव आनन्दानुभूति हुई तथा उसे यह भी स्पष्ट हो गया कि पार्थसारथी श्रीकृष्ण तथा श्रीचैतन्य अभिन्न हैं[3]।

'कड़चा' के अनुसार श्रीचैतन्य पुनः रामानन्दराय से मिलने के पश्चात् श्रीविष्णुदास नामक ब्राह्मण के साथ आलालनाथ गए। देवदर्शन के अनन्तर वहाँ कतिपय दिन व्यतीत करके वे नीलाचल आ गए[4]। कविकर्णपूर ने प्रभु के प्रत्यागमन के विषय में ऐसा कोई उल्लेख नहीं किया है। इसके विपरीत कविकर्णपूर के अनुसार चैतन्यदेव दक्षिण की तीर्थयात्रा से जब वापस आते हैं तो जगन्नाथपुरी तक उनके साथ विशाल जनसमुदाय भी होता है[5]। गोदावरी के पश्चात् चैतन्य अकेले ही तीर्थ पर गए थे, प्रत्यागमन के समय उनके साथ जिस विशाल जनसमूह के आने का उल्लेख हुआ है, उसका परिचय देने में नाटककार मौन हैं परन्तु पहले दिए हुए वर्णनों से यह स्पष्ट हो चुका है कि श्रीचैतन्यदेव की दक्षिण-यात्रा भक्ति प्रचार का शोभन उपाय थी। चैतन्य के आकर्षण में जनसमुदाय उनके आस-पास उमड़ पड़ता था। उनके दर्शन के अनन्तर वे कृष्ण-पक्षपाती हो जाते थे। ऐसी अवस्था में इस बात की पूरी सम्भावना है कि नाटककार ने जिन व्यक्तियों की उनके साथ नीलाचलक्षेत्र तक जाने की बात बताई है वे मार्ग में बने उनके अनुयायि-वर्ग ही थे। श्रीचैतन्य के अकेले न आकर जनसमूह के साथ आने की कल्पना मुरारि की अपेक्षा नाटक में भिन्न है, यह तो स्पष्ट ही है।

इस अङ्क में कविकर्णपूर द्वारा किए गए महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों में जहाँ एक ओर कुछ भक्तों के उद्धार एवं चैतन्य की अलौकिकता का उल्लेख हुआ है वहीं तत्कालीन राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक अवस्था पर भी प्रकाश डाला गया है।

अष्टम अङ्क

पहले ही इस बात पर प्रकाश डाला गया है कि मुरारिगुप्त ने यद्यपि चैतन्य के

---

[1] वही, पृ० 135

[2] श्रीरङ्गनाथस्य समीपं विप्रो गीतां पठन् शुद्धविचारशून्यम्।
प्रेमाश्रुपूर्णं स निरीक्ष्य कृष्ण आलिङ्ग्यप्राह श्रुतमेव योग्यम्।। कड़चा, 3/15/8

[3] नाटक, पृ० 135

[4] श्रीविष्णुदासेन द्विजेन सार्धमालालनाथं स जनार्दनं प्रभुः।
दृष्ट्वा प्रणम्य निवसन् कियद्दिनमायाति सर्वेश्वरनीलकन्दरम्।। कड़चा, 3/16/12

[5] नाटक, पृ० 136

सम्पूर्ण जीवन को अपने 'कड़चा' के विषय-वस्तु के रूप में स्वीकार किया है तथापि उनके पूर्ववर्ती जीवन-चित्रण में ही उन्होंने अधिक रुचि प्रदर्शित की है। इसके विपरीत कविकर्णपूर ने अपने नाटक में चैतन्य के उत्तरवर्ती जीवन-चित्रण में ही अधिक रंग भरा है। अतएव चैतन्य के उत्तरकालीन जीवन चित्रण में नाटककार का मुरारि से वैषम्य परिलक्षित होना स्वाभाविक है। कर्णपूर ने इन पश्चाद्वर्ती अङ्कों में ऐतिहासिक नायक चैतन्यदेव के जीवन की ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन तो किया ही है साथ ही उनके सम्पर्क में आने वाले व्यक्तियों तथा उनके जीवन में चैतन्य-प्रभाव का भी उल्लेख किया है। इन सूचना रूप में परिवेशित तथ्यों का चैतन्य-चरित के अङ्कन में विशेष महत्त्व है। मुरारि से नाटककार का यह पार्थक्य स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होता है।

'प्रतापरुद्रानुग्रह' नामक अष्टम अङ्क की प्रधान घटना वास्तव में उत्कल-नरेश गजपति प्रतापरुद्र पर चैतन्य का अनुग्रह ही है किन्तु दीर्घ अङ्क में इसके साथ-साथ अन्य-अनेक सूचनाएं भी दी गई हैं। ये सूचनाएं अधिकतर महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों से सम्बन्धित हैं। घटनाक्रम से इनका वर्णन करने पर 'कड़चा' से सादृश्य अथवा पार्थक्य स्वयमेव स्पष्ट हो जाएगा।

नाटक में दक्षिण-दिशा से प्रत्यावृत्त श्रीचैतन्य रामानन्दराय की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं। उनके अनुसार सार्वभौम की समता यदि कोई कर सकता है तो वह रामानन्दराय ही हैं। 'रामानन्द का मत ही उनको रुचिकर है' यह भी वे स्वीकार करते हैं[1]। यद्यपि मुरारिगुप्त ने श्रीचैतन्य से रामानन्द के दो बार साक्षात्कार का उल्लेख किया परन्तु मुक्तकण्ठ से राय की ऐसी प्रशंसा 'कड़चा' में कहीं भी नहीं की गई है। स्पष्टतः कर्णपूर ने मुरारि की अपेक्षा रायमहाशय का अधिक महत्त्व प्रतिपादित किया है।

मुरारिगुप्त ने दक्षिण से लौटे हुए श्रीचैतन्य के काशीनाथ के घर ठहरने की सूचना दी है[2]। नाटक में भी यही सङ्केत है परन्तु अन्तर केवल इतना है कि कर्णपूर के अनुसार इस व्यवस्था के सूत्रधार कोई अन्य नहीं वरन् स्वयं महाराज गजपति प्रतापरुद्र थे। नाटककार ने इसी बात का सङ्केत किया है कि श्रीचैतन्य के दर्शन से पूर्व ही राजा प्रतापरुद्र श्रीचैतन्य के प्रति पूर्ण अनुरक्त हो चुके थे तथा उनके आवासादि से सम्बन्धित सभी व्यवस्था का दायित्व भी स्वयं ग्रहण कर चुके थे[3]।

उत्कल के भक्तों की परिगणना करने पर भी मुरारि ने जगन्नाथदेव के काशीमिश्रादि प्रधान सेवकों को छोड़कर अन्य भक्तों का कहीं नामोल्लेख भी नहीं किया है पर कर्णपूर

---

[1] श्रीकृष्णचैतन्यः-सार्वभौम, एतावद्दूरं पर्यटितं, भवत्सदृशः न कोऽपि दृष्टः केवलमेव रामानन्दरायः स त्वलौकिक एव भवति।........रामानन्दमतमेव मे रुचितम्। नाटक, पृ० 137

[2] श्रीकाशीनाथस्य गृहे स्थितो हरिः। कड़चा-3/16/13

[3] नाटक, पृ० 137

नीलाचल-लीला के उपादान-रूप में तथा चैतन्य के अनुग्रहाभिलाषी के रूप में अनेकों सामान्य व्यक्तियों का भी उल्लेख करना नहीं भूलते हैं[1]।

कर्णपूर के अनुसार नीलाचल में रहते हुए श्रीचैतन्य के साथ परमानन्दपुरी का साक्षात्कार हुआ था। मुरारि ने भी इन दोनों के मिलन का वर्णन किया है। दोनों के वर्णित काल तथा महत्त्व में अन्तर है। 'कड़चा' के अनुसार जब श्रीचैतन्य श्रीरङ्गक्षेत्र में रहने के पश्चात् वापस आ रहे थे तो मार्ग में उन्होंने श्रीमाधवपुरी के शिष्य परमानन्दपुरी को देखा[2]। परमानन्द भी चैतन्य को देखते ही प्रेमाश्रु तथा रोमाञ्च से युक्त हो गए। श्रीचैतन्य द्वारा नमन किए जाने पर पुरी महोदय ने उन्हें जगन्नाथ के रूप में स्वीकार किया। श्रीचैतन्य ने उन्हें जगन्नाथक्षेत्र जाने तथा तब तक वहाँ ठहरने को कहा जब तक श्रीचैतन्य वहाँ पहुँच न जाएं[3]। इस सन्दर्भ में कर्णफूर की भिन्नता यह है कि उन्होंने चैतन्य के पुरी पहुंच जाने पर ही दोनों का मिलन दिखलाया है। परमानन्द पुरी के आगमन की वार्ता सुनकर श्रीकृष्णचैतन्य की स्वगत उक्ति से कहीं भी यह ध्वनि नहीं निकलती है कि परमानन्दपुरी चैतन्य के आमन्त्रण पर जगन्नाथ पुरी आए हैं[4]। परमानन्दपुरी की भी चैतन्य से मिलने की व्याकुलता एवं असहिष्णुता भी इसी बात को सुदृढ़ करती है कि वह चैतन्य से पहले नहीं मिले थे। दोनों का पारस्परिक संवाद भी यही स्पष्ट करता है[5]। इस प्रकार परमानन्दपुरी का बनारस से नीलाचल चैतन्य से मिलने आना नाटककार की नूतन उद्भावना है। इसी प्रकार दामोदरस्वरूप का चैतन्य संसर्ग में आना इस अङ्क की एक अन्य विशेष घटना है। मुरारिगुप्त ने दामोदर स्वरूप को अपने 'कड़चा' में कोई गौरवपूर्ण स्थान नहीं दिया है। नवद्वीपवासी भक्तों के स्वागत के लिए नरेन्द्र सरोवर तक पहुँचने वाले नीलाचलस्थ भक्तों के साथ ही उनका भी केवल नाम ही उल्लिखित हुआ है[6]। इसके विपरीत कर्णपूर के नाटक में दामोदर का अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। परमानन्दपुरी से

---

[1] वही, पृ० 138

[2] उषित्वैवं रङ्गक्षेत्राद्गच्छन् पथि ददर्श सः।
श्रीमाधवपुरीशिष्यं परमानन्द नामकम्।
कड़चा, 3/15/21

[3] गच्छ क्षेत्रं महारम्यं यावच्चाहं समाव्रजे।
तावदेव भवान् तिष्ठत्वेवमुक्त्वा ययौ हरिः।
वही, 3/15/25

[4] श्रीकृष्णचैतन्यः- (स्वगतम्) अहो, परमानन्दपुरीश्वरस्तावन्मुनीन्द्रमाधवपुरीश्वरस्य शिष्यः। यत्र खल्वग्रजस्य विश्वरूपस्य समग्रमैश्वरं तेजः प्रविष्टं स एव वा समागतः। भवतु देवं विलोक्य तत्त्वमस्य ज्ञेयम्। नाटक, पृ० 139

[5] पुरी (ससंभ्रमम्)- भगवन्, त्वद्दर्शनार्थमेवायमहमुत्कण्ठितो वाराणसीतः आगच्छन्नस्मि। श्रीकृष्णचैतन्यः अनुगृहीतोऽस्मि। वही, पृ० 140

[6] कड़चा, 4/10/18, 23

मिलने के पश्चात् अन्य प्रसङ्ग में उच्चरित दामोदर स्वरूप का नाम सुनने मात्र से चैतन्यदेव को लगता है कि वास्तव में दामोदर स्वरूप भी आने वाले हैं[1]। नाटक में दामोदर स्वरूप का विस्तृत परिचय दिया गया है जिससे ज्ञात होता है कि उनके गुरु चैतन्यानन्द हैं तथा वैराग्य के वशीभूत हो सर्वस्व त्याग कर उन्होंने संन्यास आश्रम को ग्रहण कर लिया है[2]।

नाटक में ईश्वरपुरी का सेवक अपने स्वामी की आज्ञा से चैतन्यदेव के समीप आता है जिसे वे अपने परिचारक रूप में नियुक्त कर लेते हैं[3]। मुरारि ने इस घटना का भी कहीं उल्लेख नहीं किया है। यह कर्णपूर के नाटक में नूतन योजना है।

नाटक में आगत व्यक्तियों की इसी परम्परा में ब्रह्मानन्द भारती का आगमन होता है। चर्माम्बरधारी की बाह्याडम्बर-प्रीति को देखकर चैतन्य अपनी अरुचि व्यक्त करते हैं जिससे ब्रह्मानन्द अपनी भूल सुधार लेते हैं। इसके पश्चात् वे श्रीचैतन्य को ईश्वर रूप में स्वीकार कर लेते हैं[4]। नाटक की यह घटना उपेक्षणीय नहीं है जबकि मुरारि ने कहीं ब्रह्मानन्दभारती को स्थान नहीं दिया है।

पहले ही यह बतलाया गया है कि इस अङ्क की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना राजा गजपति प्रतापरुद्र पर चैतन्यदेव का अनुग्रह है। सप्तमाङ्कानुसार जिस समय चैतन्यदेव दक्षिण-भ्रमण के लिए गए हुए थे, उसी समय प्रतापरुद्र ने महाप्रभावी तथा परमकारुणिक चैतन्य देव के उत्कलागमन के विषय में सुना। तभी उनके मन में देवदर्शन की लालसा जागी। सार्वभौम भट्टाचार्य उससे पूर्व ही चैतन्यदेव की कृपा-दृष्टि प्राप्त कर चुके थे। राजा ने सार्वभौम पर ही यह दायित्व डाला कि वे राजा को महाप्रभु चैतन्य का दर्शन करवा दें। भट्टाचार्य इस बात से अवगत थे कि प्रचार की आकांक्षा से रहित चैतन्यदेव जैसे महानुभाव, अकिञ्चन को ही दर्शन देते हैं, प्रतापरुद्र के समान राजा महाराजा को नहीं[5]।

अष्टम अङ्क के अनुसार दक्षिण से प्रत्यागमन के अनन्तर सार्वभौम ने चैतन्यदेव को राजा की प्रार्थना से अवगत कराया। चैतन्यदेव इस प्रार्थना से तिलमिला उठे। उनकी मान्यता थी कि भगवद्भजनोन्मुख निष्किञ्चन व्यक्तियों का विषयी जनों तथा स्त्रियों के सम्पर्क में आना विष-भक्षण से भी अधिक बुरा है। सार्वभौम के द्वारा पुनः प्रार्थना करने पर चैतन्य क्रुद्ध हो उठे तथा सार्वभौम को सावधान किया कि यदि वे फिर अनुरोध करेंगे

---

[1] नाटक, पृ० 141

[2] समस्तहानाय तुरीयाश्रमं जग्राह वैराग्यवशेन केवलम्। वही, पृ० 141

[3] वही, पृ० 142

[4] य आनन्दो यस्मादपि स च स ईशो मम मतम्। वही, पृ० 144

[5] राजा-कथं मया तस्य चरणवन्दनं क्रियते। भट्टाचार्यः-इदं त्वतिदुर्घटम्। विरलप्रचाराणां तेषां निष्किंचनेनैव दर्शनं लभ्यते। वही, पृ० 124

तो चैतन्यदेव उस स्थान का परित्याग कर चले जायेंगे[1]। सार्वभौम से चैतन्यदेव के निर्णय को जानकर राजा अत्यन्त हताश होते हैं तथा अपना निश्चय सुना देते हैं कि यदि प्रभु उन्हें दर्शन नहीं देंगे तो वे भी अपने प्राणों का परित्याग कर देंगे[2]। सार्वभौम राजा के प्रगाढ़ प्रेम तथा अनुराग को पहचान कर उन्हें मन्त्रणा देते हैं कि जगन्नाथदेव की रथयात्रा के समय राजवेश का परित्याग कर सामान्य व्यक्ति के वेश में एवं गोपनीय रूप में वे एकान्त उपवन में चैतन्यदेव के समीप अकस्मात् पहुँचकर उनकी शरण लें। राजा भट्टाचार्य महोदय की मन्त्रणा को स्वीकार कर लेते हैं। रथयात्रा के अवसर पर नृत्य सङ्कीर्तन से क्लान्त चैतन्यदेव के समीप राजा पहुँचते हैं। उस समय प्रेमनिमग्न चैतन्य के दोलायमान चरणयुगल को राजा अकस्मात् आलिङ्गनपाश में आबद्ध कर लेते हैं। सबको आश्चर्य-विह्वल करते हुए राजा को चैतन्यदेव आलिङ्गन में बांध कर कृतार्थ कर देते हैं[3]।

मुरारिगुप्त ने भी 'श्रीप्रतापरुद्रानुग्रह' नामक सर्ग विशेष में श्रीचैतन्यदेव के कृपा-प्रार्थी प्रतापरुद्र के उद्धार का वर्णन किया है। यद्यपि कविकर्णपूर ने इस घटना का चयन 'कड़चा' से ही किया है तथापि उन्होंने वहाँ से केवल भाव-मात्र ही लिया है तथा उसे पल्लवित एवं पुष्पित करके नाटकीयता से मार्जित कर नाटक की एक विशेष घटना के रूप में उपस्थित किया है। 'कड़चा' तथा नाटक में वर्णित इस घटना में सर्वप्रथम कालविषयक पार्थक्य दृष्टि को आकर्षित करता है। मुरारिगुप्त के अनुसार न केवल दक्षिण-भ्रमण वरन् तदनन्तर वृन्दावन-गमन एवं नवद्वीप-विहार के पश्चात् ही प्रतापरुद्र पर चैतन्यदेव ने कृपा-कटाक्ष किया[4]। इसके विपरीत कर्णपूर के अनुसार चैतन्य के दक्षिण-प्रयाण के अवसर पर राजा के मन में चैतन्यदर्शन की लालसा अङ्कुरित हो जाती है[5]।

दूसरा अन्तर चैतन्य देव के अनुग्रह प्रकार में भी है। दोनों ग्रन्थों में ही प्रतापरुद्र चैतन्य-अनुग्रह की प्राप्ति के लिये सार्वभौम के शरणापन्न होते हैं। कर्णपूर के अनुसार चैतन्य की अस्वीकृति के पश्चात् ही सार्वभौम ने गोपनीय रूप से चैतन्य के दर्शन करने का उपाय बतलाया है जबकि मुरारि के 'कड़चा' में सार्वभौम ने चैतन्य से पूछने से पहले ही इस कार्य को दुष्कर मानते हुए महाराजा को स्वयं ही नित्यानन्द प्रभु के साथ गौराङ्ग

---

[1] वही, पृ० 144

[2] प्राणांस्त्यजामि किमु वा किमु वा करोमि तत्पादपङ्कजयुगं नयनाध्वनीननम्। वही, पृ० 148

[3] निमीलयन्नयनकमलेन स्वानन्दावेशविवशेन भगवताऽयमलक्षित एव यद्भगवच्चरणकमले दधार.....। वही, पृ० 158

[4] कड़चा, 4/16/2

[5] नाटक, पृ० 124

महाप्रभु के सङ्कीर्तनानन्द में मत्त होने पर दर्शन करने का उपदेश दिया है। इसके पश्चात् पूर्व योजना के अनुसार राजा ने कीर्तन के अवसर पर अश्रु, कम्प, पुलक तथा लार से युक्त नित्यानन्द तथा चैतन्य के दर्शन किए। अपने प्रासाद में जाकर रात्रि में स्वप्न में उन्होंने कीर्तन करते हुए तथा रत्न सिंहासन पर बैठे हुए उन्हीं दोनों को तीन बार देखा[1]। निद्रा-भङ्ग होने पर राजा को श्रीचैतन्य के ईश्वर-रूप का बोध हुआ तथा उन्होंने चैतन्य के चरणों की शरण ली। कृपा करते हुए चैतन्यदेव ने राजा को अपना षड्भुज रूप दिखलाया[2]।

नाटककार ने इस प्रसङ्ग में यथोचित परिवर्तन करके घटना को नाटकोपयोगी बना लिया है। उन्होंने मुरारिगुप्त द्वारा वर्णित षड्भुज-रूप प्रदर्शन की बात का पूर्णतया परिहार किया है। नाटक में राजा की प्रभु-दर्शन की आतुरता एवं तदर्थ सर्वस्व-त्याग की भावना को महत्त्व दिया गया है। राजा प्रतापरुद्र का उल्लेख 'कड़चा' में केवल इसी स्थल पर हुआ है परन्तु नाटक में इसके पश्चात् भी राजा तथा उनके साथ उनकी महिषी का भी वर्णन मिलता है। स्पष्ट है कि नाटक में 'कड़चा' की अपेक्षा प्रतापरुद्र को अधिक महत्त्व दिया गया है।

नाटक में राजा प्रतापरुद्र का प्रसङ्ग इसके पश्चात् नवम तथा दशम अङ्क में भी आता है। उत्कलनरेश का जगन्नाथ देव की अपेक्षा चैतन्यदेव के प्रति अधिक आकर्षण अनुभव करना इन दोनों अङ्कों में वर्णित है। यह भी नाटककार की अपनी विशेषता है। वृन्दावन जाते हुए चैतन्य देव की सुख-सुविधा का ध्यान रखने के लिये राजा के लेखाधिकार को लेकर अधिकारी जनों का पहले ही प्रस्थान कर जाना भी एक नवीन कल्पना है[3]।

प्रतापरुद्र विषयक यह परिवर्तन एक ओर नाटककार की मौलिकता को स्पष्ट करता है तो दूसरी ओर प्रतापरुद्र जैसे भक्त के वर्णन से चैतन्यदेव की भगवत्ता की भावना सुदृढ़ होती है।

नवम अङ्क

अष्टम एवं नवम अङ्क के मध्य के प्रवेशक से श्रीचैतन्य के नीलाचल में नियमित रूप से रहने का पता चलता है तथा प्रत्येक वर्ष देश के विभिन्न मार्गों से हजारों व्यक्तियों के जगन्नाथ दर्शन की अपेक्षा चैतन्य-दर्शन की उत्कण्ठा से नीलाचल आने की सूचना मिलती है[4]। मुरारिगुप्त ने देश के विभिन्न भागों से भक्तों के पुरी पहुँचने का उल्लेख नहीं

---

[1] ययौ स्वभवनं प्रीतः सुप्तः स्वप्ने ददर्श तौ। रत्नसिंहासनस्थौ च कीर्तनानन्दविग्रहौ। कड़चा, 4/16/48

[2] वही, 4/16/13

[3] तवाधिकारं यावत् तव लेखमादाय पूर्वमेव कश्चिद् गतोऽस्ति, करिष्यति च स एव सर्वसमाधानम्। नाटक, पृ० 167

[4] प्रतिसंवत्सरं...नानादेशतः सर्वे जगन्नाथदर्शनतोऽपि तद्दर्शनबद्धोत्कण्ठः पर सहस्राः प्राणिनः उपतिष्ठन्ति। नाटक, पृ० 161

किया है। उन्होंने केवल गौड़-निवासी भक्तों की लम्बी तालिका उपस्थित की है जो चैतन्य के दर्शन के लिये नीलाचल जाना चाहते हैं[1]। कर्णपूर की दृष्टि में चैतन्य की देशव्यापी ख्याति का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रसङ्ग में एकाध परिवर्तन और भी ध्यान देने योग्य है। मुरारि न अपनी सूची में अन्य अनेक व्यक्तियों के साथ नरहरि तथा रघुनन्दन का नामोल्लेख किया है जबकि कर्णपूर ने नरहरि तथा रघुनन्दन का ही केवल विशेष रूप से उल्लेख किया है[2]। चैतन्य देव के दर्शनाभिलाषी 'भगवान्' नामक न्यायाचार्य ने पुरुषोत्तम क्षेत्र में जीवन-पर्यन्त रहना प्रारम्भ कर दिया था, इस बात की सूचना केवल कर्णपूर ने दी है[3]।

साक्षादनुग्रह के साथ-साथ परहृदय-प्रवेश तथा चिन्तन मात्र-आविर्भाव रूप दो अन्य प्रकार के चैतन्य अनुग्रहों का कर्णपूर ने विस्तार से वर्णन किया है। मुरारि ने ऐसा कोई उल्लेख नहीं किया है। 'पर-हृदय-प्रवेश' रूप अनुग्रह का वर्णन करते हुए कर्णपूर ने नकुल ब्रह्मचारी की कथा बताई है। नकुल ब्रह्मचारी पर चैतन्य देव का आवेश हो गया था। सभी लोगों ने उनकी पूजा की परन्तु शिवानन्दसेन के मन में कुछ सन्देह उत्पन्न हो गया। नकुल ने शिवानन्द के इष्ट मन्त्र 'गौरगोपाल' का उल्लेख करके उस सन्देह का निराकरण कर दिया। तब शिवानन्दसेन ने भी नकुल पर चैतन्य-आवेश का विश्वास कर लिया[4]। मुरारि की 'कड़चा' में ऐसी कोई घटना लिपिबद्ध नहीं हुई है।

कविकर्णपूर ने चैतन्य के चिन्तन मात्र-आविर्भाव रूप लोकानुग्रह का भी उल्लेख किया है। यह घटना भी नाटककार के पिता शिवानन्द सेन से सम्बन्धित है। तदनुसार किसी वर्ष शिवानन्द के भाञ्जे श्रीकान्त से महाप्रभु ने कहलवाया कि उस वर्ष अद्वैतादि नीलाचल न आएं क्योंकि प्रभु ने स्वयं उनके पास जाने का निश्चय किया है। उन्होंने पौष मास में शिवानन्द के समीप जाकर भिक्षा करने का भी अपना निश्चय बतलाया। सेन महोदय ने भिक्षा की सम्पूर्ण प्रस्तुति कर ली। किसी कारण से महाप्रभु वहाँ न पहुँच सके। तब शिवानन्द के दुःख को दूर करने के लिए नृसिंहानन्द ब्रह्मचारी नाम से प्रसिद्ध प्रद्युम्न ब्रह्मचारी ने तीन दिन तक समाधिस्थ होकर चैतन्यदेव का आह्वान किया। तदनन्तर उन्होंने चैतन्यदेव, नृसिंह तथा जगन्नाथ के लिए तीन भागों में विभाजित स्वपक्व भोजन का भोग लगाया। बाद में ध्यानस्थ हुए प्रद्युम्न ने चैतन्य देव को तीनों भागों का सेवन करते हुए देखा। इस प्रसङ्ग से उत्पन्न शिवानन्द की शङ्का का समाधान किसी अन्य

---

[1] अथ भक्तगणाः सर्वे ये ये गौडनिवासिनः। गन्तुमिच्छन्ति गौराङ्गदर्शनाय नीलाचलम्। कड़चा, 4/17/1

[2] दामोदरपण्डितश्च रघुनन्द ठक्कुरः। श्रीमुकुन्दनरहरि-चिरञ्जीव-सुलोचनः। वही, 4/17/12-13 नरहरिरघुनन्दन प्रधानाः कतिचन......। नाटक, पृ० 161

[3] भगवान्नाम न्यायाचार्यस्तु पुरुषोत्तम एव भगवच्चैतन्यदर्शनाकांक्षी यावज्जीवं स्थितः। वही, पृ० 161

[4] वही, पृ० 162-163

वर्ष महाप्रभु द्वारा प्रद्युम्न की पाक-कुशलता की प्रशंसा से हो गया।[1] मुरारिगुप्त ने गौड़ से नवद्वीप पहुँचने वाले भक्तों की सूची में प्रद्युम्न का केवल नाम मात्र गिनाया है[2], इस घटना का कोई उल्लेख नहीं किया है।

मुरारि की 'कड़चा' के अनुसार दक्षिण से लौटने के बाद प्रभु ने वृन्दावन जाने का विचार किया पर भक्तों के आग्रह से वे रुक गए। इसके बाद जब वे वृन्दावन गए तो उससे पहले भक्त परिवृत्त वे 'रामकेलि' गए। वहाँ उनसे मिलने के लिए सनातन गोस्वामी आए[3]। सनातन ने चैतन्य देव को अकेले वृन्दावन जाने का सुझाव दिया। महाप्रभु ने भी लोक-समूह के साथ वहाँ जाना दुःखदायी ही समझा। अतः वहाँ अकेले जाने का निश्चय किया[4]। तत्पश्चात् वे अद्वैतालय गए। वहीं सङ्कीर्तनादि करते हुए रात्रि व्यतीत की। नवद्वीप से माता तथा अन्य भक्तवृन्द को भी वहीं (शान्तिपुर) बुला लिया। माता द्वारा पाचित भोजन ग्रहण कर तथा प्रिय भक्तों सहित आनन्द कौतुक करते हुए उन्होंने समय यापन किया। इसके बाद नीलाचल लौटकर अपने भक्त-वर्ग से अनुमति लेकर तथा पुनः आने का आश्वासन देकर वे वृन्दावन के लिए चल पड़े। इसी क्रम से वे काशी पहुँचे[5]। उसके बाद वे प्रयाग गए। उन्होंने वहाँ माधवप्रभु आदि के दर्शन किए। मुरारिगुप्त ने द्वितीय से लेकर द्वादश सर्ग पर्यन्त ग्यारह सर्गों में मथुरा मण्डल तथा वृन्दावन के विविध दर्शनीय स्थल, कुछ पौराणिक तथा कुछ अन्य चैतन्यविषयक उपाख्यानों का वर्णन किया है। त्रयोदश सर्ग में पुनः चैतन्य के जगन्नाथ क्षेत्र लौटने का वर्णन है। मार्ग में वे प्रयाग पहुँचते हैं जहाँ सानुज श्रीरूप ने उनके दर्शन किए[6]। श्री रूप से मिलने एवं वार्तालाप करने के पश्चात् श्रीचैतन्य काशी के किसी ब्राह्मण के घर गए। वहाँ प्रभु के प्रिय सनातन उनसे मिलने आए[7]।

कविकर्णपूर वर्णित घटनाओं पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि नाटककार ने इस विषय में 'कड़चा' का अनुकरण नहीं किया है। सबसे पहले चैतन्यदेव के वृन्दावन जाने के कार्यक्रम के विषय में साम्य व वैषम्य दर्शनीय हैं। मुरारि के अनुसार महाप्रभु ने

---

[1] वही, पृ० 163-165

[2] कड़चा, 4/17/4

[3] ततो भक्तैर्वृत्तः कृष्णो रामकेलिं जगाम ह। श्रुत्वा तत्रागमद्द्रष्टुं प्रभुपादं सनातनः। वही, 4/18/1 (यहाँ द्रष्टुं होना चाहिए, कड़चा में दृष्टुं अशुद्ध मुद्रण है।)

[4] वही, 4/18/14

[5] एवं क्रमेण भगवान् काशीमुपजगाम। वही, 4/1/14

[6] यमुनातीरमासाद्य प्रयागं पुनरागमत्।.......तत्र श्रीरूप आगत्य सानुजो जगदीश्वरम्।।
दर्दर्श प्रेमसम्पूर्णो दण्डवत् पतितो भुवि। वही 4/13/5-6

[7] स्वयमुक्त्वा ययौ कृष्णः काशी ब्राह्मणवेश्मनि।
स्थितस्तत्रागतः श्रीमान् सनातनः प्रभुप्रियः।
वही, 4/13/11

पहले वृन्दावन जाने का विचार किया किन्तु बाद में भक्तों के सकातर अनुरोध से कुछ समय के लिए उन्होंने अपना जाना स्थगित रखा[1]। कर्णपूर ने इसी विषय को परिवर्तित कर दिया है। रामानन्दराय चैतन्य के अत्यधिक प्रणयी होने के कारण उनका विच्छेद सहन करने में असमर्थ थे अतः मथुरागमनाभिलाषी श्री चैतन्य को राय महाशय के आज-कल पर टालने के कारण जाने में दो वर्ष का विलम्ब करना पड़ा[2]।

मुरारि वर्णित घटनाओं के विश्लेषण से स्पष्ट है कि महाप्रभु रामकेलि, शान्तिपुर आदि होते हुए वृन्दावन गए थे। नाटककार ने भी उनके गौड़मार्ग से जाने का सङ्केत दिया है[3]। 'कड़चा' में वृन्दावन यात्री चैतन्य के साथ बलदेवादि के जाने का वर्णन है[4] जबकि नाटक में लेखक ने स्पष्ट रूप से भद्रक पर्यन्त रामानन्द राय तथा उनके अतिरिक्त महाप्रभु के साथी रूप में पुरीश्वर, दामोदर, जगदानन्द, गोपीनाथ तथा गोविन्द आदि पाँच छः व्यक्तियों को नाम गिनाये हैं[5]। नाटक में चैतन्य के विषय में कुछ नवीन तथ्यों की योजना की गई है यथा रामानन्द महाप्रभु के साथ भद्रक तक भी अत्यन्त कठिनता से जाते हैं क्योंकि चैतन्य उनसे पद पद पर वापस जाने का अनुरोध करते हैं। उत्कल की सीमा पर्यन्त राजा गजपति के अधिकारी जाते हैं। तत्पश्चात् गौड़ पर्यन्त रामानन्द के नियुक्त ब्राह्मण उनके साथ जाते हैं। गौड़ सीमा में जलमार्ग से प्रवेश करने के समय जिस सीमा अधिकारी से काम पड़ता था, वह महामद्यप एवं दुर्वृत्त था। रामानन्द के सीमाधिकारी जब उससे सन्धि की अभिलाषा कर ही रहे थे तभी उस अधिकारी ने आकर चैतन्य को प्रणाम किया। चैतन्य के कृपा-कटाक्ष से वह यवन पुलकित हो गया तथा स्वयं उन्हें सादर पिच्छनद ग्राम पर्यन्त पहुँचा गया। तत्पश्चात् उसके नाविक पाणीयहाटी ग्राम तक उन्हें आराम से पहुँचा गए। वहाँ जनसमुदाय से पूजित होते हुए वे राघव पण्डित के घर पहुँचे एवं रात्रि वहीं व्यतीत की। फिर नौमार्ग से ही कुमारहट्ट में श्रीवास पण्डित के घर गए। कुछ समय के लिए शिवानन्दसेन तथा वासुदेव के निवास स्थान पर भी उनका गमन हुआ। इसके बाद अद्वैत के घर जाकर तथा हरिदास द्वारा पूजित होकर वे जलमार्ग से ही 'कुलिया' नामक ग्राम में माधवदास के आवास पर गए। नवद्वीप के लोगों पर अनुग्रह करने के लिए वे सात दिन वहीं रहे। तत्पश्चात् उन्होंने तट मार्ग से चलना प्रारम्भ कर दिया[6]।

मुरारिगुप्त का यात्रा-वर्णन इससे भिन्न है। 'कड़चा' में वे 'रामकेलि' से अद्वैताचल

---

[1] वही, 3/17/11

[2] नाटक, पृ० 165

[3] तेनानुमतं गौडवर्त्मन्येव गन्तुमुद्यतोऽस्ति। वही, पृ० 165

[4] सङ्गिनो बलदेवाद्या धावन्ति तमनुव्रताः। कड़चा, 4/1/11

[5] पुरीश्वरदामोदरजगदानन्दगोपीनाथगोविन्दाद्याः पञ्चषा एव। नाटक, पृ० 166

[6] वही, पृ० 168-170

पहुँचे तथा वहीं नवद्वीप से अपने प्रियजनों को बुलवा लिया। मुरारि ने चैतन्य के अन्य भक्तों के घर जाने का अलग-अलग वर्णन नहीं किया है वरन् उन्होंने केवल इतना ही सङ्केत दिया है कि अपने भक्त-वर्ग के ग्राम-ग्राम तथा गृह-गृह में भोजनादि करते हुए श्री पुरुषोत्तम वापस गए[1]। इस प्रसङ्ग में दोनों ग्रन्थों का पार्थक्य स्पष्ट है। सम्भवतः इन पश्चाद्वर्ती वर्णनों का स्रोत नाटककार के पिता शिवानन्दसेन रहे हों।

मुरारिगुप्त ने श्रीचैतन्य के गौड़ से नीलाचल लौटकर फिर वृन्दावन जाने के पीछे श्री सनातन के एकान्त मार्ग से वृन्दावन जाने के सुझाव को आधार बनाया है। सनातन ने चैतन्यदेव से रामकेलि में ही कहा था कि वृन्दावन जैसे अगम्य स्थान को अकेले ही जाना चाहिए[2]। कर्णपूर ने इस भाव को ही परिवर्तित कर दिया। उनके अनुसार लोकसमूह के भय से ही भगवान् वन मार्ग से छुपकर मथुरा को गए[3]। मुरारि ने जहाँ कई दीर्घ सर्गों में वृन्दावन भ्रमण का वर्णन किया है वहीं कर्णपूर ने केवल कतिपय श्लोकों के माध्यम से ही उनका यात्रा-विवरण प्रस्तुत किया है[4]।

यद्यपि मुरारि तथा कर्णपूर, दोनों ने ही प्रभु की वृन्दावन-शोभा देखकर उदित कातरता का समान रूप से वर्णन किया है तथापि नाटककार के अनुसार अत्यधिक विकलता से कातर महाप्रभु जो केवल अपनी ईश्वरीय शक्ति से उस विषम अवस्था में भी प्राणों को धारण कर रहे थे, को देखकर बलभद्र भट्टाचार्य आदि महानुभावों ने भयङ्कर विपत्ति की आशङ्का करते हुए उन्हें वृन्दावन से बाहर भेज दिया। इस कारण से महाप्रभु वहाँ अधिक दिन नहीं रह सके[5]।

कर्णपूर ने मुरारि के समान ही चैतन्य के वृन्दावन से प्रत्यागमन के समय प्रयाग जाने तथा वहाँ श्रीरूप से मिलने का वर्णन किया है[6]।

'कड़चा' में महाप्रभु के दो बार काशी जाने तथा वहाँ विश्वेश्वर शिव के दर्शन से उनके प्रेमविह्वल होने का चित्रण मिलता है। तपन मिश्र पर कृपा कटाक्ष के अतिरिक्त चन्द्रशेखर वैद्य के घर रहते हुए उन्होंने काशीवासियों को भी हरि-भक्ति से विभोर किया[7]।

---

[1] कड़चा, 3/18/21

[2] श्रीराधया सह कृष्णो यत्र क्रीडति सर्वदा अगम्यं योगिभिर्नित्यं देवसिद्धैर्नरेतरैः।
निर्जनं तज्जनाद्यैश्च गत्वा किं स्यात् सुखाय च।
वही, 3/18/89

[3] लोकसङ्कुलभिया वनाध्वना निह्नुतः स मथुरां जगाम च। नाटक, पृ० 172

[4] वही, पृ० 173

[5] वही, पृ० 174

[6] क) तत्र श्रीरूप आगत्य सानुजो जगदीश्वरम्।
ददर्श प्रेमसम्पूर्णो दण्डवत् पतितो भुवि।।
कड़चा, 4/13/6
(ख) प्रेमालापैर्दृढ़तरपरिष्वङ्गैरङ्गैः प्रयागे तं श्रीरूपं सममनुपमेनानुजग्राह देवः। नाटक, पृ० 174

[7] कड़चा, 4/1/18

नाटककार के अनुसार यदि कुछ ब्रह्मचारी, गृही, भिक्षु, वानप्रस्थी, याज्ञिक तथा व्रतधारी व्यक्तियों ने प्रभु की शरण ली तो कुछ मात्सर्य से युक्त यतिप्रवरों ने उनका परिहार भी किया[1]। यह परिवर्तन सामान्य दृष्टि से उपेक्षणीय प्रतीत होने पर भी अर्थवह है।

कर्णपूर के अनुसार काशी में ही सनातन से चैतन्य का मिलन हुआ। वहीं पर यह भी ज्ञात हुआ कि प्रभु के आने के पश्चात् वे भी पुरुषोत्तम क्षेत्र आयेंगे। उसके बाद वे वृन्दावन लौट जायेंगे[2]।

मुरारिगुप्त ने महाप्रभु के रूप गोस्वामी से दो बार मिलने का वर्णन किया है, प्रथमतः रामकेलि तथा तत्पश्चात् 'प्रयाग' में[3]। नाटककार ने केवल एक बार प्रयाग में उनके मिलने का उल्लेख किया है। एक बहुत महत्त्वपूर्ण अन्तर और भी नाटक में दृष्टिगोचर होता है, वह यह है कि मुरारि ने श्रीरूप को प्रयाग तथा सनातन को काशी में चित्रित किया है। कर्णपूर ने रूप का प्रयागावस्थान पहले बता दिया है पर काशीवासी सनातन के प्रसङ्ग में उन्होंने फिर रूप का उल्लेख किया है। नाटककार के अनुसार वहीं पर देव ने सनातन तथा रूप को समयानुसार लुप्त हुए वृन्दावन की केलिवार्ता के पुनरुत्थान का आदेश देकर अपनी कृपा-सुधा से अभिषिञ्चित किया है[4]। यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण परिवर्तन है जिसने ऐतिहासिकों की दृष्टि को आकर्षित किया है।

दशम अङ्क

'कड़चा' में महाप्रभु के वृन्दावन से प्रत्यागमन के पश्चात् उनके नवद्वीप जाने का उल्लेख मिलता है। कुलियाग्राम पहुँचने पर भक्तों के आग्रह पर वे नवद्वीप गए तथा माता से सस्नेह मिले एवं उनके द्वारा पकाये हुए अन्न का नित्यानन्द के साथ सेवन किया। पत्नी से भी उनका साक्षात्कार हुआ। वे श्रीवासादि तथा अद्वैताचार्य से भी मिले। इसके पश्चात् ही जगन्नाथपुरी वापस आए[5]। कविकर्णपूर ने सम्भवतः संन्यास-ग्रहण के पश्चात् चैतन्यदेव के बहुधा स्वजनों से मिलने के लिए वासस्थान जाने के विषय को अनुचित समझा अतः इस प्रसङ्ग का उन्होंने पूर्णतया परिहार कर दिया।

पहले के अङ्कों में इस बात पर दृष्टिपात किया गया था कि रथयात्रा के अवसर पर प्रत्येक वर्ष अद्वैताचार्यादि श्रीकृष्णचैतन्य के दर्शन के लिये नीलाचल आते थे। कर्णपूर ने अपने पिता शिवानन्द सेन का इस यात्रा दल के अभिभावक बन कर जाने का वर्णन किया है[6]। कड़चा में तो अन्य अनेक भक्तों सहित सेन महोदय का भी नामोल्लेख हुआ है।

---

[1] नाटक, पृ० 175

[2] वही, पृ० 176

[3] कड़चा, 4/13/5-6

[4] कालेन वृन्दावनकेलिवार्ता लुप्तेति तां स्थापयितुं विशिष्य।
कृपामृतेनाभिषिषे च देवस्तत्रैव रूपं च सनातनं च।
नाटक, पृ० 176

[5] कड़चा, 4/14 (सम्पूर्ण सर्ग)

[6] तेषामभिभावकतया शिवानन्दनामा......पार्षदो....प्रतिपाल्य नयति। नाटक, पृ० 108

उनके विषय में इतनी ही अतिरिक्त सूचना दी गई है कि वे पुत्र-पत्नी सहित नीलाचल जाते थे[1]। कविकर्णपूर ने अपने नाटक में अपने पिता को 'कड़चा' की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया है। तभी नीलाचल जाने के प्रसङ्ग में कर्णपूर ने शिवानन्द सेन सम्बन्धित कतिपय घटनाओं का वर्णन किया है जो 'कड़चा' में नहीं हैं। एक घटना के अनुसार चैतन्यदेव के दर्शनेच्छु इस तीर्थ-दल के साथ एक वर्ष एक कुक्कुर ने चलना प्रारम्भ किया। शिवानन्द द्वारा पूरा ध्यान रखे जाने पर भी नौकर की असावधानी से उसे एक दिन भोजन नहीं मिल पाया। तब से वह दृष्टिगोचर न हुआ। बाद में उसी कुक्कुर को चैतन्य का कृपा-पात्र होते हुए देखकर शिवानन्द ने उससे अपनी भूल के लिये क्षमा याचना की[2]।

कर्णपूर ने इसी अङ्क में शिवानन्दसेन के भाञ्जे श्रीकान्त का महाप्रभु से नैकट्य तथा अन्तरङ्गता भी प्रकट की है[3]। मुरारि के ग्रन्थ में इसका कोई उल्लेख नहीं हुआ है। मुरारि ने श्रीनारायणानन्द तथा अच्युतानन्द नामक आचार्यपुत्रों का उल्लेख किया है[4] तो नाटक में विष्णुदास तथा गोपालदास आदि अद्वैततनयों का परिचय मिलता है[5]। कर्णपूर ने वासुदेव-पुत्रों तथा शिवानन्द के पुत्रों का वर्णन किया है। रामानन्दवसु की सन्तान का भी उल्लेख मिलता है[6]। नाटक में शिवानन्द सेन के साथ स्वयं नाटककार कर्णपूर का भी उल्लेख हुआ है। पिता शिवानन्द ने अपने पुत्र को चैतन्यदेव का परिचय दिया तथा उनकी स्तुति भी की, इसका भी वर्णन नाटक में है[7] जबकि 'कड़चा' में एक बार नामोल्लेख के अतिरिक्त शिवानन्द के अन्य किसी क्रिया-कलाप का वर्णन नहीं किया गया है।

मुरारि की 'कड़चा' में रथोत्सव तथा तत्पश्चात् होरा पञ्चमी का वर्णन मिलता है। कवि कर्णपूर का दशम अङ्क प्रायः इन्हीं दो वर्णनों से व्याप्त है। दोनों ही लेखकों ने इस उत्सव-वेला में भाव-विभोर अवस्था में लीन चैतन्य को चित्रित किया है। अन्तर केवल इतना है कि मुरारि के चैतन्य तो भाव-विभोर हो कीर्तन करना प्रारम्भ करते हैं[8] जबकि कर्णपूर के चैतन्य का महोत्सव आदि का प्रत्यक्ष करके प्रेमानुराग इतना तीव्र हो उठता है

[1] श्रीशिवानन्दसेनश्च पुत्रदारसमन्वितः। 4/17/6

[2] नाटक, पृ० 178-179

[3] वही, पृ० 184

[4] श्रीनारायणनन्दाख्य आचार्यपुत्रनन्दनः। अच्युतानन्दगोस्वामी गौराङ्गप्राणवल्लभः। कड़चा, 4/17/21-22

[5] अद्वैताचार्यस्य पुत्राः विष्णुदासगोपालदासादयः। पृ० 184

[6] वही, पृ० 184-185

[7] शिवानन्दः- (स्वतनयं प्रति सर्वान् श्रावयित्वा) पश्य पश्य अयमयम्।
विद्युद्दामद्युतिरतिशयोत्कण्ठकण्ठीरवेन्द्र क्रीडागामी कनकपरिघद्राघिमोद्दामबाहुः।
सिंहग्रीवो नवदिनकरद्योतविद्योतिवासाः। श्रीगौराङ्गः स्फुरति पुरतो वन्द्यतां वन्द्यतां भोः।
वही, पृ० 184

[8] भक्तजनैः साधंः करोति कीर्तनं महत्। कड़चा, 1/20/18

कि वे वियोग की तीव्रता से कातर होकर क्रन्दन करने लगते हैं।

कीर्तन के काव्यात्मक वर्णन के साथ नाटककार ने इसी प्रसङ्ग में एक नवीन घटना की योजना भी की है। तदनुसार शुभानन्द नामक किसी वैष्णव ने कीर्तन-रत महाप्रभु के मुख-मण्डल से प्रसारित होने वाले लार का उसी प्रकार पान कर लिया जिस प्रकार चकोर चन्द्रमा से बाहर द्रवित होने वाले अमृत-द्रव के फेन को ग्रहण करता है[1]। मुरारि की 'कड़चा' में इस घटना का भी उल्लेख नहीं मिलता है।

मुरारिगुप्त ने अद्वैताचार्य द्वारा महाप्रभु की पूजा तथा स्तुति का अनेक बार वर्णन किया है। वृन्दावन से आने के बाद नवद्वीप जाते हुए जब श्रीकृष्ण चैतन्य अद्वैतालय गए थे तब भी अद्वैताचार्य ने उठकर उनको प्रणाम किया था तथा विधिपूर्वक उनके चरण-कमल का प्रक्षालन करके चरणोदक का पान किया था तथा उसे सिर पर धारण भी किया था[2]। कर्णपूर ने इसके विपरीत न केवल अद्वैताचार्य द्वारा महाप्रभु की पूजा का निर्देश किया है वरन् चैतन्य द्वारा प्रत्युत्तर में अद्वैताचार्य की पूजा सामग्री लेकर उसी से उनकी पूजा का भी वर्णन किया है[3]। यह पार्थक्य न केवल एक नूतन घटना की सूचना देता है बल्कि इससे महाप्रभु चैतन्य की दृष्टि में अद्वैताचार्य की महत्ता भी प्रतिपादित होती है। कर्णपूर ने अपने नाटक में चैतन्य के अन्य पार्षदों की अपेक्षा अद्वैत को कुछ विशेष महत्त्व दिया है, उसके अनेक निदर्शनों में से यह भी एक है।

कर्णपूर ने चैतन्य के परिकरों सहित गुण्डिचा-यात्रा के अवसर पर गुण्डिचा-मन्दिर के प्रक्षालन तथा परिमार्जन का विस्तार से वर्णन किया है[4]। 'कड़चा' में ऐसा कोई वर्णन नहीं है। इसी प्रसङ्ग में एक और नूतन घटना का संयोजन नाटक में हुआ है। मन्दिर-मार्जन के पश्चात् श्रीचैतन्य सभी साथियों के साथ नृत्य-कीर्तन करते हैं। इसी कीर्तन के अवसर पर अद्वैताचार्य के पुत्र गोपालदास मूर्च्छित हो जाते हैं। अद्वैत के सन्तप्त होने पर चैतन्य देव अपने हाथों के स्पर्श मात्र से उन्हें स्वस्थ बना देते हैं[5]। इसी क्रम में उन सब के इन्द्रद्युम्न सरोवर में जलविहार तथा तदनन्तर कुसुमोद्यान में विश्राम का चित्रण है। मुरारिगुप्त ने गौड़ागत भक्तों के नरेन्द्र सरोवर में जल-विहार का अवश्यमेव वर्णन किया है। दोनों वर्णनों में साम्य अथवा वैषम्य की खोज अनावश्यक है क्योंकि कर्णपूर ने जल-

---

[1] नाटक, पृ० 193

[2] ततश्च कृष्णचैतन्य नित्यानन्दो जगद्गुरु श्रीलाद्वैताचार्यगेहं जग्मतुः प्रेमविह्वलो
तौ दृष्ट्वा सहसोत्थायाद्वैताचार्यो महेश्वरः सगणः प्रेमविवशो धृत्वा तच्चारणाम्बुजम्
प्रक्षाल्य विधिवद्हर्षात् पीत्वा शिरसि धारयन् ननर्त......। कड़चा, 4/15/1-3

[3] नाटक, पृ० 194

[4] द्र० वही, पृ० 195-197

[5] नर्तित्वा क्षणमेव चारु मधुरं गौरोहरि नंर्तयांचक्रेऽद्वैततनूजमेकमधुरं गोपालदासाभिधम्।
नृत्यन्नेव स मूर्च्छितः सुखवशाद्देहान्तरं यन्निवाद्वैते खिद्यति पाणिपद्मवलनाद्देवः स तं प्राणयत्।
वही, पृ० 197

विहार का विशद वर्णन न करके सङ्केत मात्र ही किया है।

मुरारि ने जहाँ सम्पूर्ण रथोत्सव का संक्षेप में वर्णन किया है वहीं कविकर्णपूर ने स्नान-महोत्सव, रथयात्रा तथा तदनन्तर होरा पञ्चमी आदि का विस्तार से वर्णन किया है। इसी प्रसङ्ग में नाटककार की जिस दार्शनिकता का दर्शन होता है वह भी कड़चा में अनुपलब्ध है।

दशम अङ्क के परिवर्तनों में नाटककार के वर्णनात्मक चित्रण यथा रथ-यात्रा, गुण्डिचा-परिमार्जन आदि, शिवानन्द सेन तथा उनके पुत्र का उल्लेख एवं दार्शनिक सिद्धान्तों आदि का विवेचन उल्लेखनीय है।

कविकृत परिवर्तन

संस्कृत नाटकों में ख्यात इतिवृत्त का चयन होने पर भी नाटककार इतिवृत्त को अपने मूल रूप में कभी भी ग्रहण नहीं करता है। कथानक की उत्सुकता तथा जिज्ञासा को बनाये रखने के लिये, मानसिक द्वन्द्व के द्वारा चरित्रों की उज्ज्वलता बनाने के लिए अथवा रस-परिपाक के कारण से नाटककार अपनी कथा में यथेच्छ परिवर्तन तथा परिवर्धन कर दिया करते हैं। नाट्याचार्यों ने नाटककारों को इस प्रकार के परिवर्तन करने के लिये उदार अनुमति प्रदान की हुई है[1]। वस्तुतः नाटककार की कला तभी निखार को प्राप्त करती है जब वह अपने पुरातन इतिवृत्त को ही नया परिधान पहना कर अभिनव रूप में पाठकों तथा दर्शकों के समक्ष उपस्थित करता है। कर्णपूर ने अपने नाटक में भी जो परिवर्तन किये हैं उनका विशेष कारण तथा उद्देश्य था जिनको इस प्रकार विभाजित कर सकते हैं-

नाटकीयता की दृष्टि से किये गये परिवर्तन

चैतन्य-कथा को नाटकोपयोगी बनाने के लिये ऐतिहासिकता को खण्डित किये बिना एकसूत्रात्मकता को बनाये रखना आवश्यक था। कथानक में जिज्ञारा तथा उत्सुकता को उपस्थित करने के लिए भी यत्र तत्र परिवर्तन अथवा परिवर्धन आवश्यक थे। वस्तु के साथ ही नेता अथवा चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी नाटकीय-वस्तु में परिवर्तन अपेक्षित थे। श्रीचैतन्य के अलौकिक चरित्र को चित्रित करना, उनके ऐश्वर्य को स्थापित करना तथा उस अलौकिकता को जन साधारण के विश्वास योग्य बनाना लेखक का करणीय विषय था। अतः इस दृष्टि से किये गये परिवर्तन नाटकीय दृष्टि से उपादेय हैं।

इन परिवर्तनों में प्रमुख हैं- नाटक के प्रारम्भिक विष्कम्भक में अभिषेक का वर्णन[2]। इस घटना का विवेचन करने से नाटककार की कथावस्तु सम्बन्धित निपुणता का बोध हो जाता है। श्रचैतन्य का अड़तालीस वर्षीय जीवन-काल अपनी पृष्ठभूमि के साथ, घटना-

---

[1] यत्तत्रानुचितं किञ्चिन्नायकस्य रसस्य वा।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत्।
धनञ्जय, दशरूपक, 3/24-25

[2] नाटक, पृ० 12-16

सङ्कुल है। एक नाटक में उन सभी घटनाओं का वर्णन करना अतिशय दुष्कर है। लेखक ने नाटक में चैतन्य के उत्तरवर्ती जीवन अर्थात् 'गया' से लौटे हुए प्रेमाविष्ट चैतन्य के वर्णन से लेकर पुरी की कतिपय वर्षों तक की लीला को नाटक का विषय बनाया है किन्तु इस प्रकार उत्तरवर्ती जीवन का सीधा वर्णन करने से कथा का तारतम्य बना रहना सम्भव नहीं था अतः अधर्म तथा कलि दो अमूर्त पात्रों के वार्तालाप द्वारा एक विष्कम्भक को माध्यम बना कर चैतन्य के जन्म से प्रारम्भ करके 'गया' से प्रत्यावर्तन तक की सूचना दे दी गई है[1]। इसी विष्कम्भक द्वारा चैतन्य की ईश्वरीय शक्ति तथा अलौकिक देवत्व का परिचय मिल जाता है। उनके पार्षदों का भी उल्लेख यहीं किया गया है। इसी अभिषेक उत्सव के माध्यम से कर्णपूर ने चैतन्य की ईश्वर-विषयक अपनी मान्यता को साकार रूप दे दिया है। अभिषेक का वर्णन करके नाटककार ऐसा वातावरण बना देते हैं कि उसके तुरन्त बाद मुख्य अङ्क में ही स्वयं महाप्रभु द्वारा श्रीवास के उद्धार की घटना का उल्लेख किए जाने पर वह अस्वाभाविक अथवा काल्पनिक प्रतीत नहीं होती है। इस अभिषेक-वर्णन से कथा को गति मिलती है और नायक एवं उनके जीवन के विषय में जिज्ञासा बनी रहती है।

चतुर्थ अङ्क में चैतन्य के संन्यास के प्रसङ्ग में किया गया परिवर्तन भी नाटकीय दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। नाटक में सङ्कीर्तन के पश्चात् चैतन्य के अकस्मात् तिरोधान एवं तत्पश्चात् तज्जन्य शोक-विलाप से दर्शकों की जिज्ञासा प्रखर हो जाती है। नाटक में जिज्ञासा ही कथानक को आगे बढ़ाने में अत्यन्त सहायक होती है। उत्सुकता के पराकाष्ठा पर पहुंचने पर ही आचार्यरत्न आते हैं एवं चैतन्य के संन्यास का समाचार देते हैं[2]। इससे नाटक में स्वाभाविकता के साथ गतिशीलता भी बनी रहती है। मुरारि की 'कड़चा' के अनुसार संन्यास से पूर्व चैतन्य का सभी से अनुमति और आशीष-याचना करना कर्णपूर को नायक के चरित्र को म्लान बनाने वाला लगा होगा। अतः नाटक में इन सब विस्तारों का परित्याग कर दिया गया है। संन्यास के पश्चात् चैतन्य का बिना किसी से बोले चल पड़ना भी अस्वाभाविक प्रतीत नहीं होता है क्योंकि नाटककार ने उनके प्रेमावेश का उल्लेख पहले ही कर दिया था। यहाँ पर नाटककार को चैतन्य परिकरों का चित्रण करने का अवसर भी मिल गया। अद्वैत, श्रीवास, गङ्गादास, गङ्गाधर, वक्रेश्वर, मुरारि, मुकुन्द, जगदानन्द आदि की चैतन्य-प्रीति पर तो प्रकाश डाला ही गया है साथ ही इन सबके चारित्रिक वैशिष्ट्य को भी उभारा गया है। पञ्चम अङ्क में नाटककार ने गोपबालकों के प्रसङ्ग में मुरारि से जो पार्थक्य प्रदर्शित किया है वह भी व्यर्थ नहीं है। कृष्ण-प्रीति की

---

[1] वही, पृ० 7-11

[2] वही, पृ० 77-86

प्रबलता से ही चैतन्य की बाह्य दशा लुप्त हो गई थी अतः उसी प्रिय नाम श्रवण से पुनः बाह्यदशा को प्राप्त कर लेना उचित ही था। कर्णपूर का नाट्यनैपुण्य यहाँ दर्शनीय है कि घटना के सामान्य होने पर भी उसी के द्वारा कथा स्वाभाविक रूप से आगे बढ़ी है। श्री चैतन्य का उन गोपबालकों से वृन्दावन का मार्ग पूछना तथा नित्यानन्द द्वारा सिखाए जाने पर एक बालक का अद्वैताचार्य के गृह के मार्ग को ही वृन्दावन-गामी पथ के रूप में प्रदर्शित कर देना और आनन्दावेश में उसी पथ का अनुसरण करते हुए चैतन्य का यमुना की भ्रांति में गङ्गा के तट पर पहुंच जाना तथा अन्ततः नित्यानन्द के प्रयत्नों के कारण अद्वैतालय पहुँचना, ये सभी घटनाएं एक के बाद एक, बड़ी स्वाभाविक गति से आगे घटित होती चली गई हैं। अतः कथावस्तु की दृष्टि से यह परिवर्तन उल्लेखनीय है।

कर्णपूर के नायक चैतन्य के लिए कृष्ण-प्रीति ही एक मात्र आराध्य विषय था। अतः संन्यास ग्रहण करते ही वृन्दावन, जो श्रीकृष्ण की लीलाभूमि थी, उन्हें तीव्रता से आकर्षित करने लगीं। ऐसी अवस्था में अपने पूर्वाश्रम के निकट सहचर के संसर्ग की कामना करना उन जैसे संन्यासी के लिए अशोभन होता। कविकर्णपूर इस तथ्य के विषय में पूर्ण सजग थे अतः उनके नाटक में नित्यानन्द चैतन्य को छल-कपट द्वारा ही अद्वैतालय के समीप तक ले जाते हैं तथा तदनन्तर स्वयं अद्वैत आकर उन्हें अपने आवास में ले जाते हैं। इसी प्रकार नाटक में अद्वैत स्वयं अपनी इच्छा एवम् विवेचना से नवद्वीप के प्रियजनों को माता शची के साथ बुलवा भेजते हैं। श्रीचैतन्य का इस काम में कोई सहयोग नहीं होता है। इस घटना को परिवर्तित करके कर्णपूर ने श्रीचैतन्य के चरित्र को उज्ज्वलता प्रदान की है। कर्णपूर के अनुसार श्रीचैतन्य के जगन्नाथ क्षेत्र पहुँचने पर जगन्नाथ देव के दर्शन हेतु सार्वभौम की सहायता प्राप्त करने के लिए गोपीनाथ ने ही अग्रगामी होकर सार्वभौम से अनुरोध किया तथा सहायता प्राप्त की। चैतन्य ने इस सन्दर्भ में एक शब्द भी उच्चरित नहीं किया है जबकि 'कड़चा' में सीधे चैतन्य से ही यह अनुरोध करवाया गया है। नाटककार ने नायक के द्वारा ऐसे अनुरोध को ग्लानिकर समझते हुए ही विषय का परिवर्तन कर दिया है। चरित्र-चित्रण की दृष्टि से यह एक सफल प्रयास है। जगन्नाथ देव के दर्शन करते हुए भाव-विह्वल होने पर भी नाटक में श्रीचैतन्य मूर्च्छित आदि नहीं होते हैं। इसकी नाटकीय उपयोगिता सम्भवतः यही है कि इसके तत्काल पश्चात् ही वे सार्वभौम का उद्धार करते हैं। सार्वभौम-उद्धार के प्रसङ्ग में नाटककार ने कथानक में जो परिवर्तन किया है वह अपने लोकनायक के व्यक्तित्व तथा प्रभाव को प्रकट करने के लिए किया है। सार्वभौम भट्टाचार्य जैसे प्रसिद्ध दार्शनिक एवम् पण्डित का बिना किसी युक्ति के चैतन्य द्वारा दिए गए प्रसाद को अनवसर पर ही ग्रहण कर लेना तथा ग्रहग्रस्त के समान उनका वशंवद बन जाना नायक की अलौकिकता का ही परिचायक है। अलौकिकता की पुष्टि के द्वारा नाटककार ने नायक के ऐश्वर्य तथा तज्जन्य भक्ति का प्रसार किया है।

रस की दृष्टि से यह परिवर्तन उल्लेखनीय है। चैतन्य के अकस्मात् आगमन से सार्वभौम के भक्ति-विह्वल होने के वर्णन में नाटककार ने जो रोमाञ्च, अश्रु, वस्त्रस्खलन, घर्घरकण्ठादि विविध भावों का चित्रण किया है, वे भक्ति रस के चरम परिपाक के सुन्दर उपादान बने हैं। यहाँ सार्वभौम के इस परिवर्तित-रूप को भक्ति रस के विषय-आलम्बन के रूप में चित्रित किया गया है।

श्रीचैतन्य के दक्षिण-भ्रमण के अवसर पर इसी प्रकार रामानन्दराय के आवास पर जाकर मिलने की अपेक्षा नाटक के अनुसार चैतन्य की प्रसिद्धि से आकृष्ट रामानन्दराय का उत्सुकता के वशीभूत होकर पूर्ण अपरिचित इस संन्यासी के दर्शन के लिये स्वयं आ पहुंचना तथा उन्हें अपने स्वप्न-दृष्ट आराध्य के रूप में ही देखना अधिक उपयुक्त चित्रण है।

परमानन्दपुरी तथा दामोदर स्वरूप को नाटककार ने कड़चा की अपेक्षा अधिक गौरव प्रदान किया है। इस परिवर्तन से कथावस्तु, चरित्र-चित्रण अथवा रस का कोई उपकार न होने पर भी इन व्यक्तियों से चैतन्य का नैकट्य प्रकट होता है।

नाटकीय दृष्टि से कथावस्तु में एक अन्य दर्शनीय परिवर्तन राजा प्रतापरुद्र के प्रसङ्ग में हुआ है। 'कड़चा' के अनुसार सार्वभौम चैतन्य से आग्रह किए बिना ही राजा को गोपनीय रूप से चैतन्य के दर्शन करने का परामर्श देते हैं परन्तु राजा उन पर पूर्ण आस्था नहीं रख पाते हैं। रात्रि में उन्हें चैतन्य के देवत्व का बोध होता है तभी वे उनकी शरण में आते हैं। नाटक को गति देने के लिए तथा चैतन्य-चरित्र को अधिक उज्ज्वल बनाने के लिए इस घटना को परिवर्तित कर दिया गया है। सर्वस्व त्यागी भगवान् चैतन्य के प्रतापरुद्र को अस्वीकृति देने पर प्रतापरुद्र की एकनिष्ठा तथा दृढ़ भक्ति को देखते हुए सार्वभौम बड़े स्वाभाविक रूप से ही रथयात्रा के अवसर पर चैतन्य के पास सामान्य जन के समान ही राजा को जाने का निर्देश देते हैं। इस परामर्श से सार्वभौम की अन्य भक्तों के प्रति सदय भावना की सुन्दर अभिव्यक्ति के साथ ही नाटक में स्वाभाविकता बनी रहती है।

नाटक की सफलता चरित्र के स्वाभाविक एवं सहज चित्रण पर भी निर्भर करती है। कविकर्णपूर ने नाटक में संयोजित नवीन योजनाओं में कतिपय ऐसे प्रकरी कथानक लिए हैं जिनका समावेश नाटक में नायक श्रीचैतन्य के चरित्र के लोकोत्तर पक्ष को जन सामान्य के लिए विश्वास योग्य बनाने हेतु किया गया था उदाहरणस्वरूप निकृष्ट ब्राह्मण तनय जगन्नाथ तथा माधव का आकस्मिक रूपान्तर, श्रीवास का, श्रीचैतन्य के आविर्भाव से पूर्व ही एकाएक, भक्ति की ओर उन्मुख होना, यवन दर्जी का श्रीचैतन्य के दर्शन-मात्र से परम भक्त अवधूत का रूप धारण कर लेना आदि। महाप्रभु की दक्षिण-यात्रा के अवसर पर विशाल पक्षी द्वारा अकस्मात् ही अशुद्ध भोजन का अपहरण करने से पाखण्डियों की पराजय तथा चैतन्य-दर्शन के अनन्तर राम-नाम जपने वाले भक्त का बलात् कृष्णनाम

उच्चरित करना, ऐसी ही अन्य दो घटनाएं हैं। इन सभी घटनाओं का उल्लेख मुरारि की कड़चा में नहीं है। अवश्य ही लेखक ने इन घटनाओं को अन्य जानकार स्रोतों से प्राप्त कर अपनी कल्पना से सुसज्जित कर दिया है।

सैद्धान्तिक तथा दार्शनिक दृष्टि से किये गये परिवर्तन

'कड़चा' तथा नाटक के रचना काल में पर्याप्त दीर्घ अवधि का अन्तराल आ गया था। इस अवधि में कतिपय सैद्धान्तिक परिवर्तन अपेक्षित था। चैतन्य के देहावसान के अनन्तर ही उनके पार्षदों के विषय में दृष्टिकोण परिवर्तित होने लगा था। किसी एक व्यक्ति द्वारा चैतन्य सम्प्रदाय के सञ्चालन के अभाव में ऐसा परिवर्तन स्वाभाविक था। यही कारण है कि कड़चा की अपेक्षा नाटक में इस दृष्टि से उल्लेखनीय परिवर्तन परिलक्षित होता है। मुरारि की 'कड़चा' में अद्वैताचार्य को अप्रतिम महत्त्व नहीं दिया गया है। उनकी तुलना में नित्यानन्द का महत्त्व अधिक था। इसके विपरीत कर्णपूर ने नवद्वीप के परिकरों में सर्वाधिक महत्त्व अद्वैताचार्य को दिया। वे चैतन्य के प्रधान परिकर ही नहीं वरन् चैतन्य के भक्ति-प्रचार के प्रमुख माध्यम भी थे, यही कर्णपूर की मान्यता है।

नाटक में उसी उद्देश्य की सिद्धि हेतु अद्वैत को प्रभु के षड्रूप दर्शन करवाने का विस्तार से वर्णन किया गया है। इसी के साथ महाप्रभु द्वारा अद्वैताचार्य की पूजा तथा अद्वैत-तनय की सङ्कीर्तन-कालीन मूर्च्छा एवम् उसके मोह-भङ्ग का भी स्थल विशेष में उल्लेख है। इसके अतिरिक्त नूतन सूचनाओं के रूप में ईश्वरपुरी के सेवक का आगमन, ब्रह्मानन्द भारती का उल्लेख, श्रीनाथ तथा शुभानन्द का वर्णन उल्लेखनीय है। कथावस्तु में मौलिक-योजना सम्पूर्ण तृतीय अङ्क अर्थात् दान-लीला अभिनय का वर्णन दार्शनिक दृष्टि से अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि कथानक को सूत्रात्मक बनाने तथा उसकी गुणवत्ता एवं नाटकीयता को बनाए रखने में इस अभिनय का कोई महत्त्व नहीं है फिर भी नाटक आदि से अन्त तक जिस युग-पुरुष चैतन्य की अलौकिक-लीला के वर्णन से सम्पन्न है, उसकी उपयोगिता एवम् दर्शन को स्पष्ट न करने से नाटक में स्वाभाविकता नहीं आ पा रही थी अर्थात् नाटक के आरम्भ में ही चैतन्यदेव के विभिन्न अवतारों के आवेश में आने का विशद वर्णन किया जा चुका था परन्तु उसके पीछे कोई युक्ति नहीं दिखाई गई थी। इसके अतिरिक्त चैतन्य कोई सामान्य नर नहीं वरन् साक्षात् नारायण श्रीकृष्ण ही हैं, इसका भी उल्लेख हो चुका था। 'दान-लीला' अभिनय के माध्यम से लेखक ने चैतन्य की विविध लीलाओं के उद्देश्यों का स्पष्टीकरण देते हुए उसकी सार्थकता को सिद्ध कर दिया है कि भक्तों की अनुरोध-रक्षा हेतु ही ईश्वर विचित्र-लीला करते हैं। कर्णपूर की मान्यतानुसार राधा तथा कृष्ण, दोनों का मिश्रित रूप ही श्रीचैतन्य हैं इस दार्शनिक मान्यता की पुष्टि भी प्रस्तुत अभिनय के द्वारा की गई है। इस अभिनय में रुद्रांशी अद्वैत ने यद्यपि

कृष्ण का अभिनय किया परन्तु उसमें भी वास्तव में स्वयं हरि तथा राधा का अभिनय स्वयं चैतन्य ने ही किया अर्थात् एक ही देव दोनों रूपों में विराजित थे। इस प्रकार इस दार्शनिक पृष्ठ-भूमि में दान-लीला की अत्यन्त उपयोगिता परिलक्षित होती है।

व्यक्तिगत कारण से किये गये परिवर्तन

कड़चाकार मुरारि चैतन्य लीला के प्रत्यक्षद्रष्टा तथा चैतन्य के प्रधान परिकर थे। दूसरी ओर कर्णपूर के पिता शिवानन्द सेन चैतन्य पार्षदों में अग्रगण्य थे। इसी कारण मुरारि तथा शिवानन्द दोनों ही चैतन्य-चरित ग्रन्थों में एक-एक पात्र के रूप में चित्रित हुए हैं। अपने प्रिय जन को कुछ विशेष महत्त्व देने की मानवीय प्रवृत्ति भी सम्भवतः 'कड़चा' तथा 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक के पारस्परिक कथावस्तु के पार्थक्य का एक कारण रहा हो। कहने का अभिप्राय यही है कि मुरारि ने अपनी कड़चा में अपने प्रति चैतन्य की दृष्टि को अधिक स्नेह तथा आत्मीयता से पूर्ण प्रदर्शित किया है जबकि कर्णपूर के पिता शिवानन्द सेन का केवल नामोल्लेख मात्र ही किया गया है। इसकी तुलना में कर्णपूर ने मुरारि को अपने नाटक में कम महत्त्व दिया है। इसके साथ ही अपने पिता को पर्याप्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है।

पिता शिवानन्द की चैतन्य से निकटता तथा परिकर रूप में उनकी महिमा को भी इस नाटक के माध्यम से उद्घाटित करने के लिए नकुल ब्रह्मचारी और प्रद्युम्न ब्रह्मचारी से सम्बद्ध दोनों घटनाओं के साथ शिवानन्दसेन को भी सीधे रूप से सम्बद्ध किया गया है। इन्हीं घटनाओं की परिपाटी में शिवानन्द, जो नवद्वीप के तीर्थयात्रियों के मुखिया बनकर नीलाचल जाया करते थे, से सम्बद्ध कुक्कुर की कथा तथा दुराचारी एवम् लोलुप यवन कराधिकारी का उपाख्यान है। शिवानन्दसेन के घर चैतन्य का पदार्पण भी इसी प्रकार की एक घटना है। न केवल शिवानन्द वरन् उनके परिवार के साथ भी महाप्रभु की घनिष्ठता दिखाने के लिए उनके भाञ्जे श्रीकान्त तथा पुत्र का भी उल्लेख हुआ है। कविकर्णपूर को महाप्रभु की नवद्वीप लीला के लिए मुरारि को अपना आधार बनाना पड़ा था। महाप्रभु के पुरी-वास के पश्चात् तो स्वयं शिवानन्द ही उनकी लीलाओं के सम्पर्क में आने लगे थे अतः उस समय की लीलाओं का अच्छा परिचय था। स्वाभाविकरूपेण नाटककार ने अपने पिता द्वारा प्राप्त ज्ञान का लाभ अपने ग्रन्थ में उठाया था। इस कारण भी उनके पिता से सम्बन्धित घटनाओं के समुदाय का नाटक में उतर आना अस्वाभाविक नहीं था।

नाटक के अन्तिम दोनों अङ्कों में भी कई परिवर्तन ऐसे हैं यथा रघुनन्दन, नरहरि तथा न्यायाचार्य का उल्लेख आदि, जिनसे कथावस्तु की नाटकीयता आदि को कोई लाभ नहीं पहुँचता है, ऐतिहासिकता की दृष्टि से उनका अधिक महत्त्व है। 'कड़चा' के अनुसार पुरी में कुछ दिन रहकर ही प्रभु वृन्दावन गये थे जबकि नाटक के अनुसार रामानन्द राय ने

उन्हें दो वर्ष तक पुरी में ही रोके रखा। 'कड़चा' के अनुसार सनातन के परामर्श से महाप्रभु गौड़ से पुरी लौट आए थे तथा बाद में अकेले ही वृन्दावन गए थे जबकि नाटक के अनुसार ऐसा कोई निर्देश नहीं मिलता है। सनातन तथा रूप के सम्पर्क में भी ऐतिहासिक दृष्टि से पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है।

स्पष्ट है कि मुरारि के कड़चा से कथावस्तु का चयन करने पर भी उसमें जो यत्र तत्र परिवर्तन किए गए हैं, उनमें से सभी परिवर्तन केवल नाटकीय कथावस्तु के साफल्य की दृष्टि से नहीं हुए हैं। नाटक रचना के समय कर्णपूर के ज्ञान भण्डार में चैतन्य सम्बन्धित जितनी सूचनाएं एकत्रित हुई थीं, नाटक के माध्यम से उन सभी का परिवेशन कर दिया गया है, चाहे नाटकीय कथावस्तु की दृष्टि से उस घटना विशेष का महत्त्व हो या नहीं।

गौड़ीय वैष्णव साहित्य के परिप्रेक्ष्य में कथावस्तु की ऐतिहासिकता

'चैतन्यचन्द्रोदय' के नायक श्रीचैतन्य ऐतिहासिक पुरुष हैं अतः नाटक में प्रतिपादित चैतन्य-सम्बन्धी कथा में ऐतिहासिकता अपेक्षित है। यहाँ यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि आज इतिहास अथवा ऐतिहासिकता जिसे कहा जाता है उस ऐतिहासिकता को भक्त कविकर्णपूर के 'चैतन्यचन्द्रोदय' में खोजना व्यर्थ है। कर्णपूर ने चैतन्य तथा उनके परिकरों के सम्बन्ध में जिन अलौकिक घटनाओं का उल्लेख किया है उनकी सत्यता को सिद्ध करने के लिए कोई साधन उपलब्ध नहीं है। यहाँ ऐतिहासिकता का अर्थ-सङ्कोच करके केवल उन घटनाओं को ऐतिहासिक माना जा रहा है जिन्हें उनके समसामयिक अथवा पश्चाद्वर्ती चरितकारों ने भी ग्रहण किया है तथा आधुनिक पण्डित-वर्ग ने भी जिन्हें स्वीकृति दी है।

चैतन्य के 'गया' से वापस आकर नवद्वीप में प्रेममत्त होकर श्रीवास के घर कीर्तन करने के वर्णन से नाटक का प्रारम्भ होता है। यह अपने आप में ऐतिहासिक घटना है। कर्णपूर ने गया-प्रत्यागमन से संन्यास-ग्रहण तक के काल के विषय में उल्लेख नहीं किया है। कृष्णदास ने इसे एक वर्ष का समय माना है[1]। कर्णपूर ने इस काल से पूर्व चैतन्य-जीवन-सम्बन्धित जिन तथ्यों का परिचय दिया है यथा नवद्वीप के पुरन्दर मिश्र तथा शची इनके पिता-माता थे, चन्द्रग्रहण के दिन इनका जन्म हुआ था, संन्यास-ग्रहण से पूर्व इनका नाम विश्वम्भर था, इनके अग्रज विश्वरूप ने दार-परिग्रह से पूर्व संन्यास-ग्रहण कर

[1] तबे प्रभु श्रीवासेर गृहे निरन्तर रात्रे सङ्कीर्तन कैल एक वत्सर। चै०च०, आदि, 17, पृ० 84

लिया था, इनके दो विवाह हुये थे आदि सभी ऐतिहासिक तथ्य हैं[1]। चैतन्य के बचपन के एक अन्य नाम 'निमाई' का कर्णपूर ने कहीं उल्लेख नहीं किया है। चैतन्य के 'गया' जाने तथा वहाँ ईश्वरपुरी से दीक्षा लेने का उल्लेख मात्र नाटक में हुआ है। नवद्वीप वापस आकर उनके कीर्तन करने का वर्णन है पर नगर-सङ्कीर्तन का उल्लेख नहीं हुआ है, जिसका ऐतिहासिकों ने उल्लेख किया है[2]।

चैतन्य के जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना उनका 'कांटोया' नामक ग्राम में जाकर कैशव भारती से संन्यास की दीक्षा लेना है। संन्यास-ग्रहण की तिथि आदि का कर्णपूर ने कोई उल्लेख नहीं किया है। इसके पश्चात् के वर्णन में उन्होंने अवश्यमेव काल का उल्लेख किया है। तदनुसार संन्यास ग्रहण के तुरन्त पश्चात् चैतन्य वृन्दावन के लिये चल पड़े[3]। तीन दिन राढ़ देश में व्यतीत करने के पश्चात् उन्हें अद्वैतालय लाया गया[4]। वहाँ उन्होंने तीन दिन का समय अपने माता तथा बान्धवों के साथ व्यतीत किया[5]। तत्पश्चात् वे पुरी गये। राढ़ देश में लगभग तीन दिन भ्रमण करने का उल्लेख प्रत्येक चरितकार ने ही किया है[6] परन्तु अद्वैत के घर पर चैतन्य के रुकने के प्रसङ्ग में उनमें मतैक्य नहीं है। मुरारि गुप्त ने इस समय का स्पष्ट कथन नहीं किया है। वृन्दावन दास भी चैतन्य के दूसरे दिन ही नवद्वीप से जाने का उल्लेख करते हैं। कृष्णदास चैतन्य के वहाँ दस दिन ठहरने की बात करते हैं[7]। विमान विहारी मजुमदार कर्णपूर की उक्ति को अर्थात् चैतन्य के तीन दिन शान्तिपुर में अद्वैत के यहाँ ठहरने की बात को प्रामाणिक स्वीकार करते हैं[8]।

कर्णपूर ने संन्यास के लिये 'कांटोया' जाते हुये चैतन्य के साथ केवल नित्यानन्द तथा अचार्यरत्न का उल्लेख किया है जबकि ऐतिहासिकता यह है कि उनके साथ चन्द्रशेखर

---

[1] एस.के. दे, VFM तथा वि०वि० मजुमदार, चै०च०उ० के अतिरिक्त ए०के० मजुमदार Caitahya: His Life and Doctorihe ने भी चैतन्य के ऐतिहासिक जीवन पर विस्तार से प्रकाश डाला है। अधिकतर घटनाओं के सम्बन्ध में इन सभी ने कृष्णदास कविराज के चैतन्य चरितामृत को ही प्रामाणिक माना है

[2] S.K. De. VFM, p. 80

[3] नाटक, पृ० 86

[4] वही, पृ० 93

[5] वही, पृ० 102

[6] कड़चा, 3/3/18; चै०च०, मध्य, 3, पृ० 121

[7] चै०च०, मध्य, 3, पृ० 130

[8] चै०च०उ०, पृ० 14

तथा मुकुन्द भी गये थे[1]।

चैतन्य के संन्यास ग्रहण के सन्दर्भ में भी कर्णपूर के मत में पार्थक्य है। नाटक में चैतन्य ने बिना स्पष्ट सूचना के ही अकस्मात् संन्यास ग्रहण किया तथा केशव-भारती से सामान्य रूप से मन्त्र-दीक्षा ली। अन्यत्र चैतन्य के 'संन्यास' से पूर्व ही सबको सूचित करने तथा अनुमति ग्रहण करने का उल्लेख है[2]। यद्यपि कर्णपूर ने केशवभारती के प्रतिपादित मन्त्र को श्रुतिप्रतिपादित के समान महत्त्वपूर्ण व्यक्त किया है[3] तथापि इस ऐतिहासिक तथ्य की भी पुष्टि कर दी है कि चैतन्य 'भारती' सम्प्रदाय से सम्बद्ध नहीं थे। वे बाह्य सम्प्रदाय की अपेक्षा ही नहीं करते थे[4]।

शान्तिपुर से चैतन्य के साथ नित्यानन्द, जगदानन्द, दामोदर तथा मुकन्द जगन्नाथपुरी गये। 'पुरी' जाने के मार्ग में जो मन्दिर एवं अन्य भौगोलिक वर्णन नाटककार ने किये हैं, संक्षिप्त होने पर भी वे ऐतिहासिक हैं। पुरी में दो प्रमुख घटनायें हुई, तत्कालीन प्रसिद्ध वेदान्ती सार्वभौम का चैतन्य-अनुयायी बनना तथा उत्कल नरेश गजपति प्रतापरुद्र का चैतन्य-कृपा प्राप्त करना। यद्यपि परम्परा सार्वभौम भट्टाचार्य को चैतन्य के गुरु रूप में मान्यता देती है फिर भी एस.के.दे महोदय कर्णपूर के नाटक में वर्णित सावभौम-चैतन्य मिलन के आधार पर उस परम्परा को अनुचित स्वीकार करते हैं[5]। सार्वभौम-साक्षात्कार तथा जगन्नाथ देव का दर्शन, दोनों घटनायें नाटक में परस्पर आश्रित हो गई हैं। नाटक में चैतन्य के जगन्नाथ दर्शन करने से पहले ही उनका सार्वभौम-मिलन वर्णित किया गया है। सार्वभौम के आवास पर हुये इस प्रथम साक्षात्कार के अवसर पर ही सार्वभौम चैतन्य से प्रभावित चित्रित हुये हैं। द्वितीय दिन ही चैतन्य को परमेश्वर-रूप में स्वीकार कर लेना नाटक में वर्णित है। कृष्णदास कविराज का वर्णन कर्णपूर से पर्याप्त भिन्न है जिसके अनुसार चैतन्य पहले जगन्नाथ दर्शन करते हैं। भावावेश में मूर्च्छित होने पर सार्वभौम के द्वारा अपने आवास में लाये जाते हैं। अत्यन्त स्वाभाविक रूप से सार्वभौम से सात दिन वेदान्त का श्रवण करने के पश्चात् चैतन्य उन्हें अपनी व्याख्या से चमत्कृत करते हैं। तत्पश्चात् ही चैतन्य की भगवत्ता का बोध सार्वभौम को होता है[6]। ए०के० मजुमदार ने कृष्णदास के इस वर्णन को ही चैतन्य के जीवन की घटना के रूप में स्वीकार किया है[7]।

---

[1] S.K. De, VFM., p. 82

[2] A.K. Majumdar, Caitanya : His Life and Doctrine, p. 158

[3] केशवभारतीप्रतिपादितं श्रुतिप्रतिपाद्यमेवेति। नाटक, पृ० 86

[4] नास्य तथा बाह्यापेक्षा। वही, पृ० 110

[5] S.K. De, VFM, p. 87, Footnote 1

[6] चै०च०, मध्य, 6, पृ० 152-167

[7] A.K. Majumdar, Caitanya: His Life and Doctrine, pp. 162-170

ए०के० मजुमदार इस प्रसङ्ग में कर्णपूर का समर्थन नहीं करते हैं। उनके अनुसार अद्वैत-वेदान्त पर 'अद्वैत-मकरन्द' नामक ग्रन्थ की रचना करने वाले सार्वभौम भट्टाचार्य को पहले से ही वैष्णव के रूप में चित्रित करना तथा उनके मुख से 'निर्विशेषत्वे शून्यवादावसरः प्रसज्यते'[1] जैसी उक्ति को चैतन्य के साथ प्रारम्भिक कथोपकथन के समय ही कहलवाना उचित नहीं है[2]।

विमानविहारी मजुमदार ने कर्णपूर के 'चैतन्यचन्द्रोदय' के चैतन्य-सार्वभौम के संवाद का ही प्रभाव कृष्णदास कविराज के 'चैतन्यचरितामृत' पर माना है[3]। इस प्रकार भङ्ग्यन्तर से उन्होंने कर्णपूर द्वारा वर्णित घटना को ही स्वीकार कर लिया है।

एस०के० दे की तो यह मान्यता है कि सार्वभौम के समान उच्चकोटि के वेदान्ती चैतन्य के सिद्धान्तों से सम्भवतः इतने प्रभावित नहीं हुये थे परन्तु जब चैतन्य ने सार्वभौम के समक्ष अपने दिव्य कृष्ण के स्वरूप को व्यक्त किया, तभी सार्वभौम चैतन्य के वशीभूत हुये[4]। अस्तु, इन सभी विवेचनों से यह तो ज्ञात होता है कि चैतन्य-सार्वभौम-मिलन तथा सार्वभौम का वेदान्ती के स्थान पर भक्त रूप में परिवर्तित हो जाना ऐतिहासिक सत्य है लेकिन कवियों की वर्णन-शैली में जो पार्थक्य है, उसको दृष्टि में रखते हुये किसी विशेष कवि-वर्णित घटना को ऐतिहासिक सत्य मानना कठिन है। कर्णपूर सार्वभौम के विषय में अन्यत्र एक और ऐतिहासिक सत्य उद्घाटित करते हैं। महाप्रभु चैतन्य के अन्तर्धान से पूर्व सार्वभौम 1532 ई० में जगन्नाथपुरी से वाराणसी चले गये थे। अपने जीवन का अन्तिम समय उन्होंने काशी में ही व्यतीत किया था[5]। कर्णपूर ने 'चैतन्यचन्द्रोदय' के दशम अङ्क में सार्वभौम के मुख से ही इस ऐतिहासिक तथ्य की सूचना दी है कि 'भगवान् की अनुमति न होने पर भी वे भगवान् के मत को ग्रहण करवाने के लिये अकस्मात् ही वाराणसी जाने को उद्यत हो गये हैं।[6]

उत्कल नरेश गजपति प्रतापरुद्र का चैतन्य का अनुयायी हो जाना इतिहास की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण विवेचनीय विषय है। कर्णपूर के अनुसार सार्वभौम के वैष्णव बन जाने के अनन्तर राजा प्रतारुद्र भी चैतन्यदर्शन के लिये लालायित हो गये। चैतन्य के द्वारा राज-दर्शन का निषेध किये जाने पर सार्वभौम के परामर्श से रथ-यात्रा के समय नृत्य के कारण

[1] नाटक, पृ० 121

[2] A.K. Majumdar, Caitanya : His Life and Doctrine, p. 172

[3] चै०च०उ०, पृ० 346-347

[4] S.K. De, VFM, p. 89

[5] दीनेशचन्द्र भट्टाचार्य, बांगालीर सारस्वत अवदान, पृ० 42

[6] यद्यपि भगवतोऽस्मिन्नर्थे नानुमतिर्जाता, तथापि हठादेवाहं वाराणसीं गत्वा भगवन्मतं ग्राह्यामीति हठादेव तत्र गच्छन्नस्मि। नाटक, पृ० 182

क्लान्त अतएव उपवन में बैठे हुये चैतन्य की राजा ने शरण ली तथा उनकी कृपा प्राप्त की[1]। कर्णपूर ने प्रतापरुद्र की प्रभु के प्रति आतुरता तथा उनके दर्शनार्थ अभिलाषा की तीव्रता की सुन्दर योजना की है परन्तु इस दर्शन के अनन्तर फिर चैतन्य के साथ उनका साक्षात्कार नहीं दिखाया है। इसके विपरीत चैतन्य का राज-सहायता ग्रहण न करने तथा राजसंसर्ग के परिहार की भावना पर ही नाटक में बल दिया गया है। इसी कारण महाप्रभु के गौड़ मार्ग से वृन्दावन जाने पर यद्यपि मार्ग की समस्त सुविधाओं की व्यवस्था प्रतापरुद्र की ओर से की गई तथापि चैतन्य को वह सब रामानन्द का कार्य ही बतलाया गया[2]। मुरारिगुप्त ने राजा के चैतन्य के षड्भुज रूप देखने का वर्णन किया है तो कृष्णदास कविराज ने भी, राजा को चैतन्य ने अपना ऐश्वर्य दिखलाया था, इसका उल्लेख किया है[3]। कर्णपूर ने इस प्रकार के किसी अलौकिक उपाख्यान का सङ्केत नहीं दिया है।

प्रतापरुद्र सिंहासनारूढ राजा थे जिन्होंने पर्याप्त दीर्घकाल तक उत्कल पर शासन किया। दे महोदय उनके सम्बन्ध में यह सम्भावना करते हैं कि चैतन्य के धार्मिक व्यक्तित्व से राजा अवश्यमेव प्रभावित हुये होंगे। अतः चैतन्य के प्रति उनका सादर नमन भी रहा होगा। इसके अतिरिक्त उनके वास्तविक रूप में चैतन्य-सम्प्रदाय में प्रवेश कर जाने का कोई साक्ष्य नहीं है। सम्भवतः कवियों ने इस प्रसङ्ग का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन ही किया है[4]। दे महोदय के उक्त मन्तव्य को सत्य मानने पर स्वीकार करना पड़ेगा कि 'चैतन्यचन्द्रोदय' का प्रस्तावित वर्णन ऐतिहासिक दृष्टि से प्रमाणित नहीं है।

चैतन्य की दक्षिण-यात्रा उनके जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना है किन्तु ऐतिहासिकता की दृष्टि से अत्यधिक सन्देहास्पद है क्योंकि चैतन्य के साथ उनका कोई पार्षद दक्षिण नहीं गया। अतः किसी प्रत्यक्षदर्शी का वर्णन प्रामाणिक रूप से उपस्थित नहीं है। चैतन्य की दक्षिण यात्रा के सन्दर्भ में अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाओं का वर्णन हुआ है यथा पाखण्डियों द्वारा दूषित अन्न चैतन्य को समर्पित करना तथा उसे पक्षी द्वारा हठात् ले जाना[5]। कृष्णदास कविराज ने इसी को अधिक चामत्कारिक बनाकर उपस्थित किया है[6]। ऐसी घटनाओं की ऐतिहासिकता सिद्ध करना सम्भव नहीं है। दक्षिण यात्रा-वर्णन का एक महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक तथ्य नाटककार ने उपस्थित किया है कि चैतन्य के दक्षिण जाने से पूर्व वहाँ पर कर्मकाण्डी, ज्ञानमार्गी तथा अन्य अनेक पाशुपत तथा पाखण्डियों का

---

[1] वही, पृ० 158-159

[2] वही, पृ० 167

[3] कड़चा, 4/16/13

[4] S.K. De, VFM, p. 90, Footnote 1

[5] नाटक, पृ० 133-134

[6] चै०च०, मध्य, 9, पृ० 197-198

धार्मिक दृष्टि से आधिपत्य था। चैतन्य के सेतुबन्ध जाने पर मार्ग में सभी उनके ही मत में प्रवेश कर गये थे[1]। दूसरे शब्दों में प्रायः सारा ही दक्षिण भक्ति की धारा में निमज्जित हो गया था। अन्य चरितकारों ने भी प्रायः इसके अनुरूप वर्णन किया है। दे महोदय इस वर्णन को भी अतिशयोक्तिपूर्ण मानते हैं। उनका वक्तव्य यह है कि चैतन्य के समान युवक संन्यासी के आकर्षक धार्मिक व्यक्तित्व ने अवश्यमेव जनता के समूह को आकर्षित किया होगा तथा चैतन्य ने उनकी पूजा भी प्राप्त की होगी परन्तु चैतन्य की यात्रा का इतना गम्भीर प्रभाव पड़ना सम्भव प्रतीत नहीं होता है, जैसा कि चरितकारों ने वर्णन किया है[2]।

चैतन्यदेव की दक्षिण-यात्रा के सन्दर्भ में सर्वाधिक प्रसिद्ध घटना रामानन्द राय से चैतन्य-मिलन था। रामानन्द सम्मानित आधिकारिक पद पर विराजित थे। चैतन्य के दक्षिण यात्रा से केवल आते हुये ही गोदावरी के किनारे पर रामानन्द से उनका साक्षात्कार हुआ जहाँ उनका गाम्भीर्यपूर्ण शास्त्रीय विवेचन हुआ। इस प्रसङ्ग में अन्य छोटे-मोटे पार्थक्य उपेक्षणीय हैं। कर्णपूर ने एक महत्त्वपूर्ण सूचना अवश्यमेव रामानन्द के सम्बन्ध में दी कि चैतन्य से मिलने से पूर्व ही वे सहज वैष्णव थे[3]। दे महोदय इनके 'सहजिया' सम्प्रदाय से सम्बद्ध होने की सम्भावना करते हैं[4]।

कर्णपूर ने चैतन्य के दक्षिण-भ्रमण की अवधि का नाटक में कहीं सङ्केत मात्र भी नहीं किया है जो ऐतिहासिक दृष्टि से एक स्खलन ही है।

चैतन्य-जीवन की एक अन्य महत्त्वपूर्ण घटना उनकी वृन्दावन-यात्रा है। नाटककार ने यहाँ स्पष्ट उल्लेख किया है कि दक्षिण-यात्रा के पश्चात् उन्होंने दो वर्ष नीलाचल में अवस्थान किया[5]। इस अन्तराल में रामानन्दराय ने भी नीलाचल में रहना प्रारम्भ कर दिया था। गौड़ होते हुये चैतन्य वृन्दावन जाने लगे। उस समय वे नवद्वीप नहीं गये वरन् केवल 'रामकेलि' तक ही गये थे। ऐतिहासिक दृष्टि से 'रामकेलि' में रूप गोस्वामी तथा सनातन के साथ चैतन्य का प्रथम साक्षात्कार होने पर भी कर्णपूर ने इस वर्णन को छोड़ दिया है। यद्यपि गौड़ होते हुये चैतन्य को वृन्दावन जाना था पर वे उस मार्ग से नहीं गये वरन् वापस 'पुरी' आकर फिर वृन्दावन की यात्रा प्रारम्भ की, इस ऐतिहासिक सत्य को कर्णपूर ने नाटक में स्वीकार किया है, चाहे इसके पीछे उनकी कल्पना कुछ भी क्यों न रही हो। वृन्दावन में चैतन्य अत्यल्प-काल तक रहे क्योंकि भावावेश के कारण उनका

[1] नाटक, पृ० 133-135

[2] S.K. De, VFM, p. 92

[3] स खलु सहजवैष्णवो भवति। नाटक, पृ० 125

[4] S.K. De, VFM, p. 573, Footnote 2

[5] तेन तदुपरोधान्मथुरां जिगमिषुरपि वर्षद्वयमद्य श्व इति कृत्वा विलम्बितो भगवान्। नाटक, पृ० 165

वहाँ रहना असुरक्षित अतः उचित न था। वापस आते हुये वे मार्ग में प्रयाग गये जहाँ उनकी श्रीरूप से भेंट हुई। फिर वे काशी गये जहाँ सनातन मिले पर उनके साथ रूप से भी वे वहाँ पुनः मिले तथा इन दोनों भाइयों को वृन्दावन की केलि-वार्ता के प्रचार का आदेश दिया[1]। कृष्णदास कविराज के अनुसार प्रयाग में रूप से तथा काशी में सनातन से श्रीचैतन्य का साक्षात्कार हुआ था। विमानविहारी मजुमदार के अनुसार कर्णपूर की सूचना ठीक नहीं है[2]।

श्रीचैतन्य के पुरीवास के समय नवद्वीप से शिवानन्दसेन के संरक्षण में प्रतिवर्ष तीर्थयात्रियों का दल नीलाचल आया करता था, यह ऐतिहासिक सत्य है परन्तु यह कितनी बार आया, इसका कोई भी विवरण नाटक में नहीं मिलता है। नाटक के अनुसार केवल एक बार अद्वैतादि को चैतन्य ने शिवानन्द के भाञ्जे श्रीकान्त द्वारा पुरी न आने का निर्देश भिजवाया था[3]।

श्रीचैतन्य के जीवन से सम्बन्धित इन प्रमुख घटनाओं का उल्लेख नाटक में हुआ है परन्तु लेखक ने समय के व्यवधान का इतना कम उल्लेख किया है कि वह केवल पाठक के अनुमान का विषय बन गया है। उदाहरणस्वरूप पुरी से नवद्वीप आकर चैतन्य-वास, दक्षिण-यात्रा से पूर्व चैतन्य का पुरी-वास, दक्षिणयात्रा में व्यतीत समय, वृन्दावन तथा अन्य आवागमन में व्यतीत समय तथा तदनन्तर नीलाचल में वास का समय कहीं भी उल्लिखित नहीं है।

'चैतन्यचन्द्रोदय' में चैतन्य के जीवन की प्रधान घटनाओं की तुलना में उनके परिकरों तथा भक्तों से सम्बन्धित घटनायें अधिक संख्या में हैं। इनमें से अधिकतर घटनायें ऐसी हैं जिनका उल्लेख 'मुरारि' ने अपनी 'कड़चा' में नहीं किया है। इन घटनाओं की प्रामाणिकता प्रधानतः कृष्णदास कविराज के 'चैतन्यचरितामृत' से सिद्ध होती है और कतिपय घटनायें वृन्दावनदास के 'चैतन्यभागवत' से प्रमाणित होती हैं। ऐसी कुछ घटनायें निम्न प्रकार से हैं

कर्णपूर ने चैतन्य द्वारा जगन्नाथ तथा माधव नामक दो उन्मार्गगामी मद्यप ब्राह्मण तनयों के उद्धार का वर्णन किया है चैतन्य ने जिन्हें अपने समस्त पाप उन्हें समर्पित करने को कहा था। 'चैतन्यभागवत' में जगन्नाथ-माधव के नित्यानन्द के साथ दुर्व्यवहार करने तथा उसके पश्चात् चैतन्य-कृपा कटाक्ष प्राप्त करने का वर्णन है[4]। 'चैतन्यचन्द्रोदय' में नित्यानन्द के षड्रूप दर्शन की सूचना मात्र है परन्तु 'चैतन्यभागवत'

---

[1] कालेन वृन्दावन-केलिवार्ता लुप्तेति तां स्थापयितुं विशिष्य।
कृपामृतेनाभिषिषेच देवस्तत्रैव रूपं च सनातनं च।
वही, पृ० 176

[2] द्र० चै०च०उ०, पृ० 126-127

[3] नाटक, पृ० 163

[4] नाटक, पृ० 11-12, चै०भा० मध्य, 13, पृ० 204-217

में नित्यानन्द के षड्रूप-दर्शन से मूर्च्छित आदि होने का भी वर्णन है[1]। 'चैतन्यचन्द्रोदय' में मुरारि-उद्धार के समय उसके अध्यात्मवादी होने का वर्णन मिलता है जबकि 'चैतन्यभागवतकार' उन्हें परम राम भक्त ही स्वीकार करता है। तदनुसार उन्होंने चैतन्य में ही राम-रूप को देखा था[2]। 'चैतन्य-भागवत' के अनुसार चैतन्य की कृपा प्राप्त करने से पूर्व मुकुन्द 'योग-वाशिष्ठ' के अनुयायी थे। कविकर्णपूर मुकुन्द को चतुर्भुजी नारायण का उपासक तथा मुरारि को 'योग-वाशिष्ठ' का अनुयायी स्वीकार करते हैं[3]। 'चैतन्यचन्द्रोदय' में चैतन्य के राधा-कृष्ण लीला-अभिनय का उल्लेख हुआ है। यद्यपि उनकी अनेक लीलाओं का वर्णन 'चैतन्यचरितामृत' में हुआ है परन्तु यह लीला वहाँ वर्णित नहीं है। 'चैतन्यभागवत' में इस लीला-अभिनय का समर्थन मिलता है।श्रीवास के घर अपने परिकरों सहित उचित वेष-विन्यास के साथ चैतन्य कृष्ण-लीला करते हैं। इसमें महत्त्वपूर्ण पार्थक्य यह है कि कर्णपूर के अनुसार गदाधर ने राधा की सखी ललिता का अभिनय किया। वृन्दावनदास के अनुसार गदाधर 'रुक्मिणी' का अभिनय कर रहे थे तथा श्रीचैतन्य राधा के स्थान पर लक्ष्मी देवी का अभिनय कर रहे थे[4]। कर्णपूर के शचीदेवी को भक्तिदान करने के उल्लेख का समर्थन भी चैतन्यभागवत में मिलता है[5]। श्रीचैतन्य ने अद्वैत को षड्भुज-रूप का दर्शन करवाया, इस घटना को कर्णपूर ने विस्तार से वर्णित किया है तथा इसी के माध्यम से चैतन्य-कृष्ण की ऐक्य-स्थापना भी की है। अर्जुन को जिस प्रकार से विश्वरूप दर्शन करवाया गया था 'चैतन्यभागवत' में उसी प्रकार का रूप अद्वैत को भी दिखलाने का वर्णन है[6]। इस प्रकार इन सभी घटनाओं की वर्णन शैली अथवा आनुषाङ्गिक वर्णनों में पार्थक्य होने पर भी कर्णपूर के वर्णन प्रामाणिक थे, यही स्पष्ट होता है।

'चैतन्यचन्द्रोदय' में अन्य अनेक ऐसी घटनाओं का वर्णन मिलता है जिनका समर्थन 'चैतन्यचरितामृत' में हुआ है। वस्तुतः वृन्दावनदास ने चैतन्य की आदि तथा मध्यलीला को यदि विस्तृत रूप दिया है तो कृष्णदास कविराज उनकी अन्त्यलीला पर बल देते हैं। नीलाचल जाने तथा वहाँ से दक्षिण-प्रयाण एवं वृन्दावन यात्रा का वर्णन कृष्णदास ने विस्तार से किया है जबकि वृन्दावनदास चैतन्य की दक्षिण यात्रा के विषय में मौन हैं।

---

[1] वही, पृ० 38, वही, 5, पृ० 153

[2] वही, पृ० 10, वही,, 10, पृ० 188

[3] वही, पृ० 20; वही, 10, पृ० 194

[4] वही, पृ० 58, वही, 18, पृ० 233-240,

[5] वही, पृ० 21-22; वही, 22, पृ० 258-262

[6] वही, पृ० 39-42. वही, 24, पृ० 283

अस्तु, कर्णपूर की वर्णित घटनाओं की प्रामाणिकता का परिचय कृष्णदास के समर्थन से मिलता है।

कर्णपूर ने श्रीवास के प्राङ्गण में बैठने वाले यवन दर्जी का उल्लेख किया है जो चैतन्य के दर्शनमात्र से प्रेम विह्वल हो 'अवधूत' बन गया था। कृष्णदास ने इसी घटना की प्रतिध्वनि की है[1]।

श्रीचैतन्य के संन्यास के पश्चात् राढ़देश में भ्रमण करते हुये चैतन्य के समीप गोपबालकों द्वारा हरिनाम-सङ्कीर्तन करने का उल्लेख कर्णपूर तथा कविराज दोनों लेखकों ने समान रूप से किया है। इसी वर्णन के साथ चैतन्य देव का तीन दिन पश्चात् बाह्य-बोध को प्राप्त करना, वृन्दावन का मार्ग पूछना, नित्यानन्द की शिक्षा से बालकों द्वारा अद्वैत-गृह के मार्ग को वृन्दावन का मार्ग बतलाना एवं नित्यानन्द द्वारा आचार्यरत्न को नवद्वीप भेजना, सभी घटनायें समान हैं। अन्तर केवल इतना है कि कर्णपूर ने मुकुन्द के चैतन्य के साथ जाने का उल्लेख नहीं किया है[2]।

संन्यासी चैतन्य के दण्ड को व्यर्थ मान नित्यानन्द ने जगन्नाथपुरी जाते हुये मार्ग में ही उसे तोड़ दिया, इस घटना का उल्लेख कर्णपूर के अनुरूप ही कृष्णदास ने किया[3]। अन्तर केवल यही है कि कर्णपूर ने घटना की सूचना मात्र दी है तथा कृष्णदास ने विस्तार से वर्णन किया है। वृन्दावनदास ने भी घटना का स्थान, काल तथा कर्ता वही लिया है[4]।

कविकर्णपूर ने चैतन्यदेव की दक्षिण-यात्रा के समय घटित कई घटनाओं का उल्लेख किया है जिनका 'चैतन्य-भागवत' में वर्णन मिलना सम्भव नहीं है क्योंकि उसमें दक्षिण-यात्रा का प्रसङ्ग ही उत्थापित नहीं हुआ है। कर्णपूर की स्वरचित प्रथम कृति 'चैतन्यचरितामृत' काव्य में भी उन घटनाओं की अवहेलना कर दी गई है किन्तु 'चैतन्यचरितामृत' में कृष्णदास ने 'चैतन्यचन्द्रोदय' में वर्णित घटनाओं को यथायथ ग्रहण करके उनकी ऐतिहासिकता को बल दिया है। इन घटनाओं में राम-नाम-पाठी ब्राह्मण का उल्लेख हुआ है जो चैतन्यदेव के दर्शन से पहले राम-नाम का उच्चारण करता था परन्तु चैतन्यदेव के दर्शन से उसमें कृष्ण-स्फूर्ति हो गई थी। अतः उसकी जिह्वा विवश सी कृष्ण-नाम का ही उच्चारण करने लगी[5]।

दक्षिण-यात्रा के समय कूर्मक्षेत्र में चैतन्य के कूर्म नामक ब्राह्मण से साक्षात्कार तथा उनके घर में भिक्षा ग्रहण करने की घटना 'चैतन्यचरितामृत' के समान है[6]। इसी सन्दर्भ में

---

[1] वही, पृ० 30-31 - चै०च० आदि, 17, पृ० 95

[2] वही, पृ० 105- वही, मध्य 3, पृ० 122

[3] वही, पृ० 106 - वही, 5, पृ० 150-151

[4] चै०भा०, अन्त्य, 2, पृ० 320-321

[5] नाटक, पृ० 133-134 - चै०च०, मध्य, 9, पृ० 196

[6] वही, पृ० 126- वही, 7, पृ० 176

कुष्ठ-रोगी के उद्धार का वर्णन है। वासुदेव नामक ब्राह्मण कुष्ठ रोग से पीड़ित होने पर भी सदैव हरिनाम में लीन रहता था। चैतन्य ने उसका आलिङ्गन किया जिससे वह रोग मुक्त हो गया[1]। कृष्णदास कविराज के वर्णन में केवल इतना अन्तर है कि उनके अनुसार वासुदेव कूर्म ब्राह्मण के घर चैतन्य से मिलने आया जबकि कर्णपूर के अनुसार चैतन्य देव बिना किसी के कहे, स्वयं ही वहाँ पहुँच गये।

दक्षिण-यात्रा में गीता-पाठी ब्राह्मण से मिलने का वर्णन 'चैतन्यचन्द्रोदय' में मिलता है। अच्छी तरह से अर्थबोध न कर सकने पर भी वह गीतापाठी श्रीकृष्ण की अनुभूति को प्राप्त करता था। चैतन्य ने उसे गीता-पाठ का अधिकारी माना और उस ब्राह्मण ने चैतन्य में ही अर्जुन सखा कृष्ण के दर्शन किये[2]। इसी यात्रा-काल में पाखण्डियों द्वारा श्रीचैतन्य को अशुचि भोजन देने का वर्णन दोनों ग्रन्थों में हुआ है जिसका पहले उल्लेख किया जा चुका है।

श्रीचैतन्य की दक्षिण-यात्रा की सबसे महत्त्वपूर्ण घटना रामानन्दराय से मिलन है। कर्णपूर के समान कृष्णदास भी स्वीकार करते हैं कि सार्वभौम भट्टाचार्य ने ही चैतन्य से अनुरोध किया था कि वे दक्षिण-यात्रा के अवसर पर रामानन्द से अवश्य मिलें[3]।

गोदावरी के तीर पर श्रीचैतन्य के पहुँचने पर रामानन्द राय के भी वहीं पहुँचने का तथा चैतन्य के साथ रामानन्द के दीर्घ संवाद का चित्रण दोनों लेखकों ने प्रायः समान रूप से किया है[4]। यहाँ कर्णपूर की अपेक्षा कृष्णदास एक सूचना अधिक देते हैं कि चैतन्य ने स्वयं रामानन्द को नीलाचल आने के लिये कहा था। इसके अतिरिक्त एक और महत्त्वपूर्ण पार्थक्य उल्लेखनीय है। कर्णपूर ने तो केवल एक बार ही चैतन्य-रामानन्द का मिलन प्रदर्शित किया है जबकि कृष्णदास के अनुसार सेतुबन्ध आदि को जाते समय तथा वहाँ से वापस आते हुये, दोनों ही अवसरों पर यह मिलन हुआ था [5]। एक उल्लेखनीय विषय यहां यह है कि कर्णपूर ने अपने काव्य 'चैतन्यचरितामृत' में चैतन्य के साथ रामानन्द के दो बार मिलन का उल्लेख किया है, प्रथम बार 'श्रीरङ्गम' से प्रत्यावर्तन करते हुए गोदावरी-तीर पर[6], द्वितीय बार जगन्नाथ-क्षेत्र पहुँच कर किसी समय जगन्नाथ के गूढ़ भाव से रहने के कारण उनके अदर्शन से खिन्न-मन चैतन्य पुनः गोदावरी तीर पर गये तथा राय से मिले। वहाँ चार मास के लगभग रह कर वे रामानन्द के साथ ही श्रीक्षेत्र

[1] वही, पृ० 126 - वही, 7, पृ० 176-177

[2] वही, पृ० 135 - वही, 9, पृ० 200-201

[3] नाटक, पृ० 125 - चै०च०, मध्य, 7, पृ० 171

[4] वही, पृ० 137-142 - वही, 8, पृ० 177-194

[5] चै०च०, मध्य, 9, पृ० 211

[6] चै०च०, (काव्य) 13/34-49

वापस आये[1]। 'चैतन्यचन्द्रोदय' में इस सन्दर्भ में किया गया परिवर्तन सम्भवतः कर्णपूर की अनैतिहासिकता नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि अनावश्यक समझते हुये ही दो बार मिलन की बात की यहाँ उपेक्षा कर दी गई है।

चैतन्यदेव के नीलाचलवास के समय गौड़ीय भक्तों के अतिरिक्त आये हुये चैतन्य-दर्शनाभिलाषी अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों की सूचना 'चैतन्यचन्द्रोदय' से मिलती है। ये सभी व्यक्ति ऐतिहासिक थे, इसका बोध 'चैतन्यचरितामृत' से हो जाता है। इन व्यक्तियों में माधवेन्द्रपुरी के शिष्य परमानन्दपुरी उल्लेखनीय हैं। कर्णपूर के अनुसार इन्हीं परमानन्दपुरी में चैतन्य के अग्रज विश्वरूप का समस्त तेज समाविष्ट हो गया था[2]। कर्णपूर ने परमानन्दपुरी के वाराणसी से चैतन्यदर्शन की उत्कण्ठा से जगन्नाथ क्षेत्र जाने का उल्लेख किया है[3]। इससे पर्याप्त भिन्न कृष्णदास का वर्णन है। तदनुसार श्रीचैतन्य के दक्षिण-यात्रा से प्रत्यागमन का समाचार लेकर कालिया-कृष्णदास शची माता के पास गौड़देश पहुँचा। उसी समय परमानन्दपुरी दक्षिण से नवद्वीप आये। वहाँ उन्होंने शचीदेवी का आतिथ्य स्वीकार किया। चैतन्य के नीलाचल पहुँचने का समाचार मिलते ही वे गौड़ीय-भक्तों के साथ की प्रतीक्षा किये बिना ही कमलाकान्त नामक चैतन्य के एक भक्त के साथ नीलाचल आ पहुँचे[4]। कर्णपूर ने 'चैतन्यचरितामृत' काव्य में भी ऐसा ही उल्लेख किया है कि परमानन्दपुरी ने नवद्वीप जाकर माता-शची से भिक्षा ग्रहण की। कुछ दिन वहाँ रहने के पश्चात् ही वे कुछ गौड़ीय-भक्तों के साथ नीलाचल आये जिससे चैतन्य का दर्शन कर सकें[5]। प्रस्तुत प्रसङ्ग में विवेचनीय है कि कर्णपूर ने अपने ही काव्य में वर्णित कथन का खण्डन नाटक में क्यों किया है। नाटक 'चैतन्यचन्द्रोदय' में उन्होंने अत्यन्त सचेतन होकर ही परमानन्दपुरी के 'वाराणसी' से आने की सूचना दी है। यद्यपि कृष्णदास ने कर्णपूर के काव्य की सूचना को ही ग्रहण किया है तथापि ऐसा प्रतीत होता है कि पर्याप्त बाद में लिखे गये 'चैतन्यचन्द्रोदय' की रचना के समय तक कर्णपूर किसी स्रोत के माध्यम से परमानन्दपुरी सम्बन्धित अपनी पूर्वदत्त सूचना की भूल से परिचित हो गये हों अतः 'चैतन्यचन्द्रोदय' में उसी का प्रक्षालन करने के लिए 'वाराणसी' से आने की सूचना पर बल दिया है पर किसी ऐतिहासिक प्रमाण के अभाव में यह एक सम्भावना मात्र ही है।

'चैतन्यचन्द्रोदय' में स्वरूप दामोदर का जो चित्रण हुआ है, उसके अनुसार वे

---

[1] वही, 13/60-61

[2] नाटक, पृ० 139-141

[3] भगवन्, त्वद्दर्शनार्थमेवायमहमुत्कण्ठितो वाराणसीत आगच्छन्नस्मि। वही, पृ० 140

[4] चै०च०, मध्य, पृ० 220-221

[5] कर्णपूर, चै०च० (काव्य), 13/114-124

चैतन्यानन्द के शिष्य थे। परम विरक्त उन्होंने वेदान्त-अध्ययन के पश्चात् अध्यापन का कार्य ग्रहण न करके संन्यास धारण किया। यहाँ स्वरूप दामोदर का जो परिचय दिया गया है उसकी पुष्टि 'चैतन्यचरितामृत' से हो जाती है[1]।

ईश्वरपुरी के निर्देश से उनका सेवक 'गोविन्द' श्रीचैतन्य की सेवा के लिये जगन्नाथपुरी आया, कर्णपूर के इस कथन का समर्थन नाटक में किया गया है[2]।

ब्रह्मानन्द भारती का चैतन्यदेव के दर्शन के लिये नीलाचल आना, उनकी बाह्याडम्बरप्रीति का परिचायक चर्माम्बर धारण करना तथा उससे चैतन्य का असन्तोष व्यक्त करना, भारती का अपना दोष-अनुभव करना तथा चर्माम्बर का परिहार करना आदि सभी वृत्तान्त 'चैतन्यचन्द्रोदय' के समान ही 'चैतन्यचरितामृत' में मिलते हैं[3]।

'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक में अनेकों घटनाओं का वर्णन किया गया है जो नाटककार के पिता शिवानन्दसेन से सम्बन्धित हैं। इन घटनाओं का उल्लेख मुरारि ने अपनी 'कड़चा', कविकर्णपूर ने 'चैतन्यचरितामृत' काव्य तथा वृन्दावन दास ने 'चैतन्यभागवत' में नहीं किया है। स्वाभाविक रूप से इन घटनाओं की प्रामाणिकता के विषय में सन्देह उत्पन्न हो सकता है कि नाटककार ने अपने पिता के महत्त्व को प्रतिपादित करने के लिये ही कहीं कल्पनाजन्य इन वर्णनों को नाटक में सम्मिलित न किया हो परन्तु इन सन्देहों का निराकरण 'चैतन्यचरितामृत' में स्वयं कृष्णदास कविराज ने किया है। अन्यत्र भी यथा 'अद्वैत प्रकाश[4]', एवं विश्वनाथ चक्रवर्ती कृत 'आनन्दवृन्दावनचम्पू' की टीका[5] में कर्णपूर का समर्थन किया गया है।

श्री चैतन्य वृन्दावन-यात्रा से पूर्व गौड़देश गये थे। उस समय वे कुमारहट्ट में श्रीवास के आवास पर पहले गये। तदनन्तर जगदानन्द के प्रयत्नों से शिवानन्द के घर ले जाये गये। वहाँ उनका चरणोदक सभी ने ग्रहण किया। कर्णपूर ने विस्तार से इस घटना का वर्णन किया है। कृष्णदास ने श्रीवास के घर से चैतन्य के शिवानन्दसेन के घर जाने की सूचना मात्र दी है[6]।

इन दोनो घटनाओं में यद्यपि चैतन्य की भगवत्ता को ही प्रतिपादित किया गया है

---

[1] नाटक, पृ० 141 - चै०च०, मध्य, 10, पृ०, 221-222

[2] वही, पृ० 142 - वही, 10, पृ० 223-234

[3] वही, पृ० 143-वही, 10, पृ० 224-225

[4] ईशान नागर रचित 'अद्वैत प्रकाश' को मजुमदार ने (चै०च०उ०, पृ० 400-424 में अप्रामाणिक ग्रन्थ माना है।

[5] आ०वृ०च० सुखवर्त्तनी टीका, पृ० 3

[6] नाटक, पृ० 170-171 - चै०च०, मध्य, 16, पृ० 310

तथापि शिवानन्दसेन के साथ भी उनका सम्बन्ध परिलक्षित होता है। श्रीचैतन्य के परहृदय-प्रवेश के अनुसार नकुल ब्रह्मचारी पर श्रीचैतन्य का आवेश हुआ। उनके दर्शन करने वालों पर चैतन्य का ही अनुग्रह माना गया। शिवानन्दसेन ने इस आवेश पर सन्देह किया। नकुल ब्रह्मचारी ने उन्हें स्वयं बुलवाकर उनके इष्ट मन्त्र को बता दिया। इस प्रकार शिवानन्दसेन ने उन पर विश्वास कर लिया। 'चैतन्यचन्द्रोदय' की इसी घटना को 'चैतन्यचरितामृत' में भी ग्रहण किया गया है[1]।

श्रीचैतन्य के चिन्तनमात्र-आविर्भाव को स्पष्ट करते हुये नाटककार ने दूसरी घटना प्रद्युम्न ब्रह्मचारी की बताई है। तदनुसार श्रीचैतन्य की प्रतीक्षा करने पर भी उनके न आने से शिवानन्द खिन्न हो गये। उस समय प्रद्युम्न ब्रह्मचारी ने नृसिंह भगवान्, जगन्नाथ देव तथा चैतन्यदेव तीनों को ही भोग समर्पित किया। ध्यानस्थ प्रद्युम्न ने चैतन्य को ही तीनों भागों का सेवन करते हुये देखा। शिवानन्द के मन में इस घटना से भी सन्देह उत्पन्न हो गया जो फिर किसी वर्ष नीलाचल में चैतन्य द्वारा प्रद्युम्न की पाक-कुशलता की प्रशंसा करने पर दूर हुआ। कृष्णदास कविराज ने इस घटना का पूर्ण समर्थन अपनी रचना में किया है[2]।

शिवानन्द सम्बन्धित अन्य महत्त्वपूर्ण घटना कुक्कुर की है। नवद्वीप से नीलाचल आते हुए शिवानन्द सेन के साथ जाने वाला एक कुक्कुर मार्ग में परिचारक के द्वारा उपेक्षित हुआ। बाद में उसी कुक्कुर को चैतन्य के पास बैठ कर प्रसाद खाते तथा कृष्ण-नाम उच्चारण करते हुये पाया गया। तदनन्तर वह दिव्यलोक को चला गया। 'चैतन्यचन्द्रोदय' की इस घटना का पूर्ण समर्थन कृष्णदास कविराज ने तो किया ही है[3] साथ ही ईशान नागर ने भी 'अद्वैत-प्रकाश' में इस घटना का उल्लेख किया है[4]।

श्रीकान्त नामक शिवानन्दसेन के भागिनेय के किसी एक वर्ष अपने मामा से अनुमति लेकर पहले ही चैतन्यदेव के पास आने का उल्लेख 'चैतन्यचन्द्रोदय' में हुआ है। कृष्णदास कविराज ने इसी घटना का अधिक विस्तार से वर्णन किया है। तदनुसार किसी वर्ष तीर्थ दल के साथ जाने वाले नित्यानन्द के आवास की व्यवस्था न हो पाने के कारण उन्होंने क्रुद्ध होकर शिवानन्दसेन पर आघात किया। मामा के इस अपमान से क्षुब्ध श्रीकान्त उस दल को छोड़कर पहले ही श्रीचैतन्य के पास नीलाचल चले गये[5]। अस्तु,

---

[1] वही, पृ० 132 - वही, अन्त्य, 2, पृ० 435-536

[2] नाटक, पृ० 163-165-चै०च०, अन्त्य, 2, पृ० 437-439

[3] वही, पृ० 178-179, वही, 1, पृ० 423-424

[4] शिवानन्द आइल जबे श्रीपुरुषोत्तमे। तार संगे सेइ कुक्कुर आइला भाग्यक्रमे।।
चैतन्य कृपाय तार कर्मबन्ध गेल। हरे कृष्ण उच्चारिया सिद्ध देह पाइल।। 18, पृ० 82

[5] नाटक, पृ० 183, चै०च०, अन्त्य, 12, पृ० 551-552

इस घटना से श्रीकान्त के अकेले जाने की सूचना प्रमाणित होती है।

शिवानन्दसेन का अपने पुत्रों, विशेषकर छोटे पुत्र कर्णपूर, को साथ लेकर नीलाचल आने तथा वहाँ उसे श्रीचैतन्य के दर्शन करवाने का उल्लेख मात्र 'चैतन्यचन्द्रोदय' में हुआ है। कृष्णदास कविराज ने एक बार नहीं, वरन् दो-दो बार कर्णपूर तथा चैतन्य का मिलन वर्णित किया है।[1] अतः कर्णपूर ने अपने विषय में कोई काल्पनिक उपाख्यान उपस्थित नहीं किया है, यह तो स्पष्ट है। इसी प्रसङ्ग में एक और उल्लेखनीय विषय यह है कि 'चैतन्यचन्द्रोदय' में कर्णपूर ने स्वयं को परमानन्दपुरी के दास रूप में चिह्नित किया है। 'चैतन्यचरितामृत' में कृष्णदास कविराज ने इसी बात का स्पष्टीकरण उपस्थित किया है। तदनुसार स्वयं चैतन्यदेव ने ही कर्णपूर का 'पुरीदास' नाम रखने का निर्देश दिया था[2]। नाटक के अन्त में कर्णपूर ने चैतन्य के उच्छिष्ट प्रसाद को ग्रहण करने तथा उससे काव्य प्रतिभा प्राप्त करने का उल्लेख किया है[3]। 'चैतन्यचरितामृत' में कर्णपूर के मुख में चैतन्य के पादांगुष्ठ डालने तथा चैतन्य के अवशिष्ट प्रसाद को प्राप्त करने का उल्लेख सम्भवतः कर्णपूर के कथन का ही समर्थन है[4]। विश्वनाथ चक्रवर्ती ने 'आनन्दवृन्दावन चम्पू' की 'सुखवर्त्तनी' टीका में कर्णपूर सम्बन्धित इन तथ्यों का पूर्ण समर्थन किया है[5]।

इनमें से किसी भी घटना को कवि के अतिशयोक्ति-पूर्ण वर्णन का फल नहीं माना जा सकता है।

ऊपर वर्णित ऐतिहासिक अथवा प्रामाणिक घटनाओं के अतिरिक्त 'चैतन्यचन्द्रोदय' में कतिपय ऐसी घटनाओं का भी उल्लेख हुआ है जिनका समर्थन अन्यत्र नहीं मिलता है। नाटक के अनुसार श्रीवास अपने जीवन के प्रारम्भिक सोलह वर्ष पर्यन्त उन्मार्गगामी थे। तदनन्तर ईश्वर के स्वप्नादेश के कारण वे भक्त-रूप में परिवर्तित हो गये। स्वयं भगवान् ने मृत्यु के मुख से बचाकर उन्हें नारद के अंश से युक्त किया[6]। 'चैतन्यभागवत' में श्रीवास का अत्यन्त विस्तार से वर्णन हुआ है। वहाँ उनके पुत्र की मृत्यु भी चित्रित की गई है[7]। उनकी किशोरावस्था का कोई सङ्केत नहीं दिया गया है। कृष्णदास ने भी कोई उल्लेख नहीं किया है। अतः इस घटना की प्रामाणिकता के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता है।

'चैतन्यचन्द्रोदय' में श्रीनाथ को अद्वैत के साथ चैतन्य के पास प्रथम परिचय के लिये

[1] नाटक, पृ० 186 - वही, 12, पृ० 553, तथा, 16, पृ० 587

[2] नाटक, पृ० 185 - वही, अन्त्य, 12, पृ० 553

[3] यस्योच्छिष्टप्रसादादयमजनि मम प्रौढिमां काव्यरूपी....। नाटक, पृ० 206

[4] चै०च०, अन्त्य, 12, पृ० 553

[5] पृ० 3

[6] नाटक, पृ० 18-19

[7] मध्य, 25, पृ० 286-288

लाने का उल्लेख हुआ है। कृष्णदास ने ऐसा कोई सङ्केत नहीं दिया है[1]।

कर्णपूर ने चैतन्य के नाम-सङ्कीर्तन के अवसर पर उनके मुख से बहती हुई लार को शुभानन्द नामक ब्राह्मण के द्वारा चाटने का वर्णन किया है[2]। यह भी उनके द्वारा वर्णित नवीन घटना है।

इन सभी घटनाओं के विवेचन से स्पष्ट है कि इन अन्तिम एकाध घटनाओं के अतिरिक्त 'चैतन्यचन्द्रोदय' में जिन घटनाओं का उल्लेख हुआ है वे प्रायः सभी ऐतिहासिक घटनाएँ कहला सकती हैं।

नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से कथावस्तु - विवेचन

आधिकारिक- नाटक में ख्यात इतिवृत्त का चयन किया जाता है।[3] नाटक के फल का स्वामी नायक 'अधिकारी' तथा उससे सम्बन्धित इतिवृत्त आधिकारिक कहलाता है। यह आधिकारिक इतिवृत्त फलपर्यन्त जाता है[4]।

नाटककार के समसामयिक श्रीचैतन्य का ऐतिहासिक जीवन-वृत्त नाटक का प्रतिपाद्य है। 'गया' से प्रत्यावृत्त चैतन्य की नवद्वीप तथा नीलाचल की लीला का वर्णन नाटक में हुआ है। चैतन्य के आविर्भाव का उद्देश्य अपनी लीला के द्वारा भक्ति का प्रसार था। भक्तियोग की स्थापना के लिए अपने प्रतिरोधी कलि का मन्थन करना उनका अन्य कार्य था। अतः इन दोनों लक्ष्यों से युक्त चैतन्य की जीवन लीला, जिनमें स्वानन्दावेश, सर्वावतार-दर्शन, संन्यास-परिग्रह, अद्वैतपुर-विलास, सार्वभौम-उद्धार, तीर्थाटन, मथुरागमन तथा महामहोत्सव प्रधान हैं, नाटक का आधिकारिक इतिवृत्त है।

प्रासङ्गिक- आधिकारिक से अतिरिक्त कथानक प्रासङ्गिक होता है जो पताका तथा प्रकरी दो प्रकार का होता है।

पताका- आधिकारिक इतिवृत्त का सहायक तथा प्रसङ्ग से जिसका फल सिद्ध हो पताका कहलाता है। यह नाटक में दूर तक व्याप्त रहता है[5]। चैतन्य-लीला के सहायक अनेकों पार्षदों में से अद्वैत का महत्त्व अलग ही स्पष्टतः परिलक्षित होता है। उन्हीं के आह्वान पर परमेश गोलोक से चैतन्य रूप में अवतरित हुये थे। नीरस ज्ञान-मार्ग प्रवर्तित सिद्धान्तों का खण्डन करके प्रेम-भक्ति की स्थापना में अद्वैत-चैतन्य के प्रधान सहायक थे, इसका बोध मुरारि तथा मुकुन्द के उपाख्यान से हो जाता है। उनके कथोपकथन चैतन्य की भगवत्ता की स्थापना तथा भक्ति के प्रचार में सहायक है। अद्वैत द्वारा देखा गया षड्रूप

---

[1] नाटक, पृ० 184

[2] वही, पृ० 193

[3] विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, 6/7

[4] धनञ्जय, दशरूपक, 1/12

[5] वही, 1/13

दर्शन तथा उससे सम्बन्धित कृष्ण तथा चैतन्य का ऐक्य-कथन ऐसा ही एक वृत्तान्त है[1]। नाटक के प्रथम पांच अङ्कों तत्पश्चात् अष्टम तथा दशम अङ्क में अद्वैत की कथा वर्णित है अतः यह सुदूरव्यापी है। चैतन्य से उनके साथ शाश्वत सहवास प्राप्ति का आश्वासन अद्वैतरूपी पताका नायक का अपना फल है। इसलिए अद्वैत के इतिवृत्त को पताका कथानक की श्रेणी में रखा जा सकता है।

प्रकरी- 'चैतन्यचन्द्रोदय' के नायक परमेश चैतन्य के जीवन में सामान्य नायक के समान उत्थान-पतन के अवसर कम होने के कारण उनका जीवन घटना बहुल नहीं है। अपने भक्तों को लेकर ही उनकी लीला है। अतः प्रकरी कथानक के रूप में ऐसे भक्तों के अनेक उपाख्यान नाटक में आये हैं। सार्वभौम-उद्धार, शिवानन्दसेन उपाख्यान, जगन्नाथ-माधव-कथा, श्रीवास-उद्धार, मुकुन्द-मुरारि-उद्धार, यवन दर्जी-उद्धार, कराधिकारी तथा कुष्ठ रोगी-उद्धार, गीता-पाठी ब्राह्मण वृत्तान्त, नकुल ब्रह्मचारी तथा प्रद्युम्न ब्रह्मचारी उपाख्यान, कुक्कुर-वृत्तान्त आदि ऐसे अनेक छोटे-छोटे उपाख्यान नाटक में आये हैं जो चैतन्य की भगवत्ता की स्थापना में सहायक होते हैं तथा प्रकरी के रूप में परिगणित किये जा सकते हैं।

अवस्था, अर्थप्रकृति तथा सन्धियां

ऐतिहासिक कथानक को 'चैतन्यचन्द्रोदय' के माध्यम से परमेश की लीला कथा के रूप में उपस्थित किया गया है। इसमें कृष्ण, राधा जैसे पौराणिक तथा कलि, अधर्म, भक्ति के समान अमूर्त पात्रों का भी समावेश हुआ है। इस दृष्टि से नाटक की कथावस्तु विशिष्ट है। कथावस्तु में अन्य विशेषताओं के साथ नाटकीयता का होना भी परम आवश्यक है जिसको बनाये रखने के लिए संस्कृत नाट्याचार्यों ने कथानक को पञ्च अर्थ प्रकृति, पञ्च अवस्था तथा पञ्च सन्धियों में विभाजित किया है। 'चैतन्यचन्द्रोदय' में ये तत्त्व अन्वेषणीय हैं।

नाटक की वस्तु-तत्त्व से सम्बन्ध रखने वाली बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी तथा कार्य ये पांच अर्थ प्रकृतियां होती हैं। अवस्थाओं का सीधा सम्बन्ध कार्य व्यापार से होता है। आरम्भ, प्रयत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति तथा फलागम ये पांच अवस्थायें हैं[2]। इन पांच अर्थ प्रकृतियों तथा अवस्थाओं के योग से मुख, प्रतिमुख, गर्भ, अवमर्श एवं निर्वहण सन्धियों की योजना होती है[3]।

मुख्य फल की सिद्धि के लिये उत्सुकता मात्र आरम्भ तथा स्वल्पमात्रा में कहा गया एवं फैल कर फल में परिणत होने वाला तत्त्व बीज कहलाता है। इन दोनों का मिश्रण ही

---

[1] नाटक, पृ० 38-42

[2] धनञ्जय, दशरूपक, 1/18-19

[3] वही, 1/23

मुख सन्धि है। 'चैतन्यचन्द्रोदय' में सूत्रधार के कथन कि 'भगवान् श्रीकृष्ण ही सविशेष ब्रह्म हैं एवं उनकी उपासना ही पुरुषार्थ है।' उसके साधन नाम-सङ्कीर्तन-प्रधान विविध भक्तियोग को आविर्भूत करने के लिये ही भगवान् चैतन्य का आगमन हुआ है,' में बीज है क्योंकि मुख्य फल भक्तियोग की स्थापना के बीज रूप चैतन्य-आविर्भाव का कथन हुआ है। सूत्रधार के द्वारा दिया गया 'भागवत' का उद्धरण, 'कलियुग में लोग नारायण-परायण होंगे' को भावी चैतन्य-अवतारपरक मानना ही आरम्भ नामक कार्य-अवस्था है। यहाँ चैतन्य द्वारा प्रवर्तित भक्तियोग-रूप कार्य के निश्चित रूप से सम्पन्न होने का सङ्केत किया गया है। कलि का यह कथन कि 'कुमार चैतन्य के आगमन से मैं हतप्रभ हो गया हूँ, तथा मेरा समय अब समाप्त हो गया है' मुख सन्धि है।

नाटक की कथा के विच्छिन्न सूत्र को आगे की कथा के साथ जोड़ कर गति देने वाला कारण बिन्दु है। द्वितीय अङ्क में विराग के कथन 'विष्णुभक्ति का अभाव तथा न्यायिक, मीमांसकादि का प्रभाव व्याप्त है' से नाटक के बीज नाम-सङ्कीर्तन का विच्छेद होने पर भक्ति देवी द्वारा चैतन्य के आविर्भाव तथा भक्ति के प्रसार की बात बतलाई जाती है। भक्ति का यह कथन कथा-सूत्र को फिर से जोड़ने वाला होने के कारण बिन्दु है। फल की अप्राप्ति पर अत्यन्त शीघ्रता से किया गया कार्य प्रयत्न है। कलि के द्वारा वैष्णव जनों का उन्मूलन करने के कारण भक्ति पथ के पथिक वैष्णव जनों का विराग के द्वारा त्वरापूर्वक अन्वेषण ही प्रयत्न नामक व्यापार है। मुख सन्धि में जिसका वपन किया जाता है उसका कुछ कुछ लक्षित तथा अलक्षित रूप ही प्रतिमुख सन्धि है। प्रथम अङ्क में चैतन्य-आविर्भाव से नाम-सङ्कीर्तन रूप जिस भक्ति की बात बतलाई गई थी, विराग के कथन से उसी का नष्ट होना दिखलाई देता है। तदनन्तर भक्ति देवी की सूचना कि 'चैतन्य ने नाना-अवतारों का प्रदर्शन किया है तथा यवन दर्जी को भक्ति मार्ग पर लाये हैं' यहाँ प्रतिमुख सन्धि है। पताका नामक अर्थ प्रकृति तथा प्राप्त्याशा नामक अवस्था विशेष के योग से गर्भ सन्धि होती है। कथा के प्रासङ्गिक भेद के प्रसङ्ग में पताका का उल्लेख हुआ है। उपाय तथा विघ्न की आशङ्का से जब फल की प्राप्ति निश्चित न हो तो उसे प्राप्त्याशा कहते हैं। 'चैतन्यचन्द्रोदय' के प्रारम्भ में नाटक का उद्देश्य बताते हुये प्रकाश डाला गया था कि चैतन्य देव अद्वैतवादियों को 'भागवत' द्वारा प्रवर्तित नाम-सङ्कीर्तन प्रमुख भक्तिमार्ग में समाविष्ट करेंगे। चतुर्थ अङ्क में चैतन्य के भारती सम्प्रदाय के संन्यासी के द्वारा दीक्षित होकर संन्यास आश्रम में प्रवेश करने से नाम-सङ्कीर्तन-प्रधान भक्ति के प्रचार के विषय में आशङ्का हो जाती है। अद्वैत के इस कथन में प्राप्त्याशा स्पष्ट होती है 'वह कीर्तन, नृत्य तथा कौतुक की कला समाप्त हो गई है। हे प्रभु, आपके संन्यास ले लेने पर हम लोगों का सर्वनाश ही हो गया है'। चौथे अङ्क में चैतन्य के संन्यास-ग्रहण करने तथा पांचवें अङ्क में अद्वैताचार्य द्वारा उस संन्यास के निष्प्रयोजकत्व पर प्रकाश डालने के

कारण वपन किया हुआ बीज फिर से नष्ट हुआ सा प्रतीत होता है परन्तु इसके पश्चात् ही चैतन्यदेव द्वारा संन्यास को प्रेममार्ग का बाधक न मानने तथा प्रत्येक दशा में अपने प्रेम के चरितार्थ होने की बात बतलाने में गर्भ सन्धि है।

विघ्न के अभाव के कारण जहाँ फल-प्राप्ति का निश्चय हो जाये उसे नियताप्ति कहते हैं। नियताप्ति के साथ प्रकरी के योग से अवमर्श सन्धि होती है। गर्भ सन्धि में जिस बीज को प्रकट किया गया हो, समस्त अंशों के साथ उसका जहाँ क्रोध, लोभ आदि के कारण अवमर्श किया जाये, वह अवमर्श सन्धि होती है। 'चैतन्यचन्द्रोदय' का मूल फल भक्ति योग की स्थापना, कलि का मन्थन तथा प्रेम का विस्तार है। इस फल की परिपोषक अनेकों प्रकरी कथाओं की योजना नाटक में की गई है। इनके द्वारा पञ्चम अङ्क के पश्चात् षष्ठ से नवम तक चार अङ्कों में चैतन्य की भगवत्ता का प्रतिपादन तथा उसके माध्यम से भक्ति का प्रचार हुआ है। इनमें से किसी वस्तु-तत्त्व को नियताप्ति और उसके तथा प्रकरी के योग से अवमर्श सन्धि का निर्धारण करना कठिन है तथापि इनमें से सार्वभौम के वृत्तान्त को अवमर्श सन्धि के रूप में लेने की सम्भावना हो सकती है क्योंकि गर्भ सन्धि में चैतन्य के संन्यास-ग्रहण से भक्ति-योग की स्थापना में बीज नष्ट हुआ सा प्रतीत हो रहा था परन्तु सार्वभौम के समान प्रधान वेदान्ती के भक्ति मार्ग में सन्निवेशित हो जाने से फलप्राप्ति पूर्ण रूप से निश्चित ही परिलक्षित होती है। फिर भी उचित अवमर्श के समान यह किसी फल का अलग से 'निश्चय नहीं बताती है।'

समस्त फलों की उपलब्धि को फलागम कहते हैं। कार्य वह घटना है जिसके लिये सब उपायों का प्रारम्भ किया जाये। इन दोनों का मिश्रण निर्वहण सन्धि है। नाटक के अन्त में अनायास कलि के मन्थन, भक्तियोग तथा प्रेम के विस्तार के विषय में जहाँ सूचना दी जाती है वहाँ फलागम है। भक्ति के पूर्ण परिपाक होने के अनन्तर भक्तों को वृन्दावन की आसक्ति देने का आश्वासन देना कार्य है। इन दोनों के मिश्रण युक्त दशम अङ्क के अन्तिम भाग में निर्वहण सन्धि है।

यद्यपि लक्षणों के अनुरूप सन्धि आदि का 'चैतन्यचन्द्रोदय' में विनियोजन करने का प्रयास किया गया है तब भी यह स्पष्ट है कि सन्धियों के माध्यम से नाटक का कथानक जिस प्रकार व्यवस्थित तथा नाटकोपयोगी होता है, उसका यहाँ सर्वथा अभाव है। सन्धियों से कथानक को गति नहीं मिली। अतः नाटकीय दृष्टि से वस्तु योजना समुचित नहीं है।

अर्थोपक्षेपक

नाटकीय इतिवृत्त को अभिनय की दृष्टि से दृश्य तथा सूच्य दो भागों में विभक्त कर दिया जाता है। मधुर, उदात्त तथा रस-भाव से व्याप्त विषय दृश्य तथा नीरस एवं अनुचित वस्तु सूच्य के अन्तर्गत रखे जाते हैं। दृश्य विषय तो अङ्कों में प्रदर्शित किये जाते हैं तथा

शेष को अर्थोपक्षेपक द्वारा बतलाया जाता है। अर्थोपक्षेपक विष्कम्भक, चूलिका, अङ्कास्य, अङ्कावतार तथा प्रवेशक ये पांच हैं[1]। 'चैतन्यचन्द्रोदय' में विष्कम्भक तथा प्रवेशक दो अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग हुआ है।

विष्कम्भक

विष्कम्भक में भूत अथवा भावी घटनाओं की सूचना दी जाती है। अङ्क के प्रारम्भ में संक्षिप्त रूप से विषकम्भक की योजना की जाती है। केवल मध्यम अथवा मध्यम तथा नीच पात्रों के प्रयोग से विष्कम्भक क्रमशः शुद्ध एवं संकीर्ण, दो प्रकार का कहलाता है[2]।

'चैतन्यचन्द्रोदय' में 'गया' से प्रेमावेश में लौट कर आये हुए चैतन्य का चरित वर्णित है। नाटक की वस्तु-योजना के लिये नायक के पूर्ववर्ती जीवन का परिचय देना आवश्यक था। इसके साथ ही परमेश चैतन्य के ऐश्वर्य तथा अलौकिकता की प्रतिष्ठा के लिये भी कुछ सूचनायें आवश्यक थीं। अतः नाटक की प्रस्तावना के पश्चात् प्रथम विष्कम्भक की योजना की गई है। अधर्म तथा कलि, दो प्रतीकात्मक अमूर्त पात्रों के कथोपकथन के माध्यम से ऐश्वर्यसम्पन्न चैतन्य का जन्म, शैशव, अग्रज विश्वरूप का संन्यास ग्रहण, चैतन्य का दो बार विवाह, उनका 'गया' गमन तथा प्रत्यागमन जैसे ऐतिहासिक विषयों के साथ रुद्र, सङ्कर्षण, नारद आदि के अंश रूप में अवतरित चैतन्य-पार्षदों तथा राधा-कृष्ण के मिश्रित रूप में आविर्भूत स्वयं चैतन्य की सूचना देते हुये नाटक की दार्शनिक-पृष्ठभूमि को भी स्पष्ट कर दिया गया है। भक्ति की स्थापना करने वाले चैतन्य का सबसे प्रमुख बाधक कलि तथा उसका सहायक अधर्म है। उन जैसे महत्त्वपूर्ण पात्रों का परिचय इसी विष्कम्भक के माध्म से दिया गया है। कलि तथा अधर्म चैतन्य के आविर्भाव से आतङ्कित हैं फिर भी वे उनके विरोध का निश्चय करते हैं[3]। इससे भावी घटना का सङ्केत मिलता है कि भक्ति-मार्ग का प्रचार करते समय चैतन्य को इनका विरोध सहना पड़ेगा। अन्ततः यह विष्कम्भक चैतन्य के महाभिषेक तथा स्वानन्दावेश की पृष्ठभूमि के रूप में भी कार्य करता है।

नाटक के दशम अङ्क के प्रारम्भ में द्वितीय विष्कम्भक की योजना की गई है। किसी आगन्तुक तथा अद्वैताचार्य के सेवक के मध्य हुये वार्तालाप के द्वारा यह विष्कम्भक कई महत्त्वपूर्ण सूचनायें देता है, यथा प्रथम गुण्डिचा यात्रा के अनन्तर अनेक वर्ष व्यतीत हो गये हैं। इस मध्यावधि में प्रत्येक वर्ष शिवानन्द सेन नवद्वीप से अपने संरक्षण में तीर्थयात्रियों को नीलाचल ले जाते हैं। मार्ग का सारा व्यय शिवानन्द ही वहन करते हैं। इस दीर्घकाल में घटित कुछ महत्त्वपूर्ण घटनाओं की सूचना भी मिलती है जैसे शिवानन्दसेन

[1] वही,1/56-58

[2] विश्वनाथ, साहित्यदर्पण 6/55-56

[3] नाटक, पृ० 16

तथा तीर्थ यात्री कुक्कुर का वृत्तान्त, घट्टपालाधिकारी द्वारा शिवानन्द के साथ दुर्व्यवहार तथा अन्ततः अपना दोष-प्रक्षालण, अद्वैत द्वारा श्रीनाथ को चैतन्य-दर्शन का आश्वासन आदि। इन सूचनाओं से चैतन्य की अकुण्ठित लोकप्रियता तथा भगवत्ता का बोध होता है।

'चैतन्यचन्द्रोदय' के विवेच्य दोनों ही विष्कम्भक यद्यपि अतीत की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं के घटित होने तथा भावी घटनाओं की सूचना देते हैं तथापि नाटकीय दृष्टि से इऩ दोनों को सफल विष्कम्भक नहीं कहा जा सकता है। यद्यपि नाट्याचार्यों ने विष्कम्भक की दीर्घता की सीमा निर्धारित नहीं की है। रस परिपाक, जो नाटक का मुख्य तत्त्व स्वीकारा जाता है, का परिपाक अङ्क में ही होता है तथा मुख्य पात्रों की उपस्थिति भी अङ्क में ही होती है। विष्कम्भक तथा प्रवेशक केवल कथानक में क्रमबद्धता को बनाए रखने की एक कड़ी मात्र हैं, उनमें रस परिपाक, अभिनेयता आदि के स्थान पर मात्र सूचना दी जाती है, अतः सामान्य ज्ञान कहता है कि अङ्क की तुलना में इनका आकार संक्षिप्त ही होना चाहिए। कर्णपूर के ये दोनों विष्कम्भक, विशेषकर प्रथम विष्कम्भक बहुत ही दीर्घ है। इससे आगामी अङ्क का प्रभाव म्लान हो गया है। इस दृष्टि से कर्णपूर के विष्कम्भक सफल तथा नाट्य उपयोगी नहीं कहे जा सकते हैं। कर्णपूर ने पारम्परिक भाषा प्रयोग का भी ध्यान नहीं रखा है अतः विष्कम्भक के सेवक वर्ग भी प्राकृत के स्थान पर संस्कृत का ही प्रयोग करते हैं।

प्रवेशक

प्रवेशक भी विष्कम्भक के समान भावी तथा भूत की घटनाओं की सूचना देता है। विष्कम्भक की अपेक्षा इसमें अनुदात्त उक्तियाँ होती हैं तथा नीचपात्र प्रयुक्त होते हैं। इसका विनियोजन दो अङ्कों के मध्य में हो सकता है, आदि में नहीं[1]।

'चैतन्यचन्द्रोदय' में तीन प्रवेशकों की योजना की गई है परन्तु उनके विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि लेखक ने इनमें भी शास्त्रीय नियमों की अवहेलना की है। विष्कम्भक से प्रवेशक के पार्थक्य को भी नहीं बनाये रखा है। प्रथम प्रवेशक द्वितीय तथा तृतीय अङ्क के मध्य में है। प्रेमभक्ति तथा मैत्री, इसके दो अमूर्त पात्र हैं। नाटक के मूल उद्देश्य के स्पष्टीकरण के लिये यह प्रवेशक उपादेय है क्योंकि इन दोनों के कथोपकथन से स्पष्ट हो जाता है कि मानव जीवन में आविर्भूत समस्त अभिलषणीय तथा श्रेयस्कर भावनाओं का उदय भगवदनुग्रह से होता है। भगवज्जन अर्थात् भागवतों की सत्सङ्गति के साथ भगवदनुग्रह के मिलने पर विवेक जागृत होता है। उसके साथ ही विविध प्रकार की भक्ति भी उत्पन्न होती है। समस्त भक्तियों में प्रेमभक्ति ही चरम है। विवेक से ही मति, अनसूया तथा मैत्री आदि का उदय होता है। इस प्रकार किसी पार्थिव घटना का सूचक न होने पर भी नाटककार ने चैतन्य के भक्तिमार्ग का सुन्दर

---

[1] विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, 6/57

परिचय इस प्रवेशक के द्वारा दिया है।

प्रस्तुत प्रवेशक तृतीय अङ्क में अभिनीत 'दान-विनोद' का भी पूर्ण परिचय प्रस्तुत करता है जिससे अभिनय की स्वाभाविकता बनी रहती है परन्तु पात्रों की दृष्टि से प्रवेशक की योजना अनुचित है क्योंकि प्रवेशक में नीच पात्र तथा अनुदात्त कथन हुआ करते हैं, जबकि प्रेमभक्ति को उत्तम पात्र यदि न भी मानें तो मध्यम पात्र तो मानना ही पड़ेगा। मैत्री भी मध्यम कोटि की है। भाषा भी प्रवेशक के उपयुक्त नहीं है क्योंकि प्रेमभक्ति संस्कृत ही बोलती है, मैत्री संस्कृत के साथ शिष्ट प्राकृत का प्रयोग करती है। एक तीसरा वैशिष्ट्य भी इसे प्रवेशक की कोटि से विलक्षण बनाता है। विष्कम्भक तथा प्रवेशक के पात्र सर्वदा अङ्क के प्रारम्भ में ही मञ्च से निष्क्रमण कर जाते हैं। अङ्क के साथ उनका कोई सम्बन्ध नहीं होता है। प्रस्तुत प्रवेशक इस नियम का अपवाद है। नाटकीय निर्देश के द्वारा प्रवेशक की समाप्ति के अनन्तर अङ्क के प्रारम्भ में फिर उन दोनों पात्रों की मञ्च पर उपस्थिति का निर्देश मिलता है[1] तथा पूरे अङ्क में वे दोनों केवल उपस्थित ही नहीं रहतीं वरन् अपने कथोपकथन के द्वारा अभिनय सम्बन्धित अनेक सूचनायें देती जाती हैं। प्रवेशक के पात्रों का इस प्रकार अङ्क में उपस्थित रहना अत्यन्त अद्भुत लगता है। नाटककार ने इसे विष्कम्भक न मानकर प्रवेशक ही क्यों माना यह भी स्पष्ट नहीं होता है क्योंकि पात्र, विषय तथा भाषा, सभी दृष्टियों से यह विष्कम्भक के अधिक निकट है। नाटककार इस कथोपकथन को अर्थापक्षेपक में न रख कर सीधे अङ्क में भी रख सकते थे जैसे कि उन्होंने द्वितीय अङ्क के प्रारम्भ में भक्तिदेवी तथा विराग के कथोपकथन को रखा है। विराग तथा भक्तिदेवी का संवाद प्रेमभक्ति-मैत्री संवाद से अधिक महत्त्वपूर्ण सूचनाओं को देता है। नाटककार की इस विषय में विवेचना स्पष्ट नहीं है।

नाटक का दूसरा प्रवेशक पांचवें तथा छठे अङ्क के मध्य में रत्नाकर तथा गंगा के संवाद रूप में है। गङ्गा को रत्नाकर की पत्नी के रूप में चित्रित किया गया है। इस प्रवेशक से सूचना मिलती है कि संन्यास के पश्चात् अद्वैतालय में तीन दिन रहने के पश्चात् चैतन्य माता तथा पार्षदों की अनुमति से नीलाचल-वास के लिये चले गये हैं। उनके साथ नित्यानन्द, जगदानन्द, दामोदर तथा मुकुन्द भी हैं। इतनी मात्र सूचना के अतिरिक्त शेष में यात्रा का वर्णन है। रत्नाकर संस्कृत तथा गङ्गा प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं। फिर भी पहले प्रवेशक की अपेक्षा इसमें नियमानुवर्तिता अधिक है क्योंकि किसी उदात्त घटना की सूचना के स्थान पर लम्बी यात्रा का वर्णन अधिक हुआ है।

नाटक का तृतीय प्रवेशक अष्टम एवं नवम अङ्क के मध्यवर्ती है। किन्नर-मिथुन के

---

[1] मैत्री-अणुगहीदम्हि। प्रेमभक्तिः-तदेहि। (इति निष्क्रान्ते) इति प्रवेशकः।(ततः प्रविशति गृहीतसूत्रधारभूमिको हरिदासः। कियद्दूरे उपविष्टे अलिक्षताकारे प्रेमभक्तिमैत्र्यो च।) नाटक, पृ० 48

वार्तालाप से कई महत्त्वपूर्ण सूचनायें मिलती हैं-आगामी गुण्डिचा यात्रा में चैतन्य स्वयं भाग लेंगे। चैतन्य तीन प्रकार से अर्थात् साक्षात्, पर-आवेश-मात्र तथा चिन्तन मात्र से भक्तों को अनुगृहीत करते हैं। इसमें नकुल ब्रह्मचारी तथा नृसिंह ब्रह्मचारी सम्बन्धित घटनाओं का उल्लेख हुआ है। यह सूचना भी मिलती है कि रामानन्द के अनुरोध से दो वर्ष टालते रहकर अब चैतन्य वृन्दावन जा रहे हैं। महत्त्वपूर्ण सूचनायें मिलने पर भी यह अनुचित रूप से दीर्घ है। भाषा की दृष्टि से इसमें भी संस्कृत तथा प्राकृत का प्रयोग मिलता है। तीनों प्रवेशक ही प्रचलित प्रवेशकों से भिन्न प्रतीत होते हैं।

'चैतन्यचन्द्रोदय' के अर्थोपक्षेपकों के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि नाटककार का प्रधानतया वर्ण्य विषय चैतन्य की अलौकिकता की स्थापना था अतः तत्सम्बन्धी विविध श्रेणी तथा भावना के पात्रों का चित्रण किया गया है। ऐतिहासिकता की रक्षा के साथ धार्मिक उद्देश्य को बनाये रखने के लिये इतने पात्र तथा इतनी घटनाओं का दस अङ्कों में समावेश असम्भव था। अतः उन्हें इतने दीर्घ विष्कम्भक तथा प्रवेशकों की योजना करनी पड़ी परन्तु इतनी दीर्घता तथा वर्णन बाहुल्य से मूल कथा अनेक बार विच्छिन्न सी होती हुई प्रतीत होती है। अङ्क की अपेक्षा इनके अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाने के कारण मूल अङ्क में रस का परिपाक तथा चरित्र-चित्रण म्लान हो गया है। सार रूप में ये अर्थोपक्षेपक नाटकीय-दृष्टि से प्रायः अपारम्परिक सिद्ध हुये हैं।

गर्भाङ्क-दान-विनोद

'चैतन्यचन्द्रोदय' के तृतीय अङ्क के पश्चात् 'दान-विनोद' नामक अभिनय का वर्णन हुआ है। इस अभिनय को एक बार 'अङ्क-रूप' कहा गया है[1] तो दूसरी बार 'भाण' अथवा 'व्यायोग' के नाम से भी पुकारा गया है[2]। इन तीन पारिभाषिक शब्दों का एक ही विषय के लिये प्रयोग होने से वस्तुस्थिति अस्पष्ट हो गई है। 'दान-विनोद' के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिये इन तीनों का स्वरूप जानना आवश्यक है।

अङ्क अथवा उत्सृष्टिकाङ्क रूपक का एक भेद है जिसमें ख्यात वृत्त को बुद्धि के द्वारा फैलाया जाता है। रस 'करुण' तथा पात्र 'प्राकृत' अथवा साधारण मानव होते हैं। भाण के समान मुख तथा निर्वहण, दो सन्धियाँ, भारती वृत्ति तथा एक अङ्क होता है। वाग् युद्ध तथा जयपराजय का विधान अपेक्षित होता है[3]। 'दान-विनोद' में अप्राकृत नायक-नायिका कृष्ण तथा राधा के मधुर रस-सम्बन्धित विषय का प्रतिपादन होने से उसे 'उत्सृष्टिकाङ्क' कदापि नहीं माना जा सकता है।

---

[1] मैत्री-कयेहि तं णच्चं किं अङ्करूवं किंवा पइण्णअम्। प्रेमभक्तिः - अङ्करूपमेव। वही, पृ० 45

[2] तन्मध्ये एकाङ्को भाणो व्यायोगो वा रूपकमत्र निरूपयितव्यमनेन। वही, पृ० 47

[3] धनञ्जय, दशरूपक, 3/70-71

'भाण' तथा 'व्यायोग' भी इसी प्रकार रूपक के दो अन्य भेद हैं। भाण धूर्त चरित से तो व्यायोग ख्यात एवं उद्धत नर से सम्बन्धित रूपक होते हैं[1]। इस 'दान-विनोद' अभिनय में इन दोनों रूपक के भेदों की आशङ्का भी नहीं की जा सकती है। स्पष्ट है कि कर्णपूर द्वारा निर्दिष्ट तीनों पारिभाषिक शब्दों का इस अभिनय के सम्बन्ध में निषेध हो जाता है।

श्रीकृष्ण-राधा से सम्बन्धित प्रस्तुत अभिनय में सर्वाधिक सरस लीला को प्रतिपाद्य बनाया गया है अतः इसमें रस का प्राचुर्य है[2]। उसके साथ अन्य हास्य आदि की योजना हुई है। इस अभिनय का प्रारम्भिक संविधान नाटक के समान हुआ है क्योंकि सूत्रधार की भूमिका में हरिदास माङ्गलिक पद्य के साथ नान्दी पाठ करते हैं[3]। इससे पहले पूर्वरङ्ग के अङ्गभूत 'प्रत्याहार' की योजना हुई है[4]। स्वयं नाटककार ने विश्वनाथ के 'नेपथ्ये गीयते नान्दी'[5] कहकर इस अभिनय में नान्दी की उपादेयता को स्पष्ट किया है[6]।

स्पष्ट है कि दान-विनोद का विषय, रसपेशलता, पात्र एवं प्रारम्भिक विधान सभी नाटक के समान ही हैं। एक नाटक में इस प्रकार एक अन्य नाटक की योजना संस्कृत-नाट्य साहित्य में प्रचलित है तथा ऐसी योजना को 'गर्भाङ्क' के नाम से परिचित करवाया गया है। विश्वनाथ ने गर्भाङ्क को इस प्रकार परिभाषित किया है, 'जो अङ्क के मध्य में ही प्रविष्ट हो, जिसमें रङ्गद्वार और आमुख आदि अङ्ग हों तथा जो बीज एवं फल से युक्त हो, उसे गर्भाङ्क कहते हैं[7]।' 'प्रत्याहार' आदि अङ्गों से युक्त, जिसमें नान्दी अपरिहार्य है, रङ्गद्वार या पूर्वरङ्ग कहलाता है[8]।

गर्भाङ्क की परिभाषा के विवेचित करने पर ज्ञात होता है कि यह 'दान-विनोद' अङ्क के भीतर है अर्थात् अर्थोपक्षेपक के समान नहीं है वरन् प्रवेशक के पश्चात् अंक के मध्य में ही इसका अभिनय सम्पन्न होता है। नान्दी तथा रङ्ग प्रसाद के पश्चात् सूत्रधार तथा पारिपार्श्विक के पारस्परिक कथोपकथन के द्वारा पूरी प्रस्तावना की जाती है। तदनन्तर गर्भाङ्क का इतिवृत्त प्रारम्भ होता है। वस्तुतः मूल नाटक की अपेक्षा इस अभिनय में

[1] वही, 3/49-51, 60-61

[2] यतः परमन्यत्सरसं नास्ति। नाटक, पृ० 45

[3] सूत्रधारभूमिको हरिदास.....मङ्गलं कुर्वन्नान्दीं पपाठ। वही, पृ० 47

[4] अयमारब्धः पूर्वरङ्गाङ्गभूतः प्रत्याहारः। वही, पृ० 47

[5] साहित्यदर्पण, 3/287

[6] नाटक, पृ० 47

[7] साहित्यदर्पण, 6/20

[8] वही, 6/21-22

प्रारम्भिक नाटकीय विधान का अधिक सजगता से पालन हुआ है। पहले नेपथ्य से दो पद्यों द्वारा कुशीलव नान्दीगायन करते हैं तत्पश्चात् सूत्रधार मङ्गलाचरण करता है। प्रस्तावना में अभिनय-लीला का परिचय दिया जाता है[1]। तत्पश्चात् अङ्क का प्रारम्भ होता है। यद्यपि निर्वहण सन्धि का उल्लेख किये बिना अकस्मात् मध्य में ही अभिनय को रोक दिया गया है[2], तथापि इसे उक्त युक्तियों के आधार पर 'गर्भाङ्क' के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

वस्तुतः गर्भाङ्क का प्रयोग नाटककार रस, नायक अथवा वस्तु, किसी के भी उत्कर्ष आधान के लिये किया करता है[3]। 'चैतन्यचन्द्रोदय' में राधा-कृष्ण के मिश्रित रूप श्रीचैतन्य[4] तथा उनके द्वारा राधा भाव के आस्वादन के इच्छुक[5] होने का परिचय देने के कारण यह गर्भाङ्क नायकोत्कर्षाधायक तथा साथ ही भक्ति की भावना को परिपुष्ट करता हुआ रसोत्कर्षक भी बन गया है। इस आधार पर 'दान-विनोद' अभिनय को गर्भाङ्क स्वीकार करना सम्भवतः उचित ही हो यद्यपि कविकर्णपूर ने इस शब्द का कहीं प्रयोग नहीं किया है।

अभिनेयता

नाटक की सफलता का प्रधान आधार उसकी सफल अभिनेयता अर्थात् नाटक का सफल मञ्चन है। अतः मञ्चन की दृष्टि से 'चैतन्यचन्द्रोदय' का विवेचन किया जाना अपेक्षित है।

सामान्यतः संस्कृत नाटकों में अन्वितित्रय में से स्थानान्विति तथा कालान्विति की उपेक्षा कर दी जाती है परन्तु यह उपेक्षा उस सीमा तक सह्य है जहाँ तक सहृदयों को नाटक के रसास्वादन में बाधा न पहुँचे। 'चैतन्यचन्द्रोदय' में चैतन्य की नवद्वीपलीला के प्रायः प्रारम्भ से लेकर संन्यास-ग्रहण पर्यन्त तथा तत्पश्चात् नीलाचल लीला के प्रायः अन्त तक का चित्रण है जो लगभग पचीस वर्षों में व्याप्त है। कालान्विति का दृढ़ता से पालन न होने पर भी नाट्यशास्त्र में किसी अङ्क में एक दिन की घटनाओं के समावेश का निर्देश दिया गया है[6]। दो अङ्कों के मध्य में एक मास अथवा अधिक से अधिक वर्ष भर के व्यवधान की अनुमति दी गई है[7]। सैद्धान्तिक दृष्टि से 'चैतन्यचन्द्रोदय' में दस अङ्कों में लगभग पच्चीस वर्षों का चित्रण आपत्तिजनक होने पर भी अभिनय की दृष्टि से यह अनुचित प्रतीत नहीं होता है क्योंकि नाटककार ने यथास्थान विष्कम्भक तथा प्रवेशक की योजना करके इस समय के व्यवधान को भरने का प्रयास किया है। अभिज्ञानशाकुन्तल

---

[1] नाटक, पृ० 49-51

[2] देवि, किं न्विदम्,। कुदो अअं अअम्हादो णिच्चाणन्दो। कहिं गदा सा जरदी। वही, पृ० 68

[3] शिंगभूपाल, रसार्णवसुधाकर, 3/6

[4] द्र० नाटक, पृ० 46

[5] वृन्दावनेश्वरीभावमनुचिकीर्षो....। वही, पृ० 44

[6] एकदिवसप्रवृत्तः कार्यस्त्वङ्कोऽथ....। भरत मुनि, 20/23

[7] अङ्कच्छेदं कुर्यात् मासकृतं वर्षसञ्चितं वापि। तत्सर्वं कर्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित्। वही, 20/28

तथा उत्तररामचरित के समान श्रेष्ठ नाटकों में भी समय का दीर्घ अन्तराल दृष्टिगत होता है परन्तु कर्णपूर का नाटककार के रूप में अनैपुण्य इसी में है कि उन्होंने एक अङ्क के मध्य में भी कालान्विति का पालन नहीं किया है। भरतमुनि की मान्यता से स्पष्ट है कि किसी भी एक अङ्क की घटनायें एक दिन-रात में ही सीमाबद्ध होनी चाहिएं। इससे नाटक स्वाभाविक तथा अभिनेय बना रहता है किन्तु 'चैतन्यचन्द्रोदय' के चतुर्थ अङ्क का प्रारम्भ दिन के मध्याह्न से कुछ पूर्व शची माता तथा आचार्यरत्न की पत्नी के कथोपकथन से तथा अन्त चैतन्य के साथ कथन से होता है। शची देवी मध्याह्न होने की सूचना देती हैं[1]। इसके पश्चात् निष्क्रमण के नाट्य निर्देश के साथ ही अद्वैताचार्य मञ्च पर प्रवेश करते हैं तथा सूर्यास्त की सूचना देते हैं[2]। तदन्तर ही चन्द्रोदय का उल्लेख मिलता है- 'उल्लासयन्कौमुदमुज्जिहीते चन्द्रश्च विश्वम्भरचन्द्रमाश्च'[3]। इसके पश्चात् सबके सङ्कीर्तन स्थल को चले जाने तथा गङ्गादास के मञ्च पर प्रवेश करके नेपथ्य में होने वाले नृत्य सङ्कीर्तनादि का अवलोकन करते हुए ही रात्रि के तीन प्रहर व्यतीत होने की सूचना इस प्रकार दी जाती है-'नित्यानन्दमहाशयोऽपि महतावेशेन नृत्यत्यम्।' (अम्बरमवलोक्य) अहो याममात्रावशिष्टेयं त्रियामा। इसके साथ ही गंगादास का निद्रा से अभिभूत होना, स्वप्न देखना फिर जागना, भगवान् का ध्यान करना आदि की सूचना के साथ ही 'विभाता विभावरी' के माध्यम से दूसरे दिन के प्रातःकाल का वर्णन प्रारम्भ हो जाता है[4]। बिना अङ्क परिवर्तन के ही चैतन्य के अकस्मात् अन्तर्धान से व्याकुल परिकरों के वर्णन में ही किसी नाट्यनिर्देश के अभाव में ही प्रहर प्रहर करके सम्पूर्ण दिन के व्यतीत होने की सूचना दी जाती है।[5]। पुनःचैतन्य-विरह से कातर भक्तों के विलाप करते हुये ही नेपथ्य से तीन दिन व्यतीत हो जाने का समाचार आचार्यरत्न द्वारा दिया जाता है[6]।

चतुर्थ अङ्क के इस परिचय से स्पष्ट हो जाता है कि जिस दिन मध्याह्न के कुछ पूर्व

---

[1] मज्झण्हो जादो। तुमंपि सिणाणपूजणादिक कुणह। अहंपि पाअत्थं जामि। नाटक, पृ० 72-73

[2] अहो, चरमाचलशिखरचुम्बी लम्बमानोऽयं भगवान्मरीचिमाली। वही, पृ० 73

[3] वही, पृ० 74

[4] वही, पृ० 77

[5] गतो यामो यामावहह गतवन्तौ बत गता अमी यामा हा दिनमपि गतप्रायमभवत्। वही, पृ० 79

[6] हा धिक्कष्टमहो दिनत्रयमभूद्वार्तापितैर्न श्रुता......। वही, पृ० 82

से अङ्क का प्रारम्भ हुआ है उसके पांचवें दिन-प्रातःकाल के कुछ पश्चात् तक का अर्थात् लगभग चार दिन की घटनाओं का समावेश इस एक अङ्क में हुआ है। इस प्रकार चार दिनों का मञ्च-निर्देश इस सफलता से देना जिससे दर्शक इस समय के व्यवधान को सरलता से पार कर जायें तथा उन्हें कथानुधावन एवं रसास्वादन में असुविधा न हो, सरल कार्य नहीं है। अभिनेयता की दृष्टि से यह कालान्विति का अङ्क-विशेष में उल्लंघन दोष ही है।

'चैतन्यचन्द्रोदय' का षष्ठ अङ्क भी इस दोष से युक्त है। प्रवेशक के अनन्तर चैतन्य की जगन्नाथालय के समक्ष उपस्थिति, गोपीनाथ से सम्भाषण, सार्वभौम-मिलन तथा जगन्नाथ-दर्शन के वर्णन के अनन्तर ही रात्रि के तीन प्रहरों के व्यतीत होने की सूचना मिलती है। तदनन्तर प्रातःकाल चैतन्य का जगन्नाथ दर्शन, सार्वभौम गृह-गमन तथा उसका उद्धार एवं बाद में सार्वभौम के चैतन्य के साथ शास्त्रीय-कथन आदि का वर्णन हुआ है[1]। इन सबमें ही प्रायः दो दिन की घटनाओं का समावेश हुआ है जो अभिनेयता की दृष्टि से उचित प्रतीत नहीं होता है।

स्थानान्विति के लिये आचार्यों द्वारा सुदृढ़ नियमों का निर्देश न होने पर भी सामान्यतः नाटक में, विशेषकर अङ्क के मध्य में, स्थानों का इतना अधिक परिवर्तन वाञ्छनीय नहीं होता जिससे अभिनेयता को ठेस पहुँचे। कर्णपूर ने इस नियम की भी पूर्ण अवहेलना की है। प्रथम तीन अङ्कों का स्थान-विनियोजन अभिनेयता की दृष्टि से उचित है परन्तु चौथे अङ्क में स्थानान्वय का अभाव बहुत खटकता है। चतुर्थ अङ्क का प्रारम्भिक अभिनय-स्थल चैतन्य के घर का अन्तःपुर प्रतीत होता है क्योंकि शचीदेवी गृहागता आचार्यरत्न की पत्नी के साथ सम्भाषणरता चित्रित की गई हैं। उनके निष्क्रमण के पश्चात् जो अद्वैत का चित्रण हुआ है उसमें स्पष्ट निर्देश मिलता है कि वह अद्वैताचार्य के घर का ही दृश्य है इसके पश्चात् अपने घर से श्रीवास के घर के मार्ग का निर्देश मात्र दिया गया है। इसी के साथ श्रीवास के घर का चित्रण है जहाँ श्रीवासादि के साथ चैतन्य को आसीन दिखलाया गया है[2]। इन सबके मञ्च से निष्क्रमण के पश्चात् गङ्गादास को नवद्वीप के मार्ग में घूमते हुये चित्रित किया गया है[3]। इसके बाद का चित्रण श्रीवास के घर के सम्मुख के भाग का है

---

[1] वही, पृ० 107-123

[2] वही, पृ० 74

[3] अहो अद्वैतदेव शान्तिपुरतः समागतोऽस्तीति श्रुतमस्ति। न जाने किं भगवद्विश्वम्भरस्यालये समुत्तीर्णः श्रीवासालये वा। तदस्य तत्त्वमवधारयामि। वही, पृ० 75

जहाँ से गङ्गादास श्रीवास के प्राङ्गण के सङ्कीर्तन का आनन्दोपभोग करते हैं[1]। श्रीचैतन्य के अन्तर्धान के पश्चात् भक्तों के विलाप आदि का समस्त चित्रण नवद्वीप के मार्गों का है।

पञ्चम अङ्क में तो स्थानान्वय का अत्यधिक उल्लङ्घन हुआ है। अङ्क के प्रारम्भ में चैतन्य को प्रेमावेश में मार्ग में विचरण करता हुआ चित्रित किया गया है जहाँ गोपबालकों के साथ उनका कथनादि होता है। इसके पश्चात् शान्तिपुर की ओर के मार्ग का निर्देश, मार्ग में गङ्गा नदी का उल्लेख तथा उसमें स्नानादि का वर्णन, नौका द्वारा गङ्गा को पार करने आदि इन प्राकृतिक स्थानों के वर्णन के साथ अद्वैतालय के बहिर्मार्ग तथा घर के मध्य भाग, सभी का चित्रण हुआ है। इसी प्रकार छठे अङ्क का अभिनयक्षेत्र भी जगन्नाथ मन्दिर के सम्मुख से लेकर सार्वभौम की अध्यापन-स्थली, मन्दिर का मध्यभाग, चैतन्य का आवास-स्थल, पुनः देवमन्दिर का अन्दर का भाग, देवमन्दिर से सार्वभौम-निवास का मार्ग, सार्वभौम के घर का द्वितीय कक्ष तथा पुनः श्रीचैतन्य का आवास अर्थात् सार्वभौम की मातृष्वसा का निवास स्थान सभी हैं। अन्य अङ्कों में भी इसी प्रकार स्थानान्विति का अभाव दृष्टिगोचर होता है।

संस्कृत नाटक दृश्यों में विभक्त नहीं होते हैं। अतः किसी एक अङ्क में इतने विविध स्थलों को मञ्च पर प्रदर्शित करना असम्भव नहीं तो कठिन अवश्य है। पृष्ठभूमि के अभाव में स्थान का निर्देश-मात्र कर देने से नाटक के लिये उपयुक्त वातावरण नहीं बन सकता है। इससे नाटक की स्वाभाविकता कुण्ठित हो जाती है। कर्णपूर ने नाटक के इस अभिनेय-पक्ष को यथोचित गौरव प्रदान नहीं किया है।

संस्कृत नाटकों में कार्यान्विति को पूर्ण महत्त्व दिया जाता है। किसी अङ्क में अनेकों कार्यों का एक साथ समावेश निषिद्ध है तथा आवश्यक कार्य के अविरोध का भी स्पष्ट निर्देश मिलता है[2]। अङ्क के कार्य एकरसता लिये हुये हों अर्थात् समस्त घटनाओं के उद्देश्य तथा प्रयोजन का एक होना उचित है। इस दृष्टि से 'चैतन्यचन्द्रोदय' में कार्यान्विति है क्योंकि नाटक की प्रत्येक घटना, चाहे वह अभिनीत हुई हो अथवा उसकी सूचना मात्र दी गई हो, का उद्देश्य चैतन्य की अलौकिकता तथा भगवत्ता की स्थापना है जिससे परमेश की भक्ति के प्रचार का प्रयोजन सिद्ध हो सके। केवल घटनाओं का लक्ष्य एक होने से ही नाटक में सर्वत्र कार्यान्विति का निर्वाह होना सम्भव नहीं है क्योंकि नाटककार ने इतनी अधिक घटनाओं का समूह उपस्थित कर दिया है कि उनका अभिनय सम्भव नहीं है। अनेकधा उनकी केवल मात्र सूचना दे दी गई है। विस्तृत विष्कम्भक तथा प्रवेशकों में तो ऐसी घटनाओं का उल्लेख हुआ ही है, अङ्क भी इस दोष से बच नहीं पाये हैं। उदाहरणस्वरूप प्रथम अङ्क में श्रीवास के प्रारम्भिक जीवन की कथा। इसी दोष को ध्यान में रख एस.के.दे

---

[1] वही, पृ० 75

[2] भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, 20/24

का मानना है कि 'चैतन्यचन्द्रोदय' कहीं-कहीं पर इतना अधिक अनभिनेय हो गया है कि उसे नाटक न कहकर नाटकीयता के आवरण में कहानी कहना भी सम्भवतः अत्युक्ति न होगी[1]।

नाटक की अभिनेयता को बनाये रखने के लिये नाटकीय-निर्देशों की आवश्यकता होती है। कर्णपूर यद्यपि यत्र तत्र ऐसे नाटकीय निर्देश देना नहीं भूलते हैं तथापि वे निर्देश प्रायः या तो अपर्याप्त होते हैं अथवा अभिनय की दृष्टि से अनुपयोगी। स्वानन्दावेश में निमग्न भगवान् का 'स्मारितभक्तावेशस्तत्रैव कृतप्रवेशः प्रकृतिमास्थाय[2] आदि निर्देश अभिनेयता की दृष्टि से कथमपि पर्याप्त नहीं हैं। इसी प्रकार अद्वैत को षड्रूप दिखलाने के प्रसङ्ग में नाटककार द्वारा दिये गये निर्देश यथा 'इति तदन्तःकरणे स्वरूपमाविर्भावयति[3] सर्वथा अनभिनेय है। नाटक के पाठ के समय इनकी कुछ सार्थकता होने पर भी अभिनयकाल में तो ये सर्वथा व्यर्थ ही हैं। कुछ अन्य स्थानों पर दिये हुये निर्देश भी अभिनय की दृष्टि से व्यर्थ हैं। यथा-दामोदर के सम्बन्ध में यह कथन (दामोदराः विना वारीम् (6/31) इत्यादि पठित्वा सर्वमेव कथयति)[4] सर्वथा अनाटकीय है क्योंकि यहाँ नाटक के मञ्चन काल में नाटककार नाटक के निर्देशक से ही बहुत कुछ अपेक्षा करते हैं। ऐसे निर्देशों से नाटक अनेक स्थलों पर अनभिनेय बन गया है।

नाटक का चैतन्य तथा रामानन्द का संवाद भी अनभिनेय है। चैतन्य के साथ रामानन्दराय का साक्षात्कार तथा कथोपकथन दक्षिण-यात्रा के अवसर पर हुआ था। कर्णपूर ने इस प्रसङ्ग को नाटक में प्रत्यक्ष न दिखलाकर चैतन्य के साथ गोदावरी पर्यन्त जाने वाले एक ब्राह्मण के मुख से उसका वर्णन राजा प्रतापरुद्र, सार्वभौमादि के समक्ष करवाया है। विप्र सूचना देते हुये कहता है '.....भगवद्विषयकज्ञानविशेषानभिज्ञस्तथापि... निःसाध्वस एव किमपि पठितुमुपचक्रमे। मनो यदि न निर्जितम् इत्यादि।' यहाँ तक तो विप्र का कथन नाटकीय दृष्टि से उचित था परन्तु इस पद्य का उत्तर स्वयं भगवान् ने दिया। यथा-

भगवान् - बाह्यमेतत्। का विद्या। [5]

और इसके साथ ही दोनों का संवाद होता हुआ चित्रित किया गया है। नाटककार ने तो इस संवाद को पूर्ण स्वाभाविक तथा नाटकीय बनाने के लिये बीच-बीच में अनेक नाटकीय निर्देशों यथा रामानन्दः- (चरणौ धृत्वा) अथवा (इति चिरं चरणकमलं

---

[1] VFM., पृ० 576

[2] नाटक, पृ० 23

[3] वही, पृ० 38

[4] वही, पृ० 119

[5] वही, पृ० 128

धृत्वारुदन्नासीत्। मध्ये मध्ये किञ्चिद्गदति)।[1] की भी योजना की है। जो पात्र मञ्च पर उपस्थित नहीं हैं उनका इस प्रकार का वर्णन पूर्णतया अस्वाभाविक एवं अनभिनेय है। या तो आधुनिक रङ्गमञ्च के समान तत्कालीन रङ्गमञ्च को भी इतना उन्नत मानना पड़ेगा जिसमें विगत को भी वर्तमान के समान मञ्चस्थ करने की व्यवस्था (Flashback technique) रही होगी अन्यथा इसे भी नाटककार द्वारा प्रयुक्त एक अनभिनेय प्रसङ्ग के रूप में ग्रहण करना पड़ेगा।

अत्यधिक संख्या अर्थात् लगभग अस्सी पात्रों का नाटक में समावेश उसके अनभिनेय होने का एक और कारण है। इतने अधिक पात्रों के व्यक्तिगत अस्तित्व को अलग-अलग रूप में उद्भासित करना वस्तुतः असम्भव है।

नाटक में दीर्घकाल की अवधि का चित्रण जहाँ दोषपूर्ण होता है वहीं घटनाओं के घटित होने में उचित समय का न दिया जाना भी अनभिनेय है। नवम अङ्क में राजा के सार्वभौम के साथ चैतन्य के तीर्थयात्रा पर जाने का उल्लेख करने के मध्य में ही चैतन्य के साथ भद्रकपर्यन्त जाने वाले रामानन्द राय का प्रत्यागमन हो जाता है। रामानन्द अभी अपना वक्तव्य पूरा भी नहीं कर पाते हैं कि कुलिया नामक ग्राम तक चैतन्य के साथ जाने वाले विप्र मञ्च पर जा पहुँचते हैं। वे चैतन्य के साथ हुये अनुभवों का जब तक वर्णन समाप्त भी नहीं कर पाते हैं कि तभी स्वयं श्रीचैतन्य के वनमार्ग से मथुरा पहुँचने की सूचना आ पहुँचती है। इस सूचना के साथ ही महाप्रभु के सहचर कतिपय जङ्घाजीवी उनका समाचार लेकर आ जाते हैं। अभी वे व्यक्ति चैतन्य के वृन्दावन के स्वल्प-काल वास का विवरण सुनाकर समाप्त ही कर पाते हैं कि स्वयं श्रीचैतन्य के आने की सूचना मिलती है तथा अव्यवहित रूप से चैतन्य ही मञ्च पर उपस्थित हो जाते हैं। इतनी अधिक घटनाओं का इतनी शीघ्रता से घटित होना नाटक को अस्वाभाविक तथा अनभिनेय बनाने में अलम् है।

संवाद

नाटक की अभिनेयता बहुत अंशों में नाटकोपयोगी संवादों पर भी निर्भर करती है। नाटक के संवाद बहुत दीर्घ नहीं होने चाहिएं। सहज तथा सरल भाषा में निबद्ध संवाद सर्वसंवेद्य होकर ही नाटक की अभिनेयता को गति देते हैं।

'चैतन्यचन्द्रोदय' में घटनाओं के बाहुल्य के कारण प्रवेशक तथा विष्कम्भक के माध्यम से अनेक घटनाओं की सूचना दी गई है। कर्णपूर की शैली यह है कि ऐसी अवस्था में वह एक व्यक्ति को वक्ता के रूप में खड़ा कर देता है, दूसरे व्यक्ति श्रोता मात्र बने रहते हैं। इससे घटना की सूचना तो मिल जाती है परन्तु अभिनेयता समाप्त हो जाती है। नवम अङ्क के दीर्घ प्रवेशक में पुरुष दस-दस पंक्तियों में अपना वक्तव्य स्पष्ट करता

[1] वही, पृ० 131

है जबकि श्रोता स्त्री 'तदो तदो' के अतिरिक्त एकाध ही अन्य शब्द का उच्चारण कर पाती है। ऐसी कथावाचन-शैली के संवाद अभिनेयता को समाप्त कर देते हैं।

प्रधान अङ्कों में भी एक पक्षीय संवादों का बाहुल्य मिलता है यथा प्रथम अङ्क का श्रीवास-कथन, चतुर्थ अङ्क का अद्वैत-कथन तथा गङ्गादास का कीर्तन-वर्णन ऐसे ही कतिपय प्रसङ्ग हैं। दार्शनिक मान्यताओं के दीर्घ विवेचन के प्रसङ्गों में भी अभिनेयता क्षतिग्रस्त हो गई है। प्रथम तथा षष्ठ अङ्क के ऐसे प्रसङ्ग शास्त्रीय प्रवचन अधिक हैं, नाटकीय संवाद कम। इसी प्रकार दीर्घ वर्णनात्मक प्रसङ्ग यथा वृन्दावन-वर्णन, कीर्तन की सूक्ष्मताओं के विवेचन आदि प्रसङ्गों में संवाद नाटकोपयोगी न रहकर काव्य के अंश बन गये हैं।

'चैतन्यचन्द्रोदय' के अधिकांश संवाद ऊपर वर्णित दोषों से दूषित हैं पर कतिपय ऐसे भी स्थल हैं जहाँ संवादों में नाटकीयता को बनाये रखने का पूरा प्रयास किया गया है। नाटक के तृतीय अङ्क में अभिनीत 'दान-विनोद' संवाद की दृष्टि से पूर्ण सफल है। इसमें वाक्य छोटे-छोटे अतः रुचिकर तथा स्वाभाविक हैं। स्वाभाविकरूपेण ये अभिनेय हैं। इनमें से एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

सख्यः - महाआलो गोवीसरो।

कुसुमासवः-अअं महाआलो किं ण होदि। जस्स रुई पडलेहि सत्वं ज्जेव वणं तमालवणं किदम्।

सख्यः - चन्दअसेहरो ज्जेव अच्चिदव्वो।

कुसुमासवः - पेक्ख पेक्ख। एसो चन्दअसेहरो ण होई। (इति बर्हावतंसं दर्शयति।)[1]

तृतीय अङ्क के अतिरिक्त चतुर्थ अङ्क के शची तथा आचार्यरत्न-पत्नी के मध्य हुआ संवाद भी नाटकोपयोगी है। वाक्य छोटे, सरल, पात्र-अनुकूल अतः अभिनेय हैं।

उदाहरणतया-

शची - कम्पेदि मे हिअअं सण्णासीणाममेतेण।

भगिनी - जुत्तं णोदम्।

शची - ता जाणेहि। कुदो सो मह हिअआणन्दणोचन्दणद्दुमो।

भगिनी - (पुरोऽवलोक्य) देवी, पेक्ख पेक्ख।

अअं दे पुण्णिमाचन्दो विअ पुव्वदिसाए उग्गच्छदि णन्दणो[2]।

परन्तु नाटक में इस प्रकार के स्वाभाविक तथा सफल संवाद अत्यल्प हैं। नायक का मञ्च पर स्वल्पतम समय के लिये आगमन होने के कारण अधिकतर उसके विषय में सूचनायें ही वितरित की गई हैं। इन अनाटकीय संवादों से अनभिनेयता दोष का उत्पन्न

---

[1] वही, पृ० 64-65

[2] वही, पृ० 70

होना स्वाभाविक है।

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट होता है कि 'चैतन्यचन्द्रोदय' में अधिकांशतः संवाद अभिनेयता को आघात पहुँचाते हैं। पहले विवेचित कारणों से भी नाटक अधिकांशतः अनभिनेय है। यह अनभिनेयता नाटक की असफलता का प्रधान कारण हुआ करती है।

कथावस्तु के इस विस्तृत विवेचन में तीन मुख्य दृष्टिकोणों से वस्तु का अध्ययन किया गया है-मूल स्रोत तथा उससे साम्य-वैषम्य, कथानक की ऐतिहासिकता तथा नाटकीय तत्त्व की दृष्टि से समीक्षा। कथानक तथा उसके मूल स्रोत के विवेचन से स्पष्ट है कि मुरारि की 'कड़चा' को अपना आधार बनाकर भी नाटककार ने आवश्यकतानुसार वस्तु में परिवर्तन तथा परिवर्धन कर लिये हैं। नाटकीयता की दृष्टि से ये परिवर्तन सर्वदा तथा सर्वत्र लाभदायक न होने पर भी कवि कर्णपूर के प्रधान लक्ष्य 'चैतन्य की अलौकिकता तथा भगवत्ता की स्थापना करने' में पूर्ण सहायक सिद्ध हुये हैं।

कथावस्तु में परिवर्तन करने पर भी नाटककार ने ऐतिहासिकता का हनन नहीं किया है। मुरारि के अतिरिक्त जिन अन्य स्रोतों की उसने सहायता ली है, वे विश्वास योग्य रहे होंगे। परिणामतः पश्चाद्वर्ती लेखकों ने कर्णपूर द्वारा वर्णित अधिकतर घटनाओं का समर्थन किया है। ऐतिहासिकता की दृष्टि से भी कर्णपूर का वस्तु-विवेचन सफल है।

'चैतन्यचन्द्रोदय' की अधिकतर घटनायें चैतन्य के भक्तों से सम्बन्धित हैं। वे नायक की अलौकिकता की स्थापना में सहायक अवश्य हैं परन्तु उनमें गत्यात्मकता का पूर्ण अभाव है। नकुल ब्रह्मचारी तथा नृसिंह ब्रह्मचारी आदि की प्रासङ्गिक कथाओं में ही इतना उलझना पड़ता है कि नायक के जीवन की प्रमुख घटनाओं का पूर्वापर सम्बन्ध जोड़ना ही कठिन हो जाता है, आगामी घटनाओं के लिये जिज्ञासा भी नहीं बनी रहती है। 'सार्वभौम के परामर्श से गजपति ने गोपनीय रूप से चैतन्य की शरण ली' इस परामर्श को दर्शकों से गोपनीय रखा जाता तो भावी घटना के प्रति जिज्ञासा बनी रहती पर नाटककार ऐसे विषयों पर अपना ध्यान केन्द्रित नहीं करते हैं। कथानक अनेक घटनाओं का सूचक होने के कारण उलझा तथा शिथिल हो गया है। एक घटना आगामी घटना से अनुस्यूत नहीं है। इन त्रुटियों के कारण तत्त्व की दृष्टि से वस्तु-विनियोजन अच्छा नहीं बना है।

अन्ततः यही कहा जा सकता है कि वस्तुयोजना नाटककार की सफलता तथा असफलता का मिश्रित रूप है।

चतुर्थ परिच्छेद

चैतन्य चन्द्रोदय – चरित्र चित्रण

नायक विमर्श

चैतन्य – विलक्षण नायक

गौड़ीय वैष्णव साहित्य और चैतन्यचन्द्रोय में चैतन्य

ऐतिहासिक पात्र

अद्वैताचार्य

श्रीवास

नित्यानन्द

सार्वभौम भट्टाचार्य

गोपीनाथाचार्य

रामानन्दराय

गजपति प्रतापरुद्र

शची माता

पौराणिक पात्र

प्रतीकात्मक पात्र

चतुर्थ परिच्छेद
चैतन्यचन्द्रोदय चरित्र-चित्रण

नायक-विमर्श

बीज, बिन्दु आदि से युक्त नाटक के कथ्य विषय को जो अन्त तक ले जाता है वह नायक होता है। वह धर्म, काम तथा अर्थ रूपी फल का भागी होता है[1]। नायक कथा में व्याप्त रहता है[2]। इस आधार पर 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक के नायक श्रीचैतन्य हैं क्योंकि नाटक का कथ्य भाग उन्हीं के द्वारा अन्त तक पहुंचाया जाता है। समस्त नाटक की कथा में वे व्याप्त हैं। भक्तियोग की स्थापना रूप कार्य की सिद्धि तथा भक्तों का साहचर्य उन्हें प्राप्त होता है।

दिव्यादिव्य नायक तथा श्रीचैतन्य

गुणों की दृष्टि से नायक के भेद स्पष्ट करने से पूर्व लोक की दृष्टि से उसका विभाजन करना उचित है। लोक के अनुसार - नायक के तीन भेद किये गये हैं- अदिव्य राजर्षि दुष्यन्त आदि, दिव्य श्रीकृष्णादि तथा दिव्यादिव्य अर्थात् दिव्य होने पर भी मानव के समान आचरण वाले राम आदि[3]। झलकीकर वामन ने दिव्य नायक को स्पष्ट करते हुये बतलाया है कि द्युलोक अर्थात् स्वर्ग में उत्पन्न तथा रहने वाले देवता इन्द्रादि दिव्य नायक हैं। अपने मत के स्पष्टीकरण के लिये उन्होंने प्रदीपकार की उक्ति उद्धृत करते हुये कहा है कि दिव्यत्व से अभिप्राय अमर्त्य से एकरूप है अतः पातालादि में रहने वालों को भी ग्रहण किया जा सकता है। महेश्वरादि दिव्य नायक हैं। अदिव्य से अभिप्राय मर्त्यवासी होना है यथा माधवादि। दिव्यादिव्य उभय रूप के नायक कृष्ण आदि हैं[4]। यहाँ इस विस्तृत आलोचना का लक्ष्य इन तीनों प्रकार के नायकों में से चैतन्य की कोटि को निर्धारित करना

---

[1] सागरनन्दी, नाटकलक्षणरत्नकोश, पृ० 27

[2] भोजराज, सरस्वती कण्ठभरण, 5/103

[3] विश्वनाथ, साहित्यदर्पण पृ० 171

[4] दिव्याः-दिवि स्वर्गे भवाः विद्यमानाः दिव्याः दैवतेकरूपाः इन्द्रादयः । अत्राहुः प्रदीपकाराः अत्र दिव्यत्वममर्त्यैक रूपत्वम् । अतो न पातालीयाद्यसंग्रहः । उदाहरणं श्रीमन्महेश्वरादिः । अदिव्यत्वं मर्त्यैकरूपता यथा माधवादेः । दिव्यादिव्यत्वमुभयरूपता यथा श्रीकृष्णादेः इति । काव्यप्रकाश टीका, पृ० 442

है। चैतन्य को एक ओर विष्णु, शिव और ब्रह्मा मानकर उन्हें सर्वदेवमय स्वीकार किया गया है[1]। वहीं उनका भक्त रूप में अवतार ग्रहण करने का भी उल्लेख हुआ है[2]। मूलतः गोलोकवासी होने पर[3] भी चैतन्य रूप में वे मर्त्यलोकवासी हैं तथा नरलीला करते हैं अतः उन्हें दिव्यादिव्य नायक मानना उचित है।

नायक श्रीचैतन्य

नाट्याचार्यों के अनुसार नाटक का नायक धीरोदात्त होना चाहिये जो अभिलषणीय गुणों से युक्त, प्रतापवान्, कीर्ति की कामना करने वाला, महान् उत्साही, वेदों का रक्षक तथा प्रसिद्ध वंश का राजर्षि हुआ करता है[4]। इस दृष्टि से चैतन्य धीरोदात्त नायक नहीं हैं क्योंकि वे ब्राह्मण पुरन्दर मिश्र के पुत्र हैं[5]। निरन्तर हरिसङ्कीर्तन में लीन वे प्रतापी तथा कीर्तिकामी नहीं हैं विपरीत इसके वे सर्वस्व त्याग पर बल देते हैं[6]। प्रेमानन्द में निमग्न रहने के कारण उनमें उत्साह नहीं है।

धनिक के अनुसार उदात्तता सर्वोत्कृष्ट वृत्ति है जो विजिगीषुता की भावना में रहती है। शौर्य, त्याग, दया, आर्जव आदि गुणों से दूसरे को जीत लेना विजिगीषुता है[7]। इस दृष्टि से चैतन्य को भी उदात्त नायक माना जा सकता है क्योंकि जगन्नाथ-माधवादि-उद्धार तथा भक्तों को शाश्वत पार्षद पद दान करते हुए वे अन्य सभी से बढ़-चढ़ कर हैं। उनमें विजिगीषुता का अभाव नहीं है परन्तु धनिक के अनुसार ऐसा विजिगीषु धर्म, अर्थ अथवा काम, किसी फल का उपभोक्ता अवश्यमेव होता है जबकि चैतन्य ऐसे किसी फल के अधिकारी नहीं हैं अतः उन्हें धीरोदात्त नायक कथमपि नहीं माना जा सकता है।

श्रीरूप ने श्रीकृष्ण के नायक होने पर धीरललित को भी नाटक का नायक स्वीकार किया है[8]। वैराग्य शिक्षा को प्रकट करने के लिये पत्नी तक का त्याग करने वाले चैतन्य[9] सैद्धान्तिक दृष्टि से कृष्ण से अभिन्न होने पर भी लालित्य के अभाव में धीर-ललित नायक नहीं माने जा सकते हैं।

---

[1] हरिस्त्वं हरस्त्वं विरञ्चिस्त्वमेव....। नाटक, पृ० 34

[2] भअवदा अवदारो किदो भत्तवेसेण । वही, पृ० 28

[3] गोलोकादवतारितोऽस्मि..... । वही, पृ० 17

[4] द्र० धनञ्जय, दशरूपक, 3/22-23

[5] नवद्वीपे जगन्नाथनाम्नो मिश्रपुरंदराज्जातः । नाटक, पृ० 7

[6] विना सर्वत्यागं भवति भजनं न ह्यसुपतेः। वही, पृ० 96

[7] धनञ्जय, दशरूपक, (वृत्ति), पृ० 37-38

[8] धीरेणाढ्यमुदात्तेन कृष्णश्चेल्ललितेन च। नाटकचन्द्रिका, 3

[9] वैराग्यशिक्षां प्रकटीकरिष्यन्हास्यत्यथैनां स नवां नवीनः। नाटक, पृ० 9

धीरशान्त नायक में सामान्य नायक के गुणों के साथ उसका ब्राह्मणादि होना आवश्यक हुआ करता है[1] । आदि से तात्पर्य है कि वह वणिक् तथा सचिव भी हो सकता है। नायक के सामान्य गुणों की तालिका में विनम्र, मधुर, त्याग करने वाला, दक्ष, मीठा बोलने वाला, लोगों को आनन्दित करने वाला, पवित्र, वक्ता, उच्च वंश में उत्पन्न, स्थिर, युवक, बुद्धि, उत्साह, स्मृति, प्रज्ञा, कला तथा मान सम्पन्न, शूर, दृढ़, तेजस्वी, शास्त्रज्ञ तथा धार्मिक होना समाविष्ट है[2] । यद्यपि इन सामान्य गुणों की चारों प्रकार के नायकों में स्थिति मानी गई है किन्तु धीरप्रशान्त नायक के अन्य गुणों का अलग से कथन न होने के कारण इन्हीं गुणों को विशेष रूप से बतलाया गया है। चैतन्य महाप्रभु में धीरप्रशान्त नायक की विशेषतायें अन्वेषणीय हैं।

धीरप्रशान्त नायक के अनुरूप चैतन्य जाति से ब्राह्मण हैं[3] । विनम्रता का चैतन्यदेव में प्राचुर्य है इसका उल्लेख नाटक में अनेक बार हुआ है। संन्यासी चैतन्य की रूप माधुरी के परिचायक रूप में एक उदाहरण पर्याप्त है 'रक्त (गैरिक) वस्त्र धारण करने वाले स्वर्णकान्ति चैतन्य पके तथा रस से भरे हुये पीले तथा लाल रंग के वैराग्य रूपी आम की शोभा को ही धारण कर रहे हैं'[4] ।

त्याग की तो चैतन्य प्रतिमूर्ति हैं। इसी प्रकार दक्षता, मधुर-भाषण, योग्यता आदि गुणों का भी उनमें आधिक्य है। रक्तलोक तो उनका प्रधान गुण है। सम्पूर्ण नाटक में ही उनकी इस विशेषता की अभिव्यंक्ति हुई है। उनके प्रति प्रेम ही था जो प्रतिवर्ष नाना दिशाओं से लोग उनके दर्शन की आकांक्षा से नीलाचल जाते थे। संन्यास के पश्चात् अद्वैतालय पहुँचने पर जन समुदाय लाखों की संख्या में अद्वैताचार्य के निवास पर उपस्थित हो गया[5] । ये सब उनके रक्तलोक होने का परिचायक है। शुचि से अभिप्राय मन की निर्मलता तथा कामादि से अपराभूत होना है। चैतन्य का षड्रिपुनाशक होना अधर्म तथा कलि के कथोपकथन से स्पष्ट हो जाता है[6] ।

नायक का वाग्मी होना एक अन्य गुण है। 'चैतन्यचन्द्रोदय' में चैतन्य को प्रायः भावावेश में दर्शाया गया है। यूं भी उनके वक्तव्य नाटक में कम ही हैं। फिर भी जहाँ भी

---

1 सामान्यगुणयुक्तस्तु धीरशान्तो द्विजादिकः। धनञ्जय दशरूपक, 2/4

2 वही, 2/1-2

3 नायं केवलो भूदेवबालः अपितु बालदेवदेवः । नाटक, पृ० 7

4 रक्ताम्बरं कनकपीतमिदं तदेव देवस्य पश्यत वपुः सदृशीकरोति ।
गौरारुणस्य परिपक्वमहारसस्य वैराग्यसारसहकारफलस्य लक्ष्मीम् ।। वही, पृ० 92

5 तदिहत्या एवैते सपद्येव परःसहस्रा बभूवुः। कियता विलम्बेन भविष्यन्ति।
वही, पृ० 94

6 वही, पृ० 9-12

उनका कथन हुआ है उससे चैतन्य की वाक्कुशलता का पता चलता है। श्रीवास को श्लिष्ट उत्तरों से चुप करवा देना अथवा अद्वैत को उत्तर-प्रत्युत्तर से बाधित कर देना उनकी वाक्पटुता का परिचायक है[1]।

चैतन्य में स्थिरता उनके चारित्रिक विश्लेषण से स्पष्टतः परिलक्षित होती है। यथा-राजा प्रतापरुद्र पर कृपा कटाक्ष करने के लिये चैतन्य से सार्वभौम के बारम्बार अनुरोध करने पर चैतन्य अत्यन्त दृढ़ता से कहते हैं कि यदि उन्होंने पुनः वैसा अनुरोध किया तो चैतन्य वहाँ पर दृष्टिगोचर नहीं होंगे[2]।

बुद्धि, उत्साह, स्मृति आदि सामान्य रूप से चैतन्य में उपलब्ध हैं। तेजस्विता आत्मिक गुण है अतः शान्तता से इसका कोई विरोध नहीं है। उनके बाह्यतः आनन्दमग्न होने पर भी यह तेज दीप्त था[3]। इसी प्रकार अन्य गुण भी उनमें सुलभ हैं।

चैतन्य-विलक्षण नायक

इस समस्त विवेचन से ज्ञात होता है कि चैतन्य महाप्रभु धीरप्रशान्त कोटि के नायक हैं परन्तु यहाँ यह भी स्पष्ट करना उचित है कि नाट्याचार्यों ने जिस प्रकार 'मालती माधव' के माधवादि को उनकी ब्राह्मण जाति तथा तज्जन्य शान्तता के कारण धीरप्रशान्त कोटि का नायक माना है, उससे चैतन्य में पर्याप्त भिन्नता है क्योंकि माधव आदि सांसारिक फल मालती आदि की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील हैं जबकि चैतन्य मोक्ष तक की अवहेलना करते हैं। वे स्वयं भगवान् हैं। भक्तों की वासना के अनुसार नाना लीला रचते हैं। 'दान-केलि-कौमुदी' उसी प्रकार की एक लीला है। अतः ऐसे लोकोत्तर नायक को, जिसे नाटककार ने नरलीला में अवतरित करके सैद्धान्तिक रूप से दिव्यादिव्य की कोटि में रख दिया है, वस्तुतः किसी एक नायक के श्रेणी विभाग के अन्तर्भुक्त नहीं कर सकते हैं। यहाँ उनके गुण के साम्य के कारण ही उन्हें धीरप्रशान्त कहा जा सकता है परन्तु ये संस्कृत नाट्य-साहित्य से उद्धृत अन्य धीरप्रशान्त नायकों से सर्वथा विलक्षण हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है।

नाटक में चरित्र-चित्रण अत्यधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। काव्य की भांति यहाँ लेखक स्वयं उसे स्पष्ट नहीं करता है वरन् घटनाओं के साथ पात्रों के मानसिक द्वन्द्व के माध्यम से पात्रों का चारित्रिक स्फुरण होता है। 'चैतन्यचन्द्रोदय' में घटनायें कम घटित होती हैं, प्रायः उनकी केवल सूचनायें मिलती हैं। इसके साथ ही अलौकिकता का पूरा समावेश होने के कारण पात्रों के जीवन में उत्थान-पतन तथा तज्जन्य मानसिक द्वन्द्व का अवसर प्रायः आया ही नहीं है। अतः केवल दीर्घ घटनाओं की तालिका से पात्रों के जीवन के कुछ

---

[1] वही, पृ० 41, 95-96

[2] यद्येवं पुनरुच्यते तदात्र न पुनरहं द्रष्टव्यः। वही, पृ० 146

[3] न भाषते नेक्षते न च शृणोति च किञ्चन। स्वानन्दस्तिमितः किन्तु तेजसा परमेधते। वही, पृ० 15

पक्ष प्रकाश में आये हैं। उन्हीं के द्वारा पात्रों का चरित्र-चित्रित हुआ है। इनमें प्रधान पात्र चैतन्य हैं।

नाटककार का लक्ष्य 'चैतन्यचन्द्रोदय' के नायक चैतन्य के अलौकिक जीवन चरित को नाटक के माध्यम से लोकविश्रुत करना था। नायिका के अभाव में प्रस्तुत नाटक पूर्णतः नायक प्रधान है। लेखक की पूरी सजगता नायक के चरित्र को चित्रित करने में लगी रही है।

नाटककार ने नायक के जीवन को दो रूपों में चित्रित किया है-भगवान् तथा भक्त। चैतन्य श्रीकृष्ण से अभिन्न हैं जो स्वयं परम तत्त्व, परमात्मा अथवा भगवान् हैं। इस परमेश की भगवत्ता की स्थापना के लिये नाटककार नाटक के आदि से अन्त तक प्रयत्नशील रहता है। इसलिये उसे अनेकों अलौकिक गुणों तथा घटनाओं का सन्निवेश नाटक में करना पड़ा है।

भगवान् का सबसे प्रधान चिह्न समस्त लोगों के अन्तःकरण को आकर्षित करना है। यह आकर्षणक्षमता उनके आनन्दमय होने से आती है[1]। यह आनन्द ही चैतन्य भगवान् का रूप है अतः उनके सम्पर्क में आने वाला मुसलमान दर्जी भी आनन्द विभोर हो जाता है[2]। ऐसे परमेश 'करुणापारावार' भी हैं अतः समय-समय पर भक्तों का उद्धार करते हैं। चैतन्य द्वारा श्रीवास, मुरारि, मुकुन्द, जगदानन्द, माधव से सार्वभौम तथा गजपति प्रतापरुद्र तक अनेकों भक्तों का उद्धार करना चैतन्य का कार्य था। भगवान्-रूप में उनके आविर्भाव का लक्ष्य नीरस ज्ञान-योगादि का खण्डन करके तथा निर्विशेष ब्रह्म की स्थापना का निषेध करके उसके स्थान पर सविशेष ब्रह्म की स्थापना एवं भक्ति का प्रचार करना था। भक्तियोग की स्थापना के लिये उन्होंने नवधा-भक्ति[3], विशेषकर नामसङ्कीर्तन को अपना प्रधान अस्त्र बनाया था। अतः चैतन्य-चरित्र का वैशिष्ट्य हरिनाम सङ्कीर्तन में लीन रहना था।

भगवान् के साथ-साथ चैतन्य का भक्त रूप में भी चित्रण हुआ है। वृन्दावन में गोपललनाओं द्वारा प्रवर्तित प्रेम तत्त्व वहीं सीमित था। इस समय उसका आस्वादन करने के लिये उसके अनुरूप चैतन्य विग्रह को धारण करके भगवान् मधुरतर उस रस-अमृत का आचमन कर रहे थे[4]। इस भक्त रूप में चैतन्य की अपने दयित श्रीकृष्ण के लिये व्यग्रता प्रदर्शित हुई है। संन्यासग्रहण के पश्चात् प्रेम-आनन्द में मत्त उनका चित्रण द्रष्टव्य

---

[1] सकलजनान्तःकरणाकर्षित्वं हि भगवतोऽसाधारणलिङ्गम् । आनन्दमयत्वात् । वही, पृ० 8

[2] वही, पृ० 31

[3] ......नवभक्तिचन्द्रकान्तैः । वही, पृ० 1

[4] आभीरभीरुभिः प्रवर्तितं तादृशप्रेमतत्त्वं तदानीं तत्रैव स्थितम् । सम्प्रति तदास्वादस्वादगृहीत-समुचितग्रहस्य.....भगवतो तदेव मधुरतररसरहस्यपीयूषम् आचमतः....। वही, पृ० 17

है-'महाप्रभु का आन्तरिक वेग रूपी आनन्द-सागर उत्पन्न हो गया है जिसमें नृत्य रूपी तरङ्गें हैं, अत्यधिक उल्लास जनित हुंकार रूपी गर्जनायें प्रकट हो रही हैं, स्वेद, स्तम्भ आदि भावरूपी रत्न मालायें द्योतित हो रही हैं। न जाने इसका परिणाम किस प्रकार का होगा[1]।'

बाह्य दृष्टि में भक्त तथा भगवान्, दो रूप में चित्रित होने पर भी 'भगवत्ता' दोनों में विराजित है। अतः लोकनायक चैतन्य का सामान्य मानव रूप में कहीं पर भी चित्रण नहीं हुआ है। नरलीला उन्होंने की है पर नाटककार उस नरलीला में भी उनकी भगवत्ता को आरोपित करने से विरत नहीं रहा है। परिणामस्वरूप मानवीय वैशिष्ट्य की अपेक्षा उनकी भगवत्ता अधिक महत्त्वपूर्ण बन गई है तथापि नरलीला करते हुये चैतन्य के जो कतिपय सामान्य चारित्रिक वैशिष्ट्य व्यक्त हुये हैं, उनका चित्रण किया जा रहा है।

भगवत्तासम्पन्न चैतन्य भागवतों का सर्वाधिक महत्त्व प्रतिपादित करते हैं। भागवतों के प्रति किया गया अपराध उनकी दृष्टि में परमात्मज्ञान से उत्पन्न भावधारा का प्रतिरोधी होता है अर्थात् भगवान् के भक्तों के प्रति अपराध करने वालों को परमात्मा सम्बन्धित अनुभूति नहीं होती है[2]।

चैतन्य भक्तों के प्रिय हैं तो भक्त भी समान रूप से उनके प्रिय हैं। उनमें भी अद्वैताचार्य विशेष रूप से चैतन्य को प्रिय हैं। अतः अद्वैत का शान्तिपुर में रहना चैतन्य को व्याकुल बना देता है। परिणामतः वे अद्वैत के साथ इस विच्छेद को समाप्त करने वाले उपाय को निरन्तर रूप से सोचते रहते हैं जिससे बिना किसी व्यवधान के उनका अद्वैत के साथ सहवास हो[3]। भक्तों के साथ प्रेम के अटूट होने पर भी अपने पारिवारिक सम्पर्कों के प्रति वे ममत्वहीन हैं। माता के प्रति सादर सम्मान का भाव होने पर भी स्नेहाधिक्य कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता है तभी बिना सूचित किये संन्यास ग्रहण कर लेने पर चैतन्य की सूचना देने के लिए आचार्यरत्न के आने पर अद्वैताचार्य को आश्चर्य होता है। 'माता के प्रति ऐसी ममता तो उन (चैतन्य) में नहीं है जो उसे सान्त्वना देने के लिए (आचार्यरत्न

---

[1] नृत्योर्मीकः प्रकटितमहोल्लासहुङ्कारघोषः
स्वेदस्तम्भप्रभृतिविलसद्भावरत्नावलीकः ।
अन्तर्वेगः समजनि विभोः सोऽयमानन्दसिन्धु
नो जानीमः परिणतिरहो भाविनी कीदृगस्य ।।
वही, पृ० 87-88

[2] भा वीचिनिकरपरिपन्थी ही भागवतापराधः। वही, पृ० 22

[3] अद्वैत, तव विच्छेदच्छेदकर उपायो निरपायो निरवधि मया चिन्त्यते। येन निरन्तराया निरन्तरा सहवसतिः स्यात्। वही, पृ० 37

को) भेजा गया है[1]।'

चैतन्य विनम्रता के अवतार हैं । अपनी भगवत्ता के प्रति सजग होने पर भी माननीयों का सम्मान करना उन्हें आता है । यही क़ारण है कि जगन्नाथ देव के पशुपालकों के चैतन्य-दर्शन के लिये आने तथा चैतन्य को दण्डवत् प्रणाम करने पर चैतन्य सङ्कोच का अनुभव करते हैं और भगवान् जगन्नाथ के पार्षद उन पशुपालकों को अपना आराध्य मानकर इस प्रणति को अनुचित समझते हैं[2]। इसके साथ ही ब्रह्मानन्द भारती जैसे व्यक्ति को कठोरतापूर्वक उचित शिक्षा देने में वे द्विधा नहीं करते हैं। चर्माम्बर धारण करने वाले ब्रह्मानन्द भारती को पहचान कर भी वे उनके बाह्यवेश के कारण उन्हें पहचानने से मना कर देते हैं[3]। चैतन्य के जीवन में इस प्रकार कठोरता तथा कोमलता का साथ-साथ अवस्थान दर्शनीय है।

चैतन्य अपनी विवेचना से काम लेते हैं, किसी के अनुरोध-उपरोध से नहीं। यही कारण है कि सार्वभौम के शत अनुरोध पर भी राजा प्रतापरुद्र का उद्धार करने को प्रस्तुत नहीं हुये। यह उनकी चारित्रिक दृढ़ता का परिचायक है।

सर्वस्वत्यागी एवं स्वयं भगवान् होने पर भी चैतन्य नारी जाति तथा विषयी व्यक्तियों को सर्वथा वर्जनीय समझते हैं। उनके अनुसार भगवद्भजनोन्मुख तथा भवसागर के तरणेच्छु निष्किञ्चन व्यक्ति के लिये विषयी तथा स्त्रियों का दर्शन विष-भक्षण से भी बुरा है[4]। यह मान्यता उनके चरित्र के एक विशेष पक्ष को उद्घाटित करती है।

सर्वदा हरिनामसङ्कीर्तन अथवा भगवदावेश में तल्लीन रहने पर भी अपने सुहृद्-वर्ग में वे हास-परिहास पेशल हैं, इसका भी कहीं-कहीं सङ्केत मिलता है। जिनको अपना 'षड्भुजरूप' दिखला कर विमोहित किया तथा जो आयु में बड़े हैं ऐसे अद्वैताचार्य के साथ उनकी पत्नी का सङ्केत करके परिहास करना चैतन्य के चरित्र के एक विशेष सरस तथा कोमल पक्ष को स्पष्ट करता है, 'सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्तिः'।[5]

श्रीचैतन्य भक्ति के प्रचार के लिये अवतरित हुये हैं। वे कोई समाजसुधारक नहीं हैं तथापि अपनी चारित्रिक विशेषताओं के कारण वे अनेक कुरीतियों को दूर करने वाले भी हैं यथा ब्राह्मण व्यक्ति का ब्राह्मणेतर सेवक की परिचर्या ग्रहण करना उनकी दृष्टि में

---

[1] न मातरि च तथा ममत्वम् । यत्तामेव सान्त्वयितुं प्रहेष्यति । वही, पृ० 83

[2] अहो किमेतत्, भगवत्पार्षदा भवन्तो मदाराध्या कथमयोग्यमेतत् क्रियते । वही, पृ० 137

[3] नहि स चेतभविष्यत्तदा कथं चर्मचेलत्वेन बाह्यवेषावेशवशत्चमस्याभविष्यत्। वही, पृ० 143

[4] निष्किञ्चनस्य भगवद्भजनोन्मुखस्य पारं परं जिगमिषोर्भवसागरस्य ।
संदर्शनं विषयिणामथ योषितां च हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु ।। वही, पृ० 145

[5] वही, पृ० 37

अनुचित नहीं है। उनकी मान्यता यह है कि स्वतन्त्र हरि की कृपा भी स्वतन्त्र होती है अतः वह जाति, कुल आदि की अपेक्षा नहीं करती है। इसी कारण श्रीकृष्ण ने सुयोधन के अन्न का परित्याग करके विदुर के अन्न को प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण कर लिया था[1]।

शिष्टाचार की भावना चैतन्य में अत्यधिक है अतएव अपने पूज्य ईश्वरपुरी के सेवक की परिचर्या स्वीकार करने में उन्हें सङ्कोच होता है[2]।

श्रीचैतन्य भगवान् हैं अतः जगन्मोहन की सामर्थ्य उनमें स्वाभाविक रूप से है। इसके साथ ही उनके व्यक्तित्व में यह विशेषता भी है कि वे सभी को अपने साथ लेकर चल सकते हैं, किसी कार्य को सामूहिक रूप से सम्पन्न कर सकते हैं । दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि नेतृत्व की भावना उनमें पूरी है। इसका परिचय 'गुण्डिचा-मार्जन' के प्रसङ्ग में मिलता है। उससे पहले भी नवद्वीप से आगत भक्तों से मिलते हुये प्रत्येक का नाम ले लेकर व्यक्तिगत कुशलता आदि के प्रश्न पूछना[3] सफल नेता के योग्य गुण हैं।

चैतन्य के चरित्र-चित्रण में नाटककार ने अपना पूरा ध्यान उनकी भगवत्ता की स्थापना में लगाया है। स्थान-स्थान पर मानवीय संवेदनाओं से युक्त तथा सबके साथ आत्मीयतापूर्ण व्यवहार के उनके जो कतिपय चित्र अपने निकट पार्षद यथा अद्वैत, श्रीवास, नित्यानन्द, रामानन्दराय, सार्वभौम आदि के साथ चित्रित किये गये हैं वे उनको नायक रूप में उपस्थित करने में अलम् हैं परन्तु अधिकतर समय भगवत्ता के अलौकिक घटाटोप में आच्छन्न रहने के कारण उनका चित्रण स्वाभाविक नहीं बन पाया है।

गौड़ीय वैष्णव साहित्य और चैतन्यचन्द्रोदय में चैतन्य

'चैतन्य' सम्बन्धित रचित विविध रचनाओं में चित्रित 'चैतन्य' के चरित्राङ्कन में परस्पर पार्थक्य दिखाई देता है। उस परिप्रेक्ष्य में अध्ययन करने पर 'चैतन्यचन्द्रोदय' में चित्रित 'चैतन्य' का वैशिष्ट्य परिलक्षित होगा। कथावस्तु के विवेचन में मुरारि की 'कड़चा' से यह अन्तर स्पष्ट हो गया है। यहाँ 'चैतन्य-भागवत' तथा 'चैतन्यचरितामृत' में चित्रित चैतन्य की 'चैतन्यचन्द्रोदय' में चित्रित चैतन्य के साथ कुछ विशेष सन्दर्भों में तुलना की जा रही है।

उक्त तीनों ग्रन्थों में ही श्रीचैतन्य को परमतत्त्व स्वीकार किया गया है किन्तु उनकी भगवत्ता की अभिव्यक्ति अलग-अलग ढंग से हुई है । 'चैतन्यभागवत' के चैतन्य अपनी भगवत्ता की घोषणा स्वयं तथा बार-बार करते हैं। उन्होंने स्वयं को कलियुग में कृष्ण,

---

[1] हरेः स्वतन्त्रस्य कृपापि तद्वद्धत्ते न सा जातिकुलाद्यपेक्षाम् ।
सुयोधनस्यान्नमपोह्य हर्षाज्जग्राह देवो विदुरान्नमेव।। वही, पृ० 142

[2] वही, पृ० 142

[3] वही, पृ० 185-186

नारायण तथा सागर-बन्धन-कर्ता राम के रूप में स्पष्ट किया है[1]। इसी प्रकार वे अपना तत्त्व बतलाते हुये स्वयं को मत्स्य, कूर्म, वराह, वामन, पृश्निगर्भ, हयग्रीव, महेश्वर, बौद्ध, कल्कि, हंस, हलधर, नीलाचलचन्द्र, कपिल, नृसिंह आदि विविध अवतार ग्रहण करने वाला तथा अनेक अलौकिक कृत्यों के कर्ता के रूप में प्रकट करते हैं[2]। अपने ही मुख से अपना ऐश्वर्य कथन 'चैतन्यभागवत' का सामान्य विषय है।

कृष्णदास कविराज के द्वारा चित्रित चैतन्य भी स्वयं भगवान् कृष्ण, परतत्त्व, पूर्णज्ञान, पूर्णानन्द, परम महत् हैं। 'भागवत' में नन्दसुत कहकर जिनका गान होता है वही कृष्ण चैतन्यगोस्वामी के रूप में अवतीर्ण हुये हैं[3]। उनके चरित्र की विशेषता यही है कि वे अपनी भगवत्ता तथा ऐश्वर्य की मुक्त कण्ठ से घोषणा तो करते ही नहीं हैं ऊपर से अपने तत्त्व को यथा-साध्य छुपाने का भी प्रयत्न करते हैं। उनकी यह आत्मस्वरूप को छुपाने की भावना कई बार उनके वास्तविक स्वरूप के विषय में भ्रान्ति उत्पन्न कर देती है। चैतन्य-मुख से अवतार-वर्णन सुनकर सनातन गोस्वामी जब श्री चैतन्य से पूछते हैं कि हमें कैसे ज्ञात होगा कि कलि में कौन सा अवतार है, उस समय भी महाप्रभु उन्हें स्पष्ट उत्तर न देकर सङ्केत मात्र करते हैं, "जिस प्रकार अन्यान्य अवतारों को हम शास्त्रों के आधार पर स्वीकार करते हैं उसी प्रकार कलियुग के अवतार को भी मानना चाहिए। सर्वज्ञ मुनि के वाक्य-रूप शास्त्र ही प्रमाण हैं । हमारे जैसे सभी जीवों को शास्त्र से ही ज्ञान मिलता है। अवतार कभी स्वयं नहीं बतलाता है कि मैं अवतार हूँ। मुनि ही लक्षणों से विचार करके उसे जान लेता है"[4]। इसी प्रकार वल्लभ भट्ट से उनका कथन उनके स्वरूप के विषय में सन्देह उत्पन्न करने वाला है, "मैं मायावादी संन्यासी हूँ। मुझे कृष्णभक्ति का बोध नहीं है। अद्वैत आचार्य ही साक्षात् ईश्वर हैं। उनकी सङ्गति से ही मेरा

---

[1] मुञि कलियुगे कृष्ण मुञि नारायण। मुञि रामरूपे कैलूं सागर बन्धन।। वृन्दावनदास, मध्य,22, पृ० 258

[2] वही, अन्त्य, 1, पृ० 312-313

[3] स्वयं भगवान् कृष्ण परतत्त्व। पूर्णज्ञान पूर्णानन्दपरम महत्त्व ।।
नन्दसुत बलिजॉरे भागवते गाइ । सेइ कृष्ण अवतीर्ण चैतन्यगोसाईं ।
चै०च०, आदि, 2, पृ० 5

[4] प्रभु कहे अन्यावतार शास्त्र द्वारा मानि। कलि अवतार तेछे शास्त्र द्वारा मानि।।
सर्वज्ञ मुनिर वाक्य शास्त्र परमाण। आमा सवा जीवेर हय शास्त्र द्वारा ज्ञान ।
अवतार नाहि कहे आमि अवतार। मुनि सब जानि करे लक्षण विचार।
वही, मध्य, 20, पृ०370

मन निर्मल हो गया है ।[1]"

इन दोनों लेखकों के वक्तव्यों से स्पष्ट है कि 'चैतन्यभागवत' में चैतन्य स्वयं अपनी भगवत्ता का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं तो 'चैतन्यचरितामृत' में चैतन्य स्वयं को रहस्यात्मक ही बनाये रखते हैं । वे अपने रहस्य का उद्‌घाटन यदि किसी निकट परिकर से करते भी हैं तो उसे यह निर्देश भी दे देते हैं कि वह इस बात को गोपनीय ही रखे[2]। कविकर्णपूर के नाटक में चित्रित चैतन्य में इन दोनों विशेषताओं का सामञ्जस्य दृष्टिगोचर होता है, अर्थात् वे सर्वदा अपनी 'भगवत्ता' के प्रति सचेत तो हैं किन्तु स्वयं ही आगे बढ़कर उसकी घोषणा नहीं करते रहते हैं । केवल उचित प्रसङ्ग आने पर ही अपनी 'भगवत्ता' को स्पष्ट करते हैं यथा श्रीवास के उद्धार की कथा में वे स्वयं अपने कर्तव्य को स्वीकार करते हुये कहते हैं, 'रात्रि के समय मैंने ही उसे स्वप्न में दिखाया कि जीवन समाप्त हो जाने पर भी पुनः जीवन-दान के द्वारा तुम्हें बचा लिया गया है[3]।' इसी प्रकार अद्वैताचार्य को वह बतलाते हैं कि वे उनकी अत्यधिक दीनता के कारण ही गोलोक से अवतरित होकर आये हैं[4] परन्तु यह आत्मपरिचय-दान 'चैतन्यभागवत' की अपेक्षा अधिक स्वाभाविक रूप से हुआ है। इसी प्रकार चैतन्य का अपना स्वरूप छुपाने का प्रयास भी इच्छाकृत प्रतीत नहीं होता है। कहीं तो वह सहृदय भक्तों का हृदयानुधावन तथा हास-परिहास जन्य प्रतीत होता है यथा अद्वैत द्वारा षड्‌भुजरूप दर्शन की अभिलाषा व्यक्त करने पर चैतन्य का यह कहना, 'मेरा स्वरूप तो यही है, जो कि अद्वैत का प्रेमपात्र है' और 'उन्माद दशा में कौन क्या नहीं कह देता?' आदि[5]। तो कहीं प्रभु का ऐसा कथन उनके शिष्टाचार एवं विनम्रता का ही परिचायक होता है। सार्वभौम द्वारा चैतन्य की देवरूप में स्तुति करने पर चैतन्य देव का कानों को बन्द कर लेना तथा स्वयं को सार्वभौम के वात्सल्य का पात्र मान कर ऐसे कथन का निषेध करना असङ्गत नहीं लगता है। ऐसे प्रसङ्ग चैतन्य-चरित्र को उज्ज्वल ही बनाते हैं।

'चैतन्य-भागवत' के अनुसार चैतन्य शाप और वर देने में पारङ्गत हैं। श्रीवास की नित्यानन्द के प्रति भक्ति को जानकर चैतन्य तत्काल सन्तुष्ट होकर उन्हें वर देते हैं कि यदि

---

[1] महाप्रभु कहे शुन भट्ट महामति। मायावादी सन्नासी आमि ना जानि कृष्ण भक्ति।।
अद्वैत आचार्य गोसाइ साक्षात् ईश्वर। तार संगे आमार मन हइल निर्म्मल।।
वही, अन्त्य, 7, पृ० 505

[2] गुप्ते राखिह कांहा ना करिह प्रकाश । वही, मध्य, 8, पृ० 193

[3] निशां समया स मया स्वप्नो दर्शितः प्रगतजीवितोऽवितोऽपि पुनर्जीवितदानेन । नाटक, पृ० 19

[4] वही, पृ० 17

[5] वही, पृ० 38

लक्ष्मी को भी नगर में भिक्षा मांगनी पड़े तो भी श्रीवास के घर दारिद्र्य नहीं होगा[1]। इसी प्रकार वेदान्त पढ़ाने वाले प्रकाशानन्द सरस्वती चैतन्य-विग्रह को स्वीकार नहीं करता था, इस पर क्रुद्ध होकर चैतन्य ने उसे कुष्ठ रोग दे दिया[2]। कर्णपूर ने चैतन्य के चित्रण में ऐसा कोई प्रसङ्ग नहीं दिखलाया है। श्रीवास-उद्धार की कथा में भी उन्हें दण्डित करने का भाव कहीं नहीं था। केवल उन्हें उन्मार्ग से सन्मार्ग में लाना चैतन्य का लक्ष्य था। वस्तुतः ब्रह्मानन्द भारती तथा गजपति प्रतापरुद्र से सैद्धान्तिक विरोध होने पर भी कर्णपूर ने चैतन्य को कहीं निष्ठुर अथवा निर्मम प्रतिपन्न नहीं किया है वरन् भागवतों पर वे सदैव सदय हैं। यह उनके चरित्र का प्रकर्ष है।

श्रीचैतन्य के चित्रण में इन तीनों ग्रन्थकारों का एक और महत्त्वपूर्ण पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है। 'चैतन्य-भागवत' में चैतन्य अत्यधिक तथा शीघ्रता से आवेश में आ जाते हैं। भक्तिहीन देवानन्द पण्डित का भागवतपाठ श्रवण करके क्रुद्ध चैतन्य ग्रन्थ फाड़ने को दौड़ पड़ते हैं । सभी वैष्णव उन्हें पकड़ कर सम्भालते हैं[3]। इसी प्रकार अद्वैत के भक्ति की अपेक्षा ज्ञान को बड़ा कह देने पर शचीसुत क्रोध के कारण बाह्य ज्ञान भूल कर उन्हें आसन से उतार कर प्राङ्गण में फेंककर अपने हाथों से मारने लगें[4]। कृष्णदास कविराज ने यद्यपि इतना अधिक आवेश चित्रित नहीं किया है तथापि कर्णपूर की अपेक्षा उनके काव्य में भी आवेश का चित्रण अधिक है। नित्यानन्द द्वारा श्रीचैतन्य का दण्ड तोड़ देने पर महाप्रभु रोष प्रकट करते हैं एवं उनके साथ नीलाचल जाने को ही मना कर देते हैं। अन्ततः नित्यानन्द तथा मुकुन्द के पीछे आने को तैयार होने पर ही प्रभु गमन करते हैं[5]। इसके विपरीत कर्णपूर ने चैतन्य को अधिक सहिष्णु तथा शान्त प्रदर्शित किया है। अन्याय का वे विरोध करते हैं परन्तु इस प्रकार असहिष्णु होकर नहीं। ब्रह्मानन्दभारती का वृत्तान्त इसका उदाहरण है।

श्रीचैतन्य के आविर्भाव के उद्देश्य पर दृष्टिपात करने पर भी तीनों लेखकों का भेद स्पष्ट हो जाता है। 'चैतन्यभागवत' में चैतन्य-अवतार का उद्देश्य कलियुग में सङ्कीर्तन-धर्म का पालन करना बतलाया गया है । इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये प्रभु अपने समस्त परिकरों के साथ अवतीर्ण हुए हैं[6]। सङ्कीर्तन का आरम्भ ही नहीं, घर-घर उसका प्रचार

---

[1] तोमारे सन्तुष्ट हञा वर दिये आमि यदि लक्ष्मी भिक्षा करे नगरे नगरे।
तथापि दारिद्र्य तोर नहिबेक घरे। चै०च०भा०,मध्य, 8, पृ० 169

[2] वही, मध्य, 20, पृ० 250

[3] पुथि चिरिवारे प्रभु क्रोधावेशे जाये । सकल वैष्णवगण धरिया रहाय।। वही, मध्य, 21, पृ० 256

[4] ज्ञान बड़ अद्वैतेरे शुनिञा वचन । क्रोधे बाह्य पासरिला शचीर नन्दन ।
पिड़ा हइते अद्वैतेरे धरिया आनिया । स्वहस्ते किलाये प्रभु उठने पाड़िया ।।
वही, मध्य, 19, पृ० 245

[5] द्र०चै०च० मध्य, 5, पृ० 151

[6] कलियुगे सङ्कीर्तन-धर्म पालिवारे । अवतीर्ण हइला प्रभु सर्व्वपरिकरे।।
वृन्दावनदास,आदि, 2 पृ० 10

करना भी चैतन्य का लक्ष्य था[1]। कीर्तन को आरम्भ में प्रेम भक्ति का विलास माना गया है[2]। अवतरित हुये श्रीचैतन्य का संन्यास ग्रहण करना लोकरक्षा के निमित्त था[3]।

'चैतन्यचरितामृत' में चैतन्य के आविर्भाव का उद्देश्य दो प्रकार का बतलाया गया है। प्रेमरस निर्यास का आस्वादन करना तथा लोक में रागमार्ग भक्ति को प्रचारित करना, इन दोनों हेतुओं से (अवतरित होने की) इच्छा का उद्‌गम हुआ। रसिक शेखर कृष्ण परमकरुण हैं[4]। इस प्रेम रस निर्यास-रूप हेतु का कृष्णदास कविराज ने विस्तृत विवेचन किया है। तदनुसार राधा तथा कृष्ण एक आत्मा तथा दो देह धारण करके एक दूसरे में विलास करके रस का आस्वादन करते हैं। वे दोनों ही यह एक चैतन्य गोस्वामी हैं। रस का आस्वादन करने के लिये ही दोनों एक स्थान पर मिल गये हैं[5]। वस्तुतः राधा का प्रेम कृष्ण को मत्त करता था। उसी प्रेम का आस्वादन करने के लिये कृष्ण का राधा भाव ग्रहण करके चैतन्य रूप में अवतरित होना सिद्ध हुआ। राधा भाव को स्पष्ट करते हुये कहा गया है कि गोपियों का प्रेम कामगन्धहीन तथा स्वाभाविक एवं कुन्दन के समान निर्मल, उज्ज्वल और शुद्ध होता है। उन गोपियों में राधिका उत्तमा हैं। उसी राधा भाव को ग्रहण कर चैतन्य का अवतार हुआ है[6]। राग-मार्ग भक्ति का स्पष्टीकरण करते हुये उन्होंने कहा 'मुझे जो ईश्वर मानकर स्वयं को हीन समझता है, उसके प्रेम वश हो मैं कभी उसके अधीन नहीं होता हूँ। मुझे तो जो जो भक्त जिस जिस भाव से भजता है, उसको उस उस भाव में मैं भी भजता हूँ-यही मेरा स्वभाव है[7]। सख्य, माधुर्य, वात्सल्य आदि भावों से युक्त रागानुगा भक्ति का विस्तार चैतन्य का लक्ष्य है। इसके अतिरिक्त जगत् का

---

[1] सङ्कीर्तन आरम्भे मोहार अवतार । घरे-घरे करिमु कीर्तन परचार।। वही, मध्य, 5, पृ० 152

[2] कीर्तन, आरम्भे प्रेम भक्तिर विलास। वही, अन्त्य, 1, पृ० 313

[3] लोकरक्षा निमित्ते आमार सन्यास । वही, मध्य, 26, पृ० 295

[4] प्रेम रस निर्यास करिते आस्वादन । राग-मार्ग-भक्ति लोके करिते प्रचारण।
रसिकशेखर कृष्ण परमकरुण । एई दुइ हेतु हैते इच्छार उद्‌गम।।
कृष्णदास कविराज, आदि, 4, पृ० 12

[5] वही, 4 पृ० 13

[6] कामगन्धहीन स्वाभाविक गोपीप्रेम । निर्मल उज्ज्वल शुद्ध येन दग्धहेम।
सेह गोपीगणमध्ये उत्तमा राधिका। रूपे गुणे सौभाग्ये प्रेमे सर्वाधिका।।
सेई राधार भावलञा चैतन्यावतार।। वही, आदि, 4, पृ० 10-18

[7] आमारे ईश्वर माने आपनाके हीन। तार प्रेमे वश आमि ना हइ अधीन।।
आमाके त जे जे भक्त भजे जेइ भावे। तारे से से भावे भजि ए मोर स्वभावे।।
वही, आदि, 4, पृ० 12

उद्धार करना भी उनके अवतार का उद्देश्य था[1]।

कविकर्णपूर द्वारा चित्रित चैतन्यदेव के आविर्भाव का प्रधान उद्देश्य नवधा भक्ति के द्वारा विषयान्धकार को नष्ट करना था[2]। उस नामसङ्कीर्तन से युक्त विविध भक्ति को फैलाने के लिये चैतन्य रूपी भगवान् चैतन्य का आविर्भाव हुआ था[3]। कर्णपूर के अनुसार इसके साथ ही गोपललनाओं के द्वारा प्रवर्तित प्रेम तत्त्व, जो वृन्दावन में ही स्थित था, उसी का आस्वादन करने के लिये समुचित (चैतन्य का) विग्रह भगवान् ने धारण किया था[4]। यद्यपि सामान्य रूप से देखने पर कृष्णदास के साथ कर्णपूर का कोई वैषम्य दृष्टिगोचर नहीं होता है फिर भी इन रचनाओं से स्पष्ट है कि कृष्णदास के अनुसार राधाभाव का आस्वादन करना चैतन्य का प्रधान उद्देश्य था। इसीलिये उनके द्वारा चित्रित चैतन्य में भक्त रूप का अधिक विस्तार से चित्रण हुआ है जो अपने दयित कृष्ण के लिये सर्वदा व्याकुल रहता है। कर्णपूर ने इसके विपरीत चैतन्य के भगवान्-रूप को प्राधान्य दिया है जो भक्तियोग के प्रचार के लिये भक्त-उद्धार तथा अन्य अलौकिक कृत्यों में व्यापृत रहता है। भक्त रूप का विस्तृत वर्णन होने के कारण 'चैतन्यचरितामृत' में चैतन्य कृष्ण तत्त्व को स्पष्ट करते हुये तथा कृष्ण प्रेम वितरित करते हुये ही दिखलाये गये हैं। श्रीसनातन गोस्वामी से किये गये दीर्घ वार्तालाप में इसी कारण कृष्ण एवं राधा तत्त्व व्यक्त हुआ है[5]। केवल भक्त नहीं वरन् कृष्ण-विरह कातर गोपी के रूप में चैतन्य का चित्रण इसमें अधिक हुआ है। प्रभु को अधिकतर राधा भाव का अभिमान रहता था अतएव वे स्वयं को राधा समझते थे[6]। कर्णपूर ने भक्त की विह्वलता से युक्त चैतन्य का चित्रण अवश्यमेव किया है परन्तु प्रत्यक्ष रूप से उन्हें राधाभाव से युक्त नहीं दिखलाया है। कर्णपूर ने संन्यास ग्रहण के पश्चात् प्रेमावेश में चैतन्य के मुकुन्दसेवा की आकांक्षा से बाह्य ज्ञान शून्य होकर वृन्दावनाभिमुख चल पड़ने तथा बहुत बाद में सचमुच वृन्दावन जाने पर चैतन्य की भावविह्वलता का चित्रण किया है किन्तु जान-बूझकर ही वे राधाभाव का वर्णन छोड़ गये हैं। वृन्दावनदास ने तो इस भाव को छोड़ ही दिया है पर कर्णपूर ने 'दान-विनोद' के अवसर पर उनके सैद्धान्तिक रूप पर प्रकाश अवश्य डाला है, उसका

[1] जगत् तरिते प्रभु तोमार अवतार। वही, मध्य, 15, पृ० 288

[2] नवभक्तिचन्द्रकान्तैः । विरचित-कलिकोकशोकशङ्कुर्विषयतमांसि हिनस्तु गौरचन्द्रः। नाटक, पृ० 1

[3] ..तस्य साधनं नाम नामसङ्कीर्तनप्रधानं विविधभक्तियोगमाविर्भावयितुं भगवांश्चैतन्यरूपी चैतन्यरूपी भगवान्नाविरासीत्। वही, पृ० 4

[4] आभीरभीरुभिः प्रवर्तितं तादृशप्रेमतत्त्वं तदानीं तत्रैव स्थितम्। संप्रति संप्रतिपद्यमानतदास्वादस्वादगृहीतसमुचितग्रहस्य....। वही, पृ० 17

[5] कृष्णदास कविराज, मध्य, 20-121 पृ० 357-379

[6] ....राधिकार भावे प्रभुर सदा अभिमान। सेइ भावे आपनाके हये राधाज्ञान। वही, अन्त्य, 14, पृ० 570

राधा भाव-विभोर रूप का चित्रण नहीं किया है। इस प्रकार कर्णपूर द्वारा चित्रित चैतन्य की यह एक बहुत बड़ी विशेषता है कि नाटक के आदि से अन्त तक उन्हें भगवान् अथवा भक्त रूप में ही चित्रित किया गया है।

वृन्दावनदास के चैतन्य अपनी भगवत्ता की घोषणा तो करते ही हैं पर साथ ही अपनी स्तुति आदि पढ़ने का आदेश भक्तों को स्वयं ही देते हैं। उदाहरणतया चैतन्य सार्वभौम से कहते हैं कि 'मैं सज्जनों का उद्धार तथा दुष्टों का विनाश करूँगा। कोई चिन्ता की बात नहीं है, तुम मेरा स्तव पाठ करो[1]।' इसके विपरीत कृष्णदास के चैतन्य अपने देवत्व को छुपाकर अलौकिक भक्ति का आरोप भी अपने भक्तों पर कर देते हैं। रामानन्द राय से चैतन्य कहते हैं, 'तुम महाभागवतोत्तम हो। तुम्हारे दर्शन से सबका मन द्रवित हो गया है। दूसरों की क्या कहुँ मुझ जैसा मायावादी संन्यासी भी तुम्हारे स्पर्श से कृष्णप्रेम में तैरता है[2]।' इसी प्रकार सार्वभौम, अद्वैत आदि सभी परिकरों के सामने वे अपनी तुच्छता व्यक्त करते हैं । कर्णपूर में इस दृष्टि से पर्याप्त पार्थक्य है । उन्होंने नाटक के आदि से अन्त तक चैतन्य देव का चरित्र उदात्त एवं भगवत्ता से युक्त बना रखा है। केवल एक स्थल पर चैतन्य द्वारा अद्वैत की पूजा प्रदर्शित की गई है यथा 'प्रत्येक दिन प्रातःकाल अर्घ्य, गन्ध, तुलसी, पुष्प आदि के द्वारा आन्तरिक सुख के आवेश से रोमाञ्चित अद्वैत के भगवान् चैतन्य की पूजा करने पर वे मुस्करा कर अत्यधिक अनुराग से अकस्मात् उन अर्घ्यादि को छीन कर अद्वैत की पूजा करने लगे तथा मुंह से 'वु वु' का शब्द करते हुये अंगुलियों से जोर का वाद्य बजाने लगे[3]। इस वर्णन में चैतन्य के चरित्र में किसी प्रकार की दीनता का भाव प्रदर्शित नहीं हुआ है वरन् उनका अपने प्रधान परिकर के लिये अत्यधिक कौतुक का भाव ही ध्वनित हो रहा है। कर्णपूर चैतन्य की भगवत्ता की स्थापना के लिये सतत प्रयत्नशील हैं अतः उनके चरित्र में अलौकिकता के साथ उदात्तता भी सदैव विराजित रही है। अत्यधिक स्नेहपूर्ण सम्पर्कों में भी उनका महिमान्वित रूप ही प्रकट होता रहता है।

स्पष्ट है कि कर्णपूर रचित 'चैतन्यचन्द्रोदय' के नायक चैतन्य गौड़ीय वैष्णव साहित्य के पारम्परिक भगवान् रूप में चित्रित किये जाने पर भी अपनी कुछ विशेषताओं के

---

[1] साधु उद्धारिमु दुष्ट विनाशिमु सब । चिन्ता किछु नाहि तोर पढ़ मोर स्तव ।
चै०भा०, अन्त्य, 3, पृ० 334

[2] प्रभु कहे तुमि महाभागवतोत्तम। तोमार दर्शने सबार द्रव हैल मन।
अन्येर की कथा आमि मायावादी संन्यासी । आमि ह तोमार स्पर्शे कृष्ण प्रेमे भासि ।
चै०च०, मध्य, 8, पृ० 180

[3] प्रातः प्रत्यहमर्घ्यगन्धतुलसीपुष्पादिभिः पूजयत्यद्वैते भगवन्तमन्तरसुखावेशोल्लसद्रोमणि।
स्मित्वा तैर्हठतो हृतैरतिरसेनाद्वैतमभ्यचर्यन्देवो वुर्वुरिते मुंखेऽङ्गुलिदलैरुद्वाद्यवाद्यं व्यधात्।
नाटक, पृ० 194

कारण महत्त्वपूर्ण हैं।

ऐतिहासिक गौण-पात्र

नाटक की सफलता बहुत अंशों में नाटककार की चरित्र-चित्रण-निपुणता पर निर्भर करती है। प्रस्तुत नाटक में नाटककार की अधिकतर सजगता नायक की अलौकिकता तथा भगवत्ता की स्थापना में लगी रही है। नायक के ऐश्वर्य प्रतिपादन तथा लीला-विन्यास की दृष्टि से नाटक में ऐतिहासिक, पौराणिक तथा प्रतीकात्मक इन तीन प्रकार के पात्रों का समावेश किया गया है । इन पात्रों की संख्या किसी भी नाटक की चरित्र-चित्रण कला को आघात पहुँचाने के लिये पर्याप्त है। ये पात्र संख्या में प्रायः अस्सी हैं। कोई कितना भी प्रतिभा-सम्पन्न नाटककार हो इतनी अधिक संख्या में पात्रों के व्यक्तिगत वैशिष्ट्यों को व्यक्त करने में समर्थ नहीं हो सकता है। परिणामस्वरूप 'चैतन्यचन्द्रोदय' के अधिकतर पात्र पाठकों पर अपने व्यक्तित्व की छाप छोड़े बिना ही मञ्च से निष्क्रमण कर जाते हैं। फिर भी जिन कतिपय पात्रों के चित्रण में नाटककार ने कुछ रुचि प्रदर्शित की है, उनका विवेचन यहाँ उपस्थित किया जा रहा है।

अद्वैताचार्य-'चैतन्यचन्द्रोदय' में स्वयं महाप्रभु चैतन्य के पश्चात् महत्त्वपूर्ण व्यक्ति अद्वैताचार्य हैं। वे चैतन्य के सामान्य परिकर मात्र नहीं हैं वरन् उन्होंने ही गोलोक से भगवान् को मर्त्यलोक में अवतरित करवाया है[1] । सामान्य मानव रूप में अवतरित होने पर भी वे नारायण से अन्यून तथा साक्षात् शिव हैं[2] । तात्त्विक रूप से शिव होने पर भी नाटक में उनका चित्रण मानव भक्त रूप में ही हुआ है। चैतन्य के ऐश्वर्य के समक्ष अद्वैत की ऐश्वर्य-स्थापना न करना चरित्र चित्रण की दृष्टि से उचित है क्योंकि किसी अन्य समान चित्रण के अभाव में चैतन्य का चित्रण पूर्ण प्रभावोत्पादक बना रहा है। भक्तियोग की स्थापना में अद्वैत चैतन्य के सबसे प्रधान सहायक हैं। मुकुन्द, मुरारि तथा शची माता का भक्ति-धारा में अवगाहन अद्वैत के कारण ही सम्भव हुआ है । स्वयं चैतन्य अपने परिकरों में से अद्वैत को विशेष महत्त्व देते हैं और अपने नराकार को अद्वैत का प्रेमपात्र स्वीकार करते हैं[3] । प्रभु ने अद्वैत को अपना ऐश्वर्य दिखलाया । चैतन्य की दृष्टि में अद्वैत का कितना अधिक महत्त्व था इसका बोध इस एक ही प्रसङ्ग से हो जाता है - श्रीनाथ नामक नवयुवक को अद्वैत महाप्रभु का कृपापात्र बनाने के लिये अलग से ला रहे हैं, इतनी मात्र सूचना पाकर चैतन्य कहते हैं, 'श्रीनाथ अद्वैत का उपहार है अतः यह अत्यधिक प्रिय होगा। श्रीनाथ के प्रति मुझे विशेष स्नेह है[4] ।'

अद्वैत ही सम्पूर्ण नाटक में एक मात्र व्यक्ति हैं जो चैतन्य की पूजा के भी पात्र बनते हैं[5]।

---

[1] अद्वैत, गोलोकादवतारितोऽस्मि भवतैवाहं.....। नाटक, पृ० 17

[2] अद्वैताचार्यवर्यो भगवदनवमं शाम्भवम् धाम......। वही, पृ० 8

[3] मम स्वरूपमिदमेव। यदिदमद्वैतप्रेमपात्रम्। वही, पृ० 38

[4] अद्वैतोपायनमिदमिति स्वादुभावीति कार्यं प्रेमैतस्मिन् किमपि....। वही, पृ० 184

[5] वही, पृ० 194

अद्वैत की भक्ति से स्वयं चैतन्य भी प्रभावित थे[1]।

चैतन्य-गोष्ठी में अद्वैत सबके स्नेह तथा श्रद्धा के पात्र हैं। शिवानन्दसेन नीलाचल की यात्रा की व्यवस्था करके अद्वैत की अनुमति के मुखापेक्षी रहते हैं[2] तो नित्यानन्द प्रेमविह्वल प्रभु को अद्वैताचार्य को सौंपने के विचार से निश्चिन्त हो जाते हैं[3]।

इतने अधिक गौरव-पात्र अद्वैत कतिपय मानवीय गुणों के अधिकारी थे जिससे वे अपने साथियों के भी प्रेम पात्र बन गये थे । अपने आनन्द में निमग्न रहना उन्हें अच्छा लगता था पर वे दूसरों को भी उसी आनन्द रस का आस्वादन करवाना चाहते थे। यही कारण है कि महाप्रभु द्वारा षड्रूप दर्शन का आश्वासन मिलने पर भी वे मुकुन्द तथा मुरारि का पक्ष लेना नहीं छोड़ते हैं[4] तथा अन्ततः उन्हें महाप्रभु का कृपापात्र बना देते हैं।

अत्यधिक समृद्ध अद्वैत की अतिथि-वत्सलता का ज्ञान उसी समय हो जाता है जब वे नवद्वीप से आगत चैतन्य दर्शनार्थियों के भोजनादि का दायित्व ग्रहण कर लेते हैं[5]। भली-भाँति सोच कर काम करने की उनकी प्रवृत्ति स्तुत्य है। संन्यास ग्रहण के पश्चात् चैतन्य के आगमन की सूचना मिलते ही वे तत्काल अपने परिजनों को शान्तिपुर से नवद्वीप भेजते हैं जो नवद्वीपवासी भक्तों को महाप्रभु के दर्शन के लिये ले आयें[6]।

अद्वैताचार्य के चरित्र की गहराई का पार पाना सरल नहीं है[7]। एक ओर उनकी महाप्रभु के प्रति ऐसी अचला भक्ति है कि वे उनकी लीला को भगवान् के अनुग्रहजन्य ज्ञान विशेष के बिना, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, ऐतिह्यादि प्रमाण-समूह से प्रमाणित होना असम्भव मानते हैं[8]। साथ ही चैतन्य देव के जो कृत्य उन्हें उचित नहीं लगते हैं, अद्वैत उन्हें स्पष्टतः कह भी देते हैं, यथा चैतन्य के संन्यासग्रहण के विषय में आलोचना करते हुये वे 'वागीश्वरेण किमुचितं वचनानुवचनम्' तथा 'सर्वमिदं प्रतारणमेव' जैसे कठोर शब्दों का उच्चारण भी कर देते हैं[9]।

---

[1] वही, पृ० 92

[2] अहमपि तदाज्ञां प्रतीक्षमाण एवास्मि । वही, पृ० 182

[3] वही, पृ० 91

[4] भगवन्, मुरारिमुकुन्दादयोऽप्येते तव दास्यभावभावदातारो दातारो नयनानन्दस्य । वही, पृ० 19

[5] वही, पृ० 98

[6] वही, पृ० 93

[7] भो भो देव अद्वैत, त्वमतिदुरवगाहगभीरोऽसि । वही, पृ० 79

[8] भगवतस्तथैव लीलायितं खलु प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थापत्त्यैतिह्यादिप्रमाणनिवहैरपि न प्रमातुं शक्यते बिना तस्येवानुग्रहजन्यज्ञानविशेषम् । वही, पृ० 73

[9] वही, पृ० 96

नाटककार ने श्रीचैतन्य को मञ्च पर कम से कम समय के लिये चित्रित किया है। उनके क्रिया-कलाप अधिकतर सूचित किये गये हैं। उस दृष्टि से अद्वैत का मञ्च पर अवस्थान अधिक है। प्रथम पांच अङ्कों में तो उनकी प्रमुखता है ही। षष्ठ अङ्क के प्रारम्भ में अद्वैत के विषय में कतिपय सूचना दी जाती है। अष्टम तथा दशम अङ्क में उनका मञ्च पर पुनरागमन होता है तथा अन्त में भरतवाक्य भी वे ही बोलते हैं । स्पष्ट है कि प्रस्तुत नाटक में नायक के पश्चात् सर्वाधिक महत्त्व अद्वैत का ही है। अलौकिक वातावरण में भी अद्वैत के मानवीय रूप का चित्रण कहीं-कहीं सुन्दर बन पड़ा है। चैतन्य के साथ हास-परिहास करना, अपने दयित चैतन्य के संन्यास के लिये जाने पर कातर होकर विलाप करना तथा सामान्य मानव के समान उलाहना देना, माता को भावगम्भीर सन्देश भेजना, संन्यासी चैतन्य की वेशभूषा के साथ पहले की वेश-भूषा की तुलना करके खेद प्रकट करना कुछ ऐसे ही स्वाभाविक चित्रण हैं। चैतन्य के परिकरों की भीड़ में इसी कारण अद्वैत कुछ अलग से दृष्टिगोचर होते हैं।

श्रीवास

'चैतन्यचन्द्रोदय' में चित्रित चैतन्य-परिकरों में अद्वैत के पश्चात् श्रीवास का चित्रण अच्छा है। श्रीवास नवद्वीप-लीला के प्रधान परिकर तथा चैतन्य के कृपाधन्य थे जिनके घर पर श्रीचैतन्य का नित्य का विहार होता था[1]। श्रीवास अपने पूरे परिवार के साथ ही चैतन्य-सेवा संलग्न थे[2]।

पश्चाद्वर्ती जीवन में परमभक्त रूप में विख्यात श्रीवास अपने पूर्ववर्ती जीवन में अत्यधिक उद्दण्ड तथा उन्मार्गगामी थे। भगवान् की कृपा से ही उनमें नारदीयशक्ति का समावेश हुआ था तथा वे परमभक्त बन गये थे। यद्यपि नाटक में अद्वैत को रुद्रांश माना गया था तथापि उनका सर्वत्र चित्रण सामान्य भक्त रूप में हुआ। श्रीवास का नारद-अंश उनके नररूप में भी जाज्वल्यमान था। उनके द्वारकालीला के अनुरागी होने का कारण यही नारदीय शक्ति थी[3]। श्रीवास में नारद के आवेश को सहज माना गया है जबकि अद्वैतादि में उन उन अंशों का आरोप मात्र है[4]।

आयु में पर्याप्त वयस्क होने पर भी उनमें कुछ शिशु सुलभ सामान्य बातें प्रदर्शित की गई हैं। माता शची द्वारा श्रीवास आदि पर यह आरोप लगाने पर कि वे ही शची माता के पुत्र चैतन्य को भक्तिमार्ग में लगा रहे हैं, श्रीवास आकुल रहते हैं और जब तक वास्तविक

---

1 श्रीवासस्येव क्व मे तादृशं सौभाग्यम् यस्य भवने प्रतिदिनमेव देवितं देवेन । वही, पृ० 93

2 द्र० वही, पृ० 12-14

3 नारदत्वेन भवान् द्वारकाविलासप्रिय एव, तेन तुभ्यमैश्वर्यांश एव रोचते। वही, पृ० 205

4 अस्य सहजनारदावेशत्वान्नारदरूपता व्यक्तैव। अद्वैतादेस्तु तत्तदारोपः। वही, पृ० 52

स्थिति माता के समक्ष स्पष्ट नहीं कर दी जाती वे निःसङ्कोच नहीं हो पाते हैं[1]। प्रत्येक विषय में जिज्ञासा रखना उनका एक अन्य गुण है इसीलिए अद्वैत के भगवान् का ऐश्वर्य देखने में निमग्न होने पर वे चैतन्य के समक्ष प्रश्नों की झड़ी लगा देते हैं[2]।

श्रीवास चैतन्यदेव के साथ निःसङ्कोच तर्क कर लेते हैं, यह उनके स्वभाव का वैशिष्ट्य है[3]। उन दोनों का सम्पर्क सामान्य रूप से भक्त और भगवान् का होने पर भी वे दो सहृदय मित्रों के समान परस्पर व्यवहार करते हैं । इसी कारण उनमें हास-परिहास भी चलता है । अद्वैत के शान्तिपुर से आने पर चैतन्य उनके भोजन विश्राम की चिन्ता व्यक्त करते हैं। इस पर श्रीवास परिहास करते हुये कहते हैं, 'आप स्वयं आतिथेय हैं। इनकी आतिथ्य से सेवा कीजिए,[4]। उनका यह सरस, गाम्भीर्य रहित व्यवहार उनको सबका स्नेहास्पद बनाने में अलम् था। सुगायक होना उनका एक और वैशिष्ट्य था । श्रीवास का श्रीचैतन्य के नर्तन-कीर्तन के अवसर पर अपने अनुजों सहित सुस्वर में मधुर गान गाने का वर्णन मिलता है[5]। श्रीवास का श्रीचैतन्य के नाम सङ्कीर्तन-प्रचार में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान था । उनका प्राङ्गण चैतन्य के सङ्कीर्तन का मुख्य स्थल था[6]। चैतन्य का 'महाभिषेक' उन्हीं के आवास में सम्पन्न हुआ था[7]। महाप्रभु के नीलाचल चले जाने पर श्रीवास भी तीर्थयात्रियों के साथ नीलाचल जाया करते थे।

श्रीवास के चरित्र में पर-दुःख-कातर होने की सामर्थ्य उन्हें उच्च आसन पर प्रतिष्ठित कर देती है। श्रीचैतन्य के गुप्त रूप से संन्यास ग्रहण करने के लिये चले जाने पर सभी भक्त-वृन्द शोकाभिभूत हो रहे थे। ऐसी विषम स्थिति में श्रीवास का अपनी चिन्ता छोड़कर माता शची के लिये चिन्तित होना उनकी मानवता का ही प्रतीक है। वे माता शची के प्राणों की रक्षा के लिये प्रयत्नशील होते हैं अतः माता के विश्वास पात्र गङ्गादास को उन्हें आश्वस्त करने के लिये भेजते हैं[8]।

स्पष्ट है कि नाटक में उनका चित्रण विस्तार से किये जाने पर भी उनके व्यक्तित्व के

---

[1] वही, पृ० 21-22

[2] वही, पृ० 38-40

[3] भगवान् - तन्द्रादोषोऽयम्। श्रीवासः- आनन्दतन्द्रा खल्वियम् । कुतोऽस्य दोषः । वही, पृ० 41

[4] श्रीवासः-आतिथेयोऽसि । आतिथ्येन समुपचर्यन्तामेते भवता । वही, पृ० 75

[5] श्रीवासस्त्रिभिरेव, सुस्वरतमैर्रामादिभिः सोदरैर्गायत्येष कलं स्वयं.....। वही, पृ० 77

[6] वही, पृ० 29

[7] वही, पृ० 12

[8] तदधुना तज्जीवनरक्षैव नः कर्तुमुचिता । तस्माद्भो गङ्गादास भवद्वचसि तस्याः प्रत्ययोऽस्ति त्वया तथा कथनीयं यथासौ जीवनेन न वियुज्यते । वही, पृ० 79

सभी पक्षों पर पूरी तरह से प्रकाश नहीं डाला गया है। केवल कुछ विशेषताओं का ही चित्रण हुआ है।

नित्यानन्द

नित्यानन्द बलराम के तेज स्वरूप थे[1]। चैतन्य-पार्षदों में महत्त्वपूर्ण इस पार्षद को नाटक में उपेक्षित ही रखा गया है। 'दान-विनोद' में राधाकृष्ण की संयोगकारिणी योगमाया के वेश में अभिनय करने के उल्लेख[2] के अतिरिक्त चैतन्य के संन्यास के तुरन्त पश्चात् अद्वैत के घर जाने के प्रसङ्ग में ही उनका कुछ विशद चित्रण हुआ है। अन्यत्र उनका सङ्केत मात्र मिलता है यथा संन्यास से पूर्व चैतन्य की नवद्वीप-लीला के अवसर पर अन्य पार्षदों के साथ उनका स्वल्प चित्रण हुआ है जहाँ उन्हें महाप्रभु के षड्रूप-दर्शन का अवसर मिला था। नित्यानन्द नृत्य-सङ्कीर्तन में पूर्ण आवेश से नृत्य करते थे[3]।

चैतन्य के संन्यास-प्रसङ्ग में नित्यानन्द का विस्तृत चित्रण सम्भव हुआ है क्योंकि आचार्यरत्न के साथ वे भी चैतन्य के साथी बने थे। इस प्रसङ्ग में नित्यानन्द का प्रभु के प्रति प्रगाढ़ प्रेम और साथ ही प्रभु के प्रियजनों के प्रति उनकी सप्रेम चिन्ता भी व्यक्त होती है क्योंकि संन्यास संस्कार के तुरन्त पश्चात् वे आचार्यरत्न को नवद्वीप अद्वैतादि को सूचना देने के लिये भेज देते हैं[4]। इसी प्रकार चैतन्य के साथ अद्वैतालय पहुँचने पर उन्हें फिर नवद्वीप के प्रियजनों की याद सताती है[5]। इससे नित्यानन्द के हृदय की कोमलता का बोध होता है कि वे अपने साथियों की भावनाओं का आदर करते थे।

नित्यानन्द का अद्वैत के प्रति अगाध विश्वास तथा निर्भरता का भाव है। प्रेमावेश में मत्त महाप्रभु को जब सम्भालना कठिन प्रतीत हो रहा था तो वे महाप्रभु की अक्षम अवस्था का लाभ उठाकर उन्हें अद्वैतालय ले जाने के लिये प्रयत्नशील हो गये[6]। अद्वैताचार्य के आते ही नित्यानन्द स्वयं को भारमुक्त सा अनुभव करने लगे[7]। अद्वैत भी नित्यानन्द के महत्त्व को स्वीकृति तथा कृत्यों को समर्थन देते थे[8]।

प्रेमविह्वल होने पर भी नित्यानन्द बिगड़ती हुई परिस्थितियों को व्युत्पन्नमति के

---

[1] नित्यानन्दावधूतो मह इह महितं हन्त साङ्कर्षणं यः । वही, पृ० 8

[2] वही, पृ० 69

[3] नित्यानन्दमहाशयोऽपि महातावेशेन नृत्यत्ययम् । वही, पृ० 77

[4] वार्तामार्तामनुपहर सुखं प्रापयाद्वैतमुख्यान् । वही, पृ० 87

[5] भो अद्वैत, नवद्वीपे कश्चित्प्रहितोऽस्ति । वही, पृ० 93

[6] विभ्रामयन्वर्त्म विवेचनाक्षमं नेष्येऽहमद्वैतविभोगृहानमुम् । वही, पृ० 88

[7] अतः परं ममातिभारो लघुभूतः। वही, पृ० 91

[8] वही, पृ० 93

कारण सुधारना जानते थे। यही कारण है कि महाप्रभु के आवेश में वृन्दावन जाने की इच्छा करने पर गोपबालकों के द्वारा उन्हें भ्रान्ति में डालकर वे अद्वैतालय के निकट ले आये[1]। इसी प्रकार प्रभु के अद्वैत के घर पहुँचने पर एकत्रित होने वाले जन-समूह की आशङ्का करके तथा उसका प्रतिकार करवाकर उन्होंने अपनी सूक्ष्म तथा विवेचक दृष्टि का परिचय दिया [2]।

नित्यानन्द के चरित्र की एक अन्य विशेषता उनका स्पष्टवादी होना है। संन्यास ग्रहण के पश्चात् चैतन्यदेव से अद्वैत के प्रथम मिलन के अवसर पर वे उन दोनों के भावावेश को बीच में रोक कर अपनी तीन दिन की दुरवस्था की सूचना देकर कथोपकथन की समाप्ति की मांग करते हैं। यहीं पर वे चैतन्य की स्वानन्दभोगजन्य तृप्ति पर भी कटाक्ष करना नहीं भूलते हैं[3]। चैतन्य के दण्ड को भी इसी प्रकार व्यर्थ काष्ठ खण्ड कहकर तोड़ना उनके स्पष्ट व्यवहार का परिचायक है[4]।

नित्यानन्द का अन्य पार्षदों में अत्यधिक सम्मान था। इस आदर-आधिक्य ने उन्हें जनसामान्य से पर्याप्त दूरी पर प्रतिष्ठित कर दिया था। गौड़ यात्रियों के साथ नीलाचल आते समय वे साथियों से कुछ अलग से ही आते थे[5]।

सैद्धान्तिक रूप से चैतन्य पार्षदों में नित्यानन्द का महत्त्वपूर्ण स्थान होने पर भी नाटककार उनके चित्रण में असफल ही रहे हैं। अद्वैताचार्य के परिप्रेक्ष्य में उनका चरित्र-चित्रण विकसित न हो सका। नित्यानन्द की सादर-स्थिति को बनाये रखने के लिये नाटककार ने भी सर्वसाधारण से अलग रखकर उनको चित्रित करने का प्रयास किया पर यह प्रयास सफल न हो सका क्योंकि नित्यानन्द के किसी वैशिष्ट्य को प्रकाश में नहीं लाया जा सका। पञ्चम अङ्क के अतिरिक्त कहीं भी उनके व्यक्तित्व का अलग से पता नहीं चलता है। नीलाचल वर्णन में उनकी उपस्थिति नाम मात्र की है। सत्य तो यह है कि नित्यानन्द के चरित्र-चित्रण में नाटककार आंशिक साफल्य भी अर्जित न कर पाये।

अद्वैताचार्य, श्रीवास तथा नित्यानन्द जैसे प्रमुख पार्षदों के अतिरिक्त 'चैतन्यचन्द्रोदय' में मुरारि, मुकुन्द, गङ्गादास, आचार्यरत्न आदि पार्षदों का भी कुछ विस्तार से चित्रण हुआ है। 'चैतन्यचन्द्रोदय' का कथानक ऐतिहासिक है। यहाँ जिन पात्रों का चित्रण किया जा रहा

---

[1] वही, पृ० 89-91

[2] वही, पृ० 94

[3] भो अद्वैत, अस्य दण्डग्रहणावधि ममैव दण्डो जातः दिनत्रयमाहारविरहात्। देवस्य तु स्वानन्दभोगेन्नेव तृप्तिः । तदलमत्र कथा प्रसङ्गत्तुंगिम्ना । वही, पृ० 93

[4] वही, पृ० 106

[5] सर्वादृतत्वादन्यसंगं नेहते । वही, पृ० 150

है वे सभी ऐतिहासिक पात्र हैं। 'चैतन्यचन्द्रोदय' से पूर्ववर्ती मुरारिगुप्त के 'श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृत' में यदि इन पात्रों का उल्लेख हुआ है तो पश्चाद्वर्ती 'चैतन्यभागवत', 'चैतन्यचरितामृत' तथा अन्य चैतन्य-चरित ग्रन्थों में भी ये पात्र चित्रित हैं। यह अलग बात है कि विभिन्न ग्रन्थों में इन पात्रों के महत्त्व में तारतम्य दृष्टिगाचर होता है। उदाहरणस्वरूप 'चैतन्य-भागवत' में नित्यानन्द को भी चैतन्य के समान इष्टदेव के रूप में स्वीकार किया गया है[1]। वहाँ नित्यानन्द की बाल्यलीला तथा तीर्थयात्रा[2] के वर्णन के साथ तीन अध्यायों में चैतन्य-नित्यानन्द-मिलन तथा नित्यानन्द को चैतन्य द्वारा षड्भुजरूप दर्शन कराने का विस्तृत चित्रण हुआ है[3]। इसके विपरीत 'चैतन्यचन्द्रोदय' में चैतन्य के संन्यास-ग्रहण के प्रसङ्ग में ही केवल नित्यानन्द का कुछ विस्तृत चित्रण हुआ है । अन्यत्र तो उनका केवल सङ्केत मात्र किया गया है।

'चैतन्यचरितामृत' में कृष्णदास कविराज ने हरिदास को पर्याप्त महत्त्वपूर्ण परिकर के रूप में चित्रित किया है। प्रभु के संन्यास तथा नीलाचल-गमन के प्रसङ्ग में, उनके उल्लेख[4] के साथ अन्यत्र हरिदास की महिमा भी विस्तार से गाई गई है[5]। हरिदास के अन्त समय में श्रीचैतन्य का उनसे केवल नैकट्य ही प्रदर्शित नहीं किया गया है वरन् चैतन्य की दृष्टि में हरिदास कितने महिमान्वित भक्त थे, यह भी स्पष्ट किया गया है क्योंकि उस चित्रण में सभी भक्तगण हरिदास का चरणोदक ग्रहण करते हैं तथा स्वयं महाप्रभु उनको समाधि देते हैं[6]। 'चैतन्यचन्द्रोदय' में इसके विपरीत हरिदास के चित्रण में कोई रुचि नहीं ली गई है जबकि नाटक के तृतीय अङ्क के अभिनय[7] तथा चैतन्यविरह कातर भक्तों में ही केवल उनका उल्लेख हुआ है[8]। यह उल्लेख नाममात्र का है । कर्णपूर ने अन्य लेखकों की तुलना में नाटक में गोपीनाथाचार्य को अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। कहने का अभिप्राय यही है कि ऐतिहासिक पात्र होते हुये भी इन पात्रों के महत्त्व के चित्रण में अन्तर स्वाभाविक रूप से आ गया है। ऐसे कुछ ऐतिहासिक पात्रों का चित्रण यहाँ उपस्थित है।

मुरारि चैतन्य के प्रमुख पार्षद थे। कर्णपूर ने चैतन्य-कृपा-कटाक्ष की प्राप्ति से पूर्व

---

[1] इष्टदेव बन्दो मोर नित्यानन्द राय। चै०भा०, आदि, 1, पृ० 2

[2] वही, 8, पृ० 49-57

[3] वही, मध्य, 3-5, पृ० 141-156

[4] चै०च०, मध्य, 3, पृ० 130-134

[5] वही, अन्त्य, 3, पृ० 451-454

[6] वही, अन्त्य, 11, पृ० 546-548

[7] नाटक, पृ० 46

[8] वही, पृ० 81

उनकी केवल 'योग-वाशिष्ठ' में रुचि का सङ्केत मात्र किया है। बाद में उनका भक्त-रूप चित्रित हुआ है। मुरारि के चरित्र में दो पक्षों पर दृष्टिपात हुआ है-उनका चैतन्य के प्रति प्रेमाधिक्य जिसके परिणामस्वरूप चैतन्य के वियोग में मुरारि की प्रेमविह्लवता तथा कातरता का चतुर्थ अङ्क में सुन्दर चित्रण हुआ है[1]। इस प्रेमाधिक्य के साथ मुरारि के चरित्र में दूसरा पक्ष है उनकी बुद्धिमत्ता तथा दूरदर्शिता का। चैतन्य के बिना सूचना दिये चले जाने पर उनके विषय में निश्चित रूप से कुछ भी बिना जाने अद्वैत आदि प्रिय पार्षदों का विलाप करना उन्हें अरुचिकर लगता है[2]। शोकसन्तप्त होने पर भी वे ही सर्वप्रथम धैर्य धारण करके इस विषय पर ध्यान आकर्षित करते हैं कि महाप्रभु अकेले नहीं गये हैं[3]। नित्यानन्द तथा आचार्यरत्न की अनुपस्थिति एवं तदनुसार उनके भी महाप्रभु के साथ जाने की सूचना मुरारि की बुद्धि से ही मिलती है[4]। उनकी इस सामान्य-बुद्धि का सङ्केत अन्यत्र भी मिलता है।

मुरारि के समान मुकुन्द भी प्रभु की कृपा से आध्यात्मिकता से भक्ति-मार्ग पर आए थे। नाटककार के अनुसार मुकुन्द भगवान् विश्वम्भर के प्रियसेवक हैं[5] परन्तु गोपीनाथाचार्य से साक्षात्कार करवाने के अतिरिक्त उनका कोई विशेष कार्य नाटक में दृष्टिगोचर नहीं होता है। वे गोपीनाथ के पुरातन परिचित हैं। महाप्रभु के परम भक्त होने के कारण वे महाप्रभुविषयक अपमानकर शब्द सुनने में असमर्थ हैं। उसके प्रतिकार से ही वे परमशान्ति का अनुभव करते हैं[6]। चैतन्यदेव को परमेश्वर मानते हुये वे उनके द्वारा सभी कुछ सम्भव समझते हैं[7]।

महाप्रभु के अन्य परिकर गङ्गादास के चरित्र में प्रभु के प्रति अपार प्रेम का ही चित्रण हुआ है। अन्य पार्षदों की अपेक्षा गङ्गादास ही शची माता का अधिक विश्वास पात्र है। यही उसके चरित्र का वैशिष्ट्य है। आचार्यरत्न प्रभु के निकटवर्ती होने पर भी नाटककार द्वारा अच्छी चरह चित्रित नहीं हुए हैं। उन्होंने कर्मकाण्ड ज्ञाता होने के कारण, महाप्रभु के संन्यास-ग्रहण से पूर्व करणीय कृत्यों को सम्पन्न करवाया। वे नित्यानन्द के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धालु हैं। उन्हें केवल प्रभु प्रेम-प्रमत्त ही चित्रित किया गया है। उनके व्यक्तित्व को कहीं

[1] वही, पृ० 80

[2] कथमनिर्णयेनेवं विलपसि । वही, पृ० 79

[3] वही, पृ० 81

[4] वही, पृ० 82

[5] वही, पृ० 108

[6] वही, पृ० 111

[7] किमशक्यं तस्य भगवतः । वही, पृ० 112

भी उभारा नहीं गया है।

नाटक के ऊपर वर्णित परिकरों के अतिरिक्त नीलाचल के जो अन्य कतिपय पुरुषपात्र दृष्टि को कुछ मात्रा में आकर्षित करते हैं वे हैं सार्वभौम भट्टाचार्य, गोपीनाथ, रामानन्द राय तथा गजपति प्रतापरुद्र।

सार्वभौम भट्टाचार्य

विशारद भट्टाचार्य के पुत्र सार्वभौम भट्टाचार्य अपने काल में पाण्डित्य के प्रतीक माने जाते थे। नाटककार ने प्रभु का अनुग्रह प्राप्त करने के पश्चात् ही उनका विशद रूप से चित्रण किया है। सार्वभौम नीलाचल में जगन्नाथ मन्दिर के सर्वेसर्वा थे- उनके कहे बिना देव-दर्शन भी सुलभ न था[1]। वे अध्यापन करते थे। सामान्य व्यवहार में शिष्ट थे अतः उन्होंने चैतन्यदेव का आगे बढ़कर स्वागत किया तथा तत्काल ही अपने पुत्र-चन्दनेश्वर को उनकी सहायता के लिये नियुक्त किया। वे शुष्क-वेदान्ती ही नहीं थे वरन् स्नेह की फल्गु-धारा उनके हृदय में सतत गतिशील थी। अतएव अल्प-वयस्क संन्यासी के रूप में चैतन्य को देखते ही वे उनके प्रति स्नेह का अनुभव करने लगे[2]। पाण्डित्य के साथ-साथ उनका व्यक्तित्व गाम्भीर्ययुक्त था। निःशङ्क होकर उनसे कथोपकथन करते हुये गोपीनाथ को देखकर शिष्यों का आश्चर्यान्वित होना स्वाभाविक था परन्तु इन सामान्य मानवीय गुणों के अतिरिक्त नाटककार ने उनके चैतन्य-प्रेमोन्मत्त रूप को भी विशद रूप से चित्रित किया है। जगन्नाथ-दर्शन करने से पूर्व चैतन्य-दर्शन करना[3] तथा उन्हें साक्षात् परमेश्वर स्वीकार करना[4] उनकी भक्ति का ही परिचायक है। अन्य श्रेष्ठ परिकरों के समान वे स्वयं ही महाप्रभु के कृपापात्र बनकर सन्तुष्ट न थे वरन् औरों को भी सौभाग्यवान् बनने में सहायता करते थे। इस क्षेत्र में वे अद्वैताचार्य के ही समकक्ष थे जिन्होंने मुरारि-मुकुन्द को महाप्रभु का कृपापात्र बना दिया था। सार्वभौम ने उसी प्रकार राजा प्रतापरुद्र को, जिनका नामश्रवण भी प्रभु को अभीष्ट न था, उचित सुझाव द्वारा चैतन्यदेव का कृपा-पात्र बना दिया[5]। महाप्रभु के दक्षिण यात्रा करने पर रामानन्द राय से मिलने का अनुरोध भी सार्वभौम का ही था[6]।

सार्वभौम न्याय, वेदान्तादि के प्रख्यात विद्वान् थे किन्तु चैतन्य को परमेश स्वीकार

---

[1] विना सार्वभौमसंभाषणं श्रीजगन्नाथदर्शनं न सुलभमिति मन्यामहे । वही, पृ० 109

[2] अमुमालोक्य स्नेहशोकतारल्यं जातम् ।....अल्पीयसि वयसि तुरीयाश्रमो गृहीतः कथमनेन। वही, पृ० 110

[3] अयमयं भट्टाचार्यः श्रीजगन्नाथमदृष्ट्वैव भगवच्चरणोपसर्पणार्थमागच्छति । वही, पृ० 119

[4] स्वजनहृदयसद्मा नाथ पद्माधिनाथो भुविचरसि यतीन्द्रच्छद्मना पद्मनाभः । वही, पृ० 120

[5] वही, पृ० 148

[6] वही, पृ० 125

करने के उपरान्त वे भक्ति मार्ग के ही अनुयायी हो गये। इसी कारण चैतन्य द्वारा शास्त्रार्थ करने पर उन्होंने निष्काम भक्ति योग को शास्त्रों द्वारा नहीं अपितु भगवान् की कृपा से प्राप्य माना[1] तथा पाञ्चरात्र आदि के आधार पर उन्होंने भक्ति को ही श्रेष्ठ माना एवं समस्त शास्त्रों के सार रूप में कृष्ण को ही मान्यता दी[2]।

सार्वभौम के चरित्र की विशेषता यही रही कि ज्ञान के भार से तथा भक्ति के भाव से वे विनम्र ही हो गए, उद्धत नहीं। मल्लभट्ट नामक कर्णाटागत पण्डितराज ने सार्वभौम को लक्ष्य करके ही कहा कि 'धीर व्यक्ति एक मात्र विनयरूप भूषण से युक्त होते हैं[3]।'

वास्तव में कविकर्णपूर चैतन्यदेव के नवद्वीप लीला के परिकरों के चित्रण में एकरसता से आक्रान्त हो गए थे। परिणामस्वरूप उन परिकरों में एकाध को छोड़कर शेष सभी प्रायः एक ही रङ्ग में रङ्ग गए। उनका व्यक्तिगत अस्तित्व ही प्रायः लुप्त हो गया था। ऐसी अवस्था में उस निर्धारित रेखा से अलग हटकर सार्वभौम का चित्रण करते हुए नाटककार अनायास ही सफल हो गए। पाण्डित्य, राजकीय-अधिकार, सहृदय-मानव तथा सर्वोपरि एकनिष्ठ चैतन्य-भक्त, इन विविध रूपों में उनका चित्रण आस-पास के चरित्र चित्रणों की अपेक्षा अधिक जाज्वल्यमान तथा साफल्य-मण्डित हुआ है, इसमें सन्देह नहीं है।

गोपीनाथाचार्य

महाप्रभु की नीलाचललीला के सन्दर्भ में गोपीनाथाचार्य का पर्याप्त गौरवपूर्ण स्थान है। व्यक्तिगत रूप से उनके विशारद के जामाता तथा सार्वभौम भट्टाचार्य के भगिनीपति होने पर भी सार्वभौम के वेदान्ती मत से उनका मेल नहीं है। वे चैतन्य-विश्वासी हैं । चैतन्य देव के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा का ही परिणाम है कि चैतन्य के लिए प्रतिकूल उक्ति करने वाले सार्वभौम से भी वे असन्तुष्ट हो जाते हैं एवं उस अपमान रूपी वज्र से तिलमिलाकर वे उसका प्रतिकार ही चाहते हैं[4]। उनके लिए श्रीचैतन्य साक्षात् परमेश ही हैं अतः जो महाप्रभु की महिमा से अनभिज्ञ हैं, उनसे उनका विरोध है।

सामान्य मानव रूप में भी गोपीनाथ का सुन्दर चित्रण किया गया है। तत्कालीन आस्थानुसार वे अक्षि-स्पन्दन आदि को स्वीकृति देते हैं तथा श्रेष्ठ-जन दर्शन को उस शुभ शकुन का फल मानते हैं[5]। सामान्य शिष्टाचार का बोध पर्याप्त मात्रा में है अतः सार्वभौम

---

[1] भक्तियोगो मुरारेर्निष्कामो यः स हि भगवतोऽनुग्रहेणैव लभ्यः । वही, पृ० 121

[2] अतो मूर्तानन्द एव कृष्ण इति शास्त्रार्थः । वही, पृ० 122

[3] सदैव धीरा विनयैकभूषणा...। वही, पृ० 132

[4] भट्टाचार्यवाग्वज्रमद्यापि मे हृदयं कृन्तति । यदि परमकारुणिकेन भगवता तदुद्ध्रियते तदैव मे मनो निर्वाति । वही, पृ० 112

[5] वही, पृ०108

से वे आगे बढ़कर चैतन्यदेव का स्वागत करने का अनुरोध करते हैं[1]।

नीलाचल-वासी होने पर भी गोपीनाथाचार्य महाप्रभु की नवद्वीप-लीला में अनुरक्त रह चुके थे[2]। अतः उनके मन में भक्तिलता पुष्पित-पल्लवित हो चुकी थी। यद्यपि प्रतिकार की भावना वैष्णवोचित नहीं है तथापि गोपीनाथ के चैतन्य-प्रेम को देखते हुए सार्वभौम द्वारा किये गये चैतन्य के अपमान से दुःखी होकर उनका रोदन करना तथा भोजन न करना[3] आदि कुछ भी अस्वाभाविक नहीं लगता। स्वच्छ हृदय की यही प्रतिक्रिया नाटककार के कल्पित जगत् से उतार कर गोपीनाथ को रक्त, मांस, मज्जा से निर्मित मानव के स्तर पर ला खड़ा करती है।

रामानन्दराय

रामानन्दराय के चित्रण में नाटककार पुनः धरती से उठकर भावजगत् में पहुँच गए हैं। श्रीचैतन्य के सिद्धान्तों के व्याख्याता के रूप में विख्यात रामानन्दराय का पाण्डित्य तो उनके कथोपकथन से ज्ञात होता है और नाटककार की अभीष्ट भक्ति का प्रचार भी सम्भव हो जाता है परन्तु इससे राय महोदय का चित्रण स्वाभाविक नहीं बन पाता है। भक्त के रूप में कर्णपूर ने रामानन्द को बहुत उन्नत आसन पर रखा है[4] पर मञ्च पर उसका आगमन अल्प समय के लिए ही होता है। नवमाङ्क में वे श्रोता के रूप में ही विराजित होते हैं। नाटककार यदि विचक्षणता से कार्य करते तो इसी अल्पावधि में भी रामानन्द का उच्चतर राजकीय पदाधिकारी तथा सामान्य रूप में भी चित्रण कर सकते थे परन्तु नाटककार ने अवसर का लाभ नहीं उठाया अतः उनका यह अपूर्ण चित्र ही नाटक में रह गया है।

गजपति प्रतापरुद्र

उत्कल-इतिहास के प्रसिद्ध व्यक्ति प्रतापरुद्र अपने समकालीन चैतन्य की कृपा से वञ्चित नहीं रहे। नाटककार ने उनका चित्रण सामान्यापेक्षा कुछ अधिक सजगता तथा सहृदयता से किया है फिर भी रामानन्द के समान राजा का चित्रण भी प्रायः एकाङ्गी ही रह गया है क्योंकि उनकी भक्ति-स्रोतस्विनी ही सर्वव्यापिनी प्रतीत होती है। प्रजा के दण्ड-मुण्ड के कर्ता का रूप गौण ही रह गया है। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर उनमें रामानन्द

---

1 वही, पृ० 109

2 यः खलु भगवतो नवद्वीपविलासविशेषाभिज्ञो युष्मद्विध इव । वही, पृ० 107

3 मुकुन्दः -देव, आचार्येण तदवधि तेन वाक्स्फुलिङ्गनिकरेण दन्दह्यमानहृदयेन स्थीयते । महाप्रसादोऽपि नाद्य स्वीकृतोऽस्ति । वही, पृ० 114

4 श्रीकृष्णचैतन्यः-सार्वभौम, एतावद्दूरं पर्यटितं, भवत्सदृशःकोऽपि न दृष्टः, केवलमेव रामानन्दरायः। स तु अलौकिक एव भवति। वही, पृ० 137

की अपेक्षा अधिक वैशिष्ट्य दृष्टिगोचर होता है।

दक्षिण से प्रत्यागत चैतन्यदेव की अलौकिक शक्ति के विषय में तथा सार्वभौम के समान प्रख्यात वेदान्ती के भक्ति मार्ग में रूपान्तर को जानकर राजा का महाप्रभु के दर्शन के लिए लालायित होना स्वाभाविक ही था परन्तु उनकी यह लालसा उत्सुकता मात्र न रही वरन् उसने उनके हृदय में प्रगाढ़ अनुराग को अङ्कुरित कर दिया। परिणामतः देव द्वारा अस्वीकृति दिए जाने पर भी उन्होंने प्राण परित्याग स्वीकार किया पर प्रभु-प्रेम से वञ्चित रहना उचित नहीं माना। उनकी यह राजोचित चारित्रिक दृढ़ता दृष्टि को आकर्षित करने वाली है। सार्वभौम द्वारा सुझाव दिए जाने पर अहङ्कार विसर्जन जैसी कठिन परीक्षा में भी वे सरलता से उत्तीर्ण हो जाते हैं तथा प्रभु-चरणों का आश्रय प्राप्त कर लेते हैं।

सम्पूर्ण नाटक में सम्भवतः राजा प्रतापरुद्र ही एक ऐसे मानवीय धरातल के व्यक्ति हैं जिनके साथ सामान्य पाठक सहज रूप से तादात्म्य स्थापित कर लेता है तथा उनकी आकुलता को अपनी ही आकुलता के रूप में ग्रहण कर पाता है। राजा होने के कारण भक्तजनों के समान वह गुण्डिचा-यात्रा में सम्मिलित नहीं हो सकते हैं। अतएव उनके लिए अपना भूपत्व भी गर्हणीय बन गया है[1]।

गौड़ागत चैतन्य-प्रियजनों का वे इतना सम्मान करते हैं कि अपने परिवार के लिए निर्धारित उत्सव देखने के स्थान को उन भक्तों के लिये दे देते हैं जिससे वे निश्चिन्त होकर स्नान-यात्रा महोत्सव का आनन्द ले सकें।

राजा यह जानते थे कि चैतन्य महाप्रभु राजकीय व्यवस्था को सरलता से ग्रहण नहीं करेंगे अतः चैतन्य के मथुरागमन के समय मार्ग में सभी व्यवस्था राजा की ओर से किए जाने पर भी महाप्रभु को यही सङ्केत दिया गया कि वह सब कुछ रामानन्दराय कृत व्यवस्था थी[2]। राजा ने प्रभु की निःस्वार्थ भाव से सेवा की तथा यश की भी कामना नहीं की। राजा की यही छोटी-छोटी विशेषताएं उसके चरित्र को उज्ज्वल एवं सामान्य से विलक्षण बनाती हैं ।

शची माता

'चैतन्यचन्द्रोदय' प्रायः नारी-विहीन नाटक है। मूर्त नारी पात्रों में केवल शची माता का चित्रण कुछ विस्तार से हुआ है। यद्यपि चैतन्य-मान्यता के अनुरूप कर्णपूर ने नारी के प्रति अनास्था को व्यक्त किया है तो भी शची के चित्रण में वे अलौकिक धरातल से मानवीय धरातल पर आ गये हैं। अन्य चरित्रों की तुलना में शची देवी पर्याप्त स्वाभाविक चित्रित हुई हैं।

---

[1] राजा-धिग् भूपत्वम् । कदाहमेषां मध्ये यः कश्चिदेव भवन् भगवन्तमनुव्रजामि । वही, पृ० 195

[2] भगवांस्तु रामानन्दस्य कृतिरियमित्येव जानाति । वही, पृ० 167

नाटक में यद्यपि परमेश पुत्र के प्रति भक्ति भावना रखने वाली ममतामयी माता शची देवी के मानसिक द्वन्द्व को बहुत सूक्ष्म रूप से विश्लेषित नहीं किया गया है फिर भी दोनों भावों से उद्वेलित नारी का चित्रण सुन्दर है। चैतन्य के 'स्वानन्दावेश' के अवसर पर शची देवी का परिचय एक सामान्य माता के रूप में मिलता है जो अपने पुत्र में अनायास हुये परिवर्तन का कारण मित्रों को समझकर उन्हें दोषी ठहराती हैं। भगवान् की दृष्टि में शची भागवत-अपराधी होने पर भी सहृदय की दृष्टि में वात्सल्यमयी माता हैं। चैतन्य की भगवत्ता से परिचित होने पर सीमित मातृभाव का परित्याग करके वे भक्त-रूप में परिणत हो जाती हैं तथा देवकी आदि से भी उच्च पद को प्राप्त करती हैं[1]। कालान्तर में उनका मातृरूप भक्तरूप पर आच्छन्न हो जाता है। यही कारण है कि चैतन्य के अग्रज विश्वरूप के संन्यासी बन जाने के कारण शोक सन्तप्त शची पुत्र की संन्यासि-प्रीति से चिन्तित हो उठती हैं[2]। यहाँ चिरन्तन माता के सन्तान के प्रति चिन्ताकुल हृदय की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है। वत्सलता की मूर्ति होने पर भी उनका वात्सल्य कर्तव्य के मार्ग में प्रतिरोधक नहीं बना, यही शची के चरित्र का वैशिष्ट्य है। संन्यासी के अपने परिवार के साथ बंध कर रहने में धर्म-दोष तथा निन्दा की सम्भावना होती है। शची अपने सुख के लिये पुत्र की इतनी बड़ी क्षति नहीं करवा सकती अतः वे उसे नीलाचल जाने की अनुमति दे देती हैं[3]।

नाटककार ने शची की दूरदृष्टि का परिचय भी दिया है । पुत्र के संन्यास-ग्रहण की पहले से आशङ्का होना तथा उसके नीलाचल-वास में पुनर्मिलन की सम्भावना इसी दूरदृष्टि की परिचायक है । धैर्य भी उनका एक अन्य गुण है परन्तु सब गुणों से ऊर्ध्व उनका स्नेहिल व्यक्तित्व है जो पुत्र के साथ उसके साथियों की भी सुख-सुविधा का ध्यान रखता है। शान्तिपुर से आये अद्वैत के भोजन तथा आवास की व्यवस्था शची द्वारा की जाती है। उनका सम्मान पार्षदों में इतना अधिक है कि उनकी बात को श्रुतिप्रतिपादित तथ्य के समान अकाट्य माना जाता है[4]।

स्पष्ट है कि भक्ति भावना के प्रभाव से जहाँ अधिकतर अन्य चरित्र कृत्रिमता से बच नहीं पाये हैं वहीं शची का चित्रण स्वाभाविक तथा जीवन्त बना है। शची के अतिरिक्त आचार्यरत्न की पत्नी, प्रतापरुद्र-महिषी तथा एक किन्नरी ये अन्य नारी पात्र हैं किन्तु उनके चित्रण में नाटककार पूर्ण उदासीन रहे हैं।

---

[1] यद्यपीशधिषणा तनयेऽभूद्देवकस्य दुहितुर्न तथापि ।
भक्तिरीदृगजनिष्ट यदेषा पुत्रपद्युगजिघृक्षुरिहासीत् ।। वही, पृ० 22

[2] कम्मेदि मे हिअअं सण्णासीणाममेत्तेण । अस्स अग्गएणाहं पढाइदा । वही, पृ० 70

[3] धम्मदोसो होई तदो अप्पणो सुहकए तस्स खलअणकिदा किंवदन्ती कधं करणिज्जा। वही, पृ० 100

[4] अस्माभिरिदं श्रुतिप्रतिपादितमिव खण्डितुं न शक्यते भवद्वचः । वही, पृ० 101

पौराणिक पात्र

नाटक के तृतीय अङ्क में अभिनीत 'दान-विनोद' नामक गर्भाङ्क में लेखक ने कतिपय पौराणिक पात्र यथा श्रीकृष्ण, राधा, योगमाया, ललिता, सुबल, कुसुमासव, नारद आदि का चित्रण किया है । इनके चित्रण में नाटककार ने किसी विशेष मौलिकता का समावेश नहीं किया है। यही कारण है कि भागवतीय कथा से इनके चित्रण में कोई नूतनता अथवा वैशिष्ट्य नहीं है।

वह उपाख्यान जो अपनी सतही कहानी के साथ एक्र दूसरे अर्थ को भी धारण करता है, प्रतीक कहलाता है। ऐसे प्रतीकात्मक काव्यों के चरित्र प्रायः अमूर्त भावों के मूर्त रूप होते हैं[1] । अमूर्त भावों के साथ अचेतन पदार्थों तथा व्यक्तिगत गुणों का मानवीकरण भी प्रतीकात्मक काव्यों का विषय होता है[2] । यद्यपि इस प्रकार के प्रतीकात्मक चरित्रों से युक्त काव्य को संस्कृत आचार्यो ने किसी स्वतन्त्र साहित्यिक विधा के अन्तर्गत विभाजित नहीं किया है तथापि सुदूर प्राचीन काल से संस्कृत साहित्य में प्रतीकात्मक तत्त्वों का प्रयोग होता रहा है । उदाहरणस्वरूप कृष्णयजुर्वेद में वाक्, मन, प्राण आदि के मूर्त प्राणी के समान अपनी सभी उत्कृष्टताओं को प्रतिपादित करने के उपाख्यान में इसी प्रकार अमूर्त इन्द्रियों का मानवीकरण हुआ है[3] । प्रतीकात्मकता काव्य की प्रत्येक विधा, गद्य, पद्य तथा नाटक में हो सकती है परन्तु ऐसे प्रतीकात्मक काव्यों में केवल अचेतन का मानवीकरण पर्याप्त नहीं होता है, वरन् उसके साथ कथ्य विषय का होना भी आवश्यक है। कथ्य विषय के अभाव में प्रतीकात्मक काव्य का भी अस्तित्व नहीं बन सकता है[4]। ऐसे प्रतीकात्मक काव्यों के अन्तराल में नैतिक उपदेश प्रायः प्रेरक तत्त्व रहा है। नाटकों में, विशेषकर इसी हेतु, इस तत्त्व का प्रचलन हुआ क्योंकि नाटक के माध्यम से मञ्च पर जिसका प्रस्तुतीकरण किया जाता है वह सम्पूर्ण तथा अधिक आकर्षक बन जाया करता है[5] ।

प्रतीकात्मक नाटक का सर्वप्रथम निदर्शन अश्वघोष का शारिपुत्रप्रकरण नामक खण्डित रूपक है[6] । इसमें प्रतीकात्मक पात्र यथा बुद्धि, कीर्ति, धृति आदि का मञ्च पर आना तथा परस्पर कथोपकथन करना दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणस्वरूप 'बुद्धिः-यथा

---

[1] Backson & Ganz, A Reader's Guide to Literary Terms, p. 12

[2] Krishnamachariar, HCSL, p. 675

[3] द्र० तैत्तिरीय संहिता 2/5/11

[4] A Concise Cambridge History of English Literature, p. 124

[5] Varadachari, HSL, p. 163

[6] Keith, Sanskrit Drama, p. 84

तत् अपि च नित्यं ससुप्त इव यस्य न बुद्धिरस्ति नित्यं स मत्त इव यो धृतिविप्रहीन...।'[1]

अस्तु, अश्वघोष ने जिस बीज का रोपण किया था, उसी का परिणत महीरुह कृष्णमिश्र का 'प्रबोधचन्द्रोदय' नाटक है । इसमें सभी अमूर्त पात्रों यथा विवेक, प्रबोध, विष्णुभक्ति आदि का प्रयोग हुआ है[2]।

कविकर्णपूर रचित 'चैतन्यचन्द्रोदय' को 'प्रबोधचन्द्रोदय' की परम्परा में प्रतीकात्मक नाटकों की कोटि में रखा गया है[3]। 'चैतन्यचन्द्रोदय' में 'प्रबोधचन्द्रोदय' के समान सभी पात्र प्रतीकात्मक नहीं हैं वरन् चैतन्य तथा उनके पार्षदों के साथ कतिपय प्रतीकात्मक पात्रों को नाटक में स्थान दिया गया है। ये प्रतीकात्मक पात्र अन्य पात्रों के साथ कथोपकथन भी नहीं करते हैं। वस्तुतः 'चैतन्यचन्द्रोदय' में नाटककार ने चैतन्य तथा उनके पार्षदों के अतिरिक्त श्रीकृष्ण, नारद, योगमाया, राधा आदि कतिपय पौराणिक पात्रों के साथ कुछ प्रतीकात्मक पात्रों का समावेश भी किया है।

चैतन्यचन्द्रोदय के प्रतीकात्मक पात्रों को निम्नलिखित कोटियों में रखा जा सकता है (1) व्यक्तिगत गुण यथा विराग, भक्ति, मैत्री, प्रेमभक्ति (2) अचेतन प्राकृतिक उपादान यथा रत्नाकर तथा भागीरथी (3) अमूर्त भाव यथा अधर्म (4) समय का प्रतीक कलि। इन्हीं के अलग-अलग चारित्रिक विश्लेषण से कर्णपूर के चरित्र-चित्रण की कला पर कुछ अधिक प्रकाश पड़ सकेगा।

विराग

मानव मन के 'विराग' नामक भाव को एक पुरुष पात्र के रूप में नाटक के द्वितीय अङ्क में मञ्च पर प्रवेश करवाया गया है। वहाँ उसका भक्तिदेवी से दीर्घ कथोपकथन होता है जिसका परिणाम यह होता है कि नाटक का दर्शक अथवा पाठक चैतन्य के सम्बन्ध में अनेक महत्त्वपूर्ण समाचारों को जान लेता है, यथा श्रीचैतन्य की सङ्कीर्तन-प्रियता, मुसलमान दर्जी का उद्धार आदि। विराग के विषय में केवल दो ही सूचनाएं मिलती हैं कि वह संयमी व्यक्तियों का प्राणतुल्य है तथा चैतन्य नित्य-विलास करने पर भी वैराग्य के आश्रय हैं अतः विराग के रक्षक बनेंगे। इससे पूर्व विराग के स्वगत कथन से तत्कालीन धार्मिक दुरवस्था का ही बोध होता है, विराग का चारित्रिक विकास नहीं होता है। उसका मञ्च पर आगमन तो केवल भक्ति के कथन का श्रोता बनने के लिये हुआ है।

भक्तिदेवी

द्वितीय अङ्क का दूसरा प्रतीकात्मक पात्र भक्तिदेवी है। यद्यपि विराग के साथ

---

[1] प्रतीक नाटक, संस्कृत साहित्य सम्भार, प्र० सम्पादक डा० गोरीनाथ शास्त्री, खण्ड 11, पृ० 15

[2] कृष्णमिश्र, प्रबोधचन्द्रोदय

[3] Varadachari, HSL, p. 163

कथोपकथन के माध्यम से वह नायक की अलौकिकता को ही स्थापित करती है तथापि इसी सन्दर्भ में उसका कुछ विस्तृत परिचय मिल जाता है। विराग के शब्दों में भक्ति अन्तःकरण को प्रसन्न करती है । इन्द्रियों को पवित्र बनाती है । अर्थ तथा काम का तो कहना ही क्या, वह मोक्ष को भी तुच्छ कर देती है। प्राणियों को आनन्द सागर के विवरों में निमज्जित करती हुई तत्काल ही उनको कृतार्थ कर देती है[1]। इस वर्णन से भक्ति के क्रिया-कलापों का बोध हो जाता है। इसके अतिरिक्त ज्ञात होता है कि भक्त के वेश में भगवान् चैतन्य भक्ति रूपी अङ्ग-प्रत्यङ्गों के साथ आविर्भूत हुये हैं। उन भगवान् की कृपा से ही भक्ति चाण्डालों को पवित्र करेगी, समस्त मालिन्य को दूर करेगी, अत्यन्त दृढ़ संस्कारों का छेदन करेगी। भगवान् के कृपा-कटाक्ष से वह लोगों के हृदय में रस-भाव फैलायेगी[2]। यहाँ यह भी स्पष्ट किया गया है कि भगवान् की कृपा के बिना भक्ति की स्वतन्त्र रूप से कोई सामर्थ्य नहीं होती है। कर्णपूर ने भक्ति के उदय के कारण को एक पारिवारिक रूपक में बांध कर नाटक में उपस्थित किया है। तदनुसार 'भगवदनुग्रह' नामक पिता तथा 'भगवज्जनासक्ति' नामक माता से विवेक पुत्र तथा भक्ति नामक कन्यायें उत्पन्न हुई[3]।

नारी रूप में चित्रित भक्ति के वर्णन से वैष्णव-दर्शन की सैद्धान्तिक-भक्ति की मान्यता पर स्पष्ट प्रकाश पड़ता है। चैतन्य का आविर्भाव शुष्क वेदान्त आदि का निषेध करके भक्तियोग की स्थापना के लिये हुआ था। इस भक्ति मार्ग में पुरानी रूढ़िगत जाति-पाँति की भावना को समाप्त कर प्रेममार्ग को ही महत्त्व दिया गया था। भक्ति के मार्ग पर प्रवर्तित होने के लिये ईश्वर की कृपा को सर्वप्रथम तथा प्रधान हेतु स्वीकार किया गया है[4]। इन सब मान्यताओं की स्थापना भक्ति के चरित्र-चित्रण के माध्यम से अनायास हो गई है।

पहले कलि के प्रकोप से विराग के लिए चिन्तित होना तथा तदनन्तर उससे मिलकर

---

[1] अन्तःप्रसादयति शोधयतीन्द्रियाणि मोक्षं च तुच्छयति किं पुनरर्थकामौ ।
सद्यः कृतार्थयति सन्निहितैव जीवानानन्दसिन्धुविवरेषु निमज्जयन्ती ।।
नाटक, पृ० 27

[2] पुनीमश्चाण्डालनपि खलु धुनीमोऽखिलमलं
लुनीमः संस्कारानपि हृदि तदीयानतिदृढान्।
कृपादेवी तस्य प्रकटयति दृक्पातमिह चे-
त्तदा तेषामन्तः कमपि रसभावं च तनुमः।।
वही, पृ० 28

[3] भगवदनुग्रहनामा जनको भगवज्जनासक्तिः जननी तयोस्तु समयेऽजनिषत भूरीण्यपत्यानि।।
एको विवेकनामा तनयो बह्व्यस्तु भक्तिसंज्ञिकाः कन्याः । वही, पृ० 43

[4] तस्य कृपादेवीं विना स्वातन्त्र्येण भवतीनां तथा सामर्थ्यं न विद्यते । वही, पृ० 28

वात्सल्यपूरित हृदय से उसका स्वागत करना[1] क्षण भर के लिये भक्ति को अमूर्त से संवेदनशील मानवी की श्रेणी तक पहुँचाता है पर यह सामयिक वैशिष्ट्य नाटक में उसके चरित्र को पूर्णतया उज्ज्वल नहीं बना सका है।

प्रेमभक्ति

प्रतीकात्मक पात्रों में प्रेमभक्ति महत्त्वपूर्ण है। अपनी वंशज मैत्री के साथ कथोपकथन में वह अपना वंश-परिचय देती है । तदनुसार 'भगवदनुग्रह' नामक पिता तथा 'भगज्जनासक्ति' नामक माता से विवेक नामक पुत्र तथा भक्ति नामक कन्यायें उत्पन्न हुईं। भक्ति सरस तथा नीरस भेद से दो प्रकार की हुई। उनमें से सरस भक्ति गुणों के योग से दस प्रकार की हुई। इनमें से उज्ज्वल, अद्‌भुत, शम, हास, प्रेम तथा वत्सल भावों के आश्रय से छः प्रकार की भक्ति उत्तम कहलाई[2]। उनमें से प्रेमरसभक्ति श्रेष्ठ है[3]। समुद्र में तरङ्गों के समान इस प्रेमभक्ति में सभी रस उन्मज्जित तथा निमज्जित होते हैं। यह अखण्डानन्द है[4]। प्रेमभक्ति की उत्पत्ति का विशद विवेचन करने के अतिरिक्त नाटककार ने श्रीचैतन्य के साथ उसके सम्बन्ध को भी स्पष्ट किया है। उसके अनुसार प्रेमभक्ति के समान सभी भक्तियों का आश्रय स्वयं भगवान् विश्वम्भर हैं। लीलामय भगवान् की लीला का आस्वादन करने के लिये भक्तों के हृदय का पवित्र होना आवश्यक है। प्रेमभक्ति ही भक्तों के हृदय को मालिन्यरहित करती है[5]। स्पष्ट है कि भगवान् तथा प्रेमभक्ति का प्रगाढ़ सम्बन्ध है।

सैद्धान्तिक रूप से यद्यपि कर्णपूर ने प्रेमभक्ति का विशद विवेचन किया है परन्तु उसे नाटक में जो एक पात्र के रूप में उपस्थित किया गया है, उस दृष्टि से उसका चारित्रिक विकास नहीं हुआ है।

मैत्री

अन्य प्रतीकात्मक नारी पात्र मैत्री है जिसे कलि के परिजनों ने सन्त्रस्त कर दिया है। विवेक तथा मति के मिलन से कन्या अनसूया उत्पन्न होती है उसी का समभाव से मिलन होने पर मैत्री का जन्म होता है। अतः मन का एक स्वस्थ भाव मैत्री है। नाटककार ने उसके मातामह, मातामही तथा माता-पिता के रूप में मैत्री के जनक अन्य अच्छे भावों का उल्लेख किया है। वस्तुतः विवेक तथा मति के होने पर ही असूया जैसे निम्न कोटि के

[1] वही, पृ० 27

[2] वही, पृ० 43-44

[3] चरमा हि पेम्मरसभत्ती । वही, पृ० 44

[4] सर्वे रसाश्च भावाश्च तरंगा इव वारिधौ ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेमसंज्ञकः।....सोऽखण्डानन्द उच्यते ।
वही, पृ० 44

[5] अस्माकमाश्रयभूतस्य भगवतः कस्यापि श्री विश्वम्भरस्य विहितसर्वांवतारलीलस्य संप्रति वृन्दावनेश्वरीमनुचिकीर्षारनुज्ञया सकललोकस्य हृदयशोधनाय साधयामि । वही, पृ० 44

भाव नष्ट होते हैं। तभी मन में समभावना आ सकती है। अनसूया तथा समभाव से ही मैत्री सम्भव हो सकती है। इन सबके मूल में प्रेमभक्ति की उपस्थिति तो अनिवार्य ही है।

अधर्म

प्रतीकात्मक पात्रों में महत्त्वपूर्ण पात्र है अधर्म। कलियुग में धर्म का विनाश होने पर अधर्म का विस्तार हुआ करता है । अतः उसे कलि के प्रधान सहायक एवं मित्र-रूप में दिखलाया गया है । अधर्म इतना सशक्त है कि वह विवेकादि के साथ शौच, आचार, तप, क्षमा, शम, दम जैसे मन्त्रियों से सम्पन्न धर्म नृपति को मूल से नष्ट करता है । नाटककार का वर्णन-चातुर्य है कि उसने अधर्म को कलिराज के सहायक रूप में चित्रित किया है तो उसके विरोधी धर्म को नृपति तथा शौच, आचार आदि धार्मिक भावनाओं को सामन्तरूप में अङ्कित किया है। अधर्म के व्यक्तिगत जीवन में भी मृषा को उसकी पत्नी तथा दम्भ को पुत्र बतलाया गया है। सत्य के साथ अधर्म का सहवास नहीं हो सकता तथा वैष्णव धर्म में विनय महत्त्वपूर्ण है। अतः मृषा तथा दम्भ को अधर्म के साथ चिह्नित करना साभिप्राय है। प्रतीकात्मक पात्रों में अधर्म ऐसा पात्र है जिसमें कुछ चारित्रिक विकास का सङ्केत मिलता है । कलि पर हुए आक्षेप से वह सच्चे मित्र की भांति क्रुद्ध होता है। कलि के चैतन्य को भगवान् स्वीकार करने पर दम्भ के जनक के उपयुक्त उसका उपहास करता है। छिद्रान्वेषी के समान चैतन्य के प्रत्येक व्यवहार में काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि का अवस्थान खोजने में प्रयत्नशील रहता है और अन्ततः चैतन्य के देवत्व के विषय में निश्चित रूप से जानकर वह सशक्त प्रतिरोधी की सूचना से उत्पन्न कष्ट से आक्रान्त हो जाता है। हार कर भी हार न मानने वाले शत्रु के समान ऐसी विषम परिस्थिति में भी वह चैतन्य-दमन का उपाय सोचता है। उसके इस मनोवैज्ञानिक विश्लेषण के द्वारा लेखक ने नाममात्र से उसे मूर्त पात्र के रूप में प्रयोग नहीं किया है वरन् वास्तव में मानवीय भावनाओं का आरोपण भी उस पर किया है। अधर्म यद्यपि अभिलषणीय नहीं है तथा उसमें काम्य गुणों का भी समावेश नहीं हुआ तथापि सफल खलनायक के समान वह दर्शकों में अपने प्रति विरोधी भाव को जगाने में सफल हो जाता है और यही नाटककार के चरित्र-चित्रण की सफलता है।

कलि

यह मानव मन का कोई अमूर्त भाव नहीं है वरन् समय के एक विशेष भाग का प्रतीक है जिसे कलियुग के अधिष्ठाता के रूप में लिया जा सकता है। 'कलि' अमूर्त है जिसका कर्णपूर ने जीवन्त पात्र के रूप में चित्रण किया है । सम्पूर्ण नाटक से स्पष्ट है कि कलि चैतन्य का प्रतिरोधी है। इसको पराजित करके ही उन्हें भक्तियोग की स्थापना करनी है परन्तु अन्य अनेक चरित्रों के समान कलि के चित्रण में भी नाटककार असफल

रह गया है । प्रायः प्रारम्भ से ही कलि ने चैतन्य को देवरूप में स्वीकार कर लिया है। इस स्वीकृति में ही पराजय को मान लेना भी निहित है। कलि के चरित्र में जिस प्रकार की प्रतिरोध की भावना, सशक्त शत्रु की उपस्थिति में मानसिक द्वन्द्व, आशा-निराशा का मिश्रित अनुभव होना चाहिए, वह कुछ भी नहीं है। उसकी अपेक्षा सखा तथा सहायक अधर्म अधिक सशक्त चित्रित हुआ है। अन्य पात्रों के चरित्र-चित्रण के समान कलि के साथ भी नाटककार का पूरा न्याय न कर पाने का कारण यही है कि वे 'चैतन्य' की भगवत्ता को कहीं से भी आंच नहीं आने देना चाहते थे। कलि की दृढ़ता का अभिप्राय चैतन्य की सामयिक दुर्बलता होती अतः नाटककार ने कलि के चित्रण को भी अधूरा छोड़ दिया है।

गङ्गा तथा रत्नाकर

प्राकृतिक उपादान के रूप में गङ्गा तथा रत्नाकर का चित्रण हुआ है। वस्तुतः इन्हें प्रतीकात्मक पात्रों में नहीं लिया जाना चाहिए क्योंकि नदी आदि की गणना देवी-देवताओं के अन्तर्गत की जाती रही है। पृथ्वी का देवी के रूप में संस्कृत नाटकों में अनेकधा तथा उनके साथ गङ्गा, तमसा, मुरला आदि नदियों का भी क्वचित् उपयोग देखा जाता है[1]। प्रतीकात्मक की परिभाषा से स्पष्ट है कि वह अपने 'सतही' अर्थ के साथ दूसरे अर्थ को भी स्पष्ट करता है। देवी, देवता रूप में इन्हें लेने पर गङ्गादि से यह दूसरा अर्थ नहीं निकल सकता है। अस्तु, 'चैतन्यचन्द्रोदय' में चित्रित गङ्गा तथा रत्नाकर को पति-पत्नी रूप में लिया गया है। नाटककार का उद्देश्य इन दोनों के कथोपकथन के माध्यम से केवल चैतन्य के नीलाचल गमन के मार्ग की विस्तृत सूचना देना है। इस लक्ष्य-पूर्ति के अतिरिक्त इन दोनों चरित्रों का कोई विकास परिलक्षित नहीं होता है।

प्रतीकात्मक पात्रों के चरित्र-चित्रण के विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि ये अमूर्त पात्र केवल सैद्धान्तिक रूप से पात्र कहे जा सकते हैं। वास्तव में इनमें सचेतन प्राणी की संवेदना का अभाव है। नाटक के मूल कथानक पर इनके द्वारा कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। अतः इसे प्रतीकात्मक नाटक मानना उचित नहीं है। चरित्र-निर्माण की दृष्टि से तो ये अमूर्त पात्र असफल ही हैं यह तो स्पष्ट है।

---

[1] पृथ्वी के लिये द्रष्टव्य 'कुन्दमाला' एवं पृथ्वी, गङ्गा, मुरला तथा तमसा के लिये द्रष्टव्य 'उत्तररामचरित' नाटक।

पञ्चम परिच्छेद

चैतन्य चन्द्रोदय	–	रस विवेचन
चैतन्यचन्द्रोदय	–	अङ्गीरस
संस्कृत साहित्याचार्य	–	भक्तिरस
गौड़ीय वैष्णवाचार्य	–	भक्तिरस
भक्तिरस के आलम्बन	–	श्री कृष्ण तथा चैतन्य में ऐक्य
चैतन्यचन्द्रोदय में भक्ति रस		

पञ्चम परिच्छेद

चैतन्यचन्द्रोदय-रस विवेचन

काव्य तथा नाट्य में रस

काव्य दृश्य हो अथवा श्रव्य, उसका आह्लादक होना आवश्यक है। काव्यस्रष्टा कवि नियति के नियमों से रहित, सुख-दुःख तथा मोह से विलक्षण, एक मात्र आह्लादक, अनन्य-परतन्त्र तथा नौ रसों से रुचिर काव्य की रचना करते हुये सृष्टि प्रक्रिया में प्रजापति से श्रेष्ठ सिद्ध होता है।[1] यह विलक्षण काव्य-जगत् सहृदय पाठक को आनन्दमय परिवेश में निमज्जित करता है। इस अपार्थिव आह्लादकता अथवा आनन्दमयता को ही मम्मट ने 'परनिर्वृत्ति' कहा है जो सभी काव्य-प्रयोजनों में श्रेष्ठ तथा काव्य-पाठादि के तत्काल पश्चात् रसास्वादन से समुद्भूत होती है[2]। भक्त कविकर्णपूर ने तो लौकिक प्रयोजनों का निर्णय करके सान्द्रानन्द में निमज्जन को ही काव्य का परम लाभ माना है[3]। उनके अनुसार रस आनन्दधर्मा है[4]। अतः स्पष्ट है कि काव्य से अनुभूत अलौकिक आनन्द का आधार रस है।

'काव्य' पद 'साहित्य' का पर्याय होने के कारण काव्य में रस की अनिवार्यता की सिद्धि से ही रूपक में भी रस अपरिहार्य सिद्ध होता है। अभिनेय विषय में गत्यात्मकता होने के कारण घटनाओं की प्रधानता होती है। चरित्र चित्रण भी महत्त्वपूर्ण होता है तथापि रसहीन वस्तु योजना नाटक नहीं हो सकती है।

नाटक अभिनेय होने के कारण नेत्रों का विषय बन कर शीघ्र तथा अनायास ही सहृदयों के अनुभव की योग्यता को प्राप्त कर लेता है। इसलिये काव्य की अपेक्षा नाटक में रसास्वादन सरलता से होता है।

रस-निष्पति

---

[1] नियतिकृतनियमरहितां आह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम् ।
नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति ।
मम्मट, काव्यप्रकाश, 1/1

[2] सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतम् ......आनन्दम् । वही, पृ० 14

[3] ......सान्द्रानन्दलयस्तु यः स एव परमोलाभः ....। अलङ्कारकौस्तुभ, 1/9

[4] रसस्यानन्दधर्मत्वाद्.....। वही, 5/10

नाट्य रसों का विवेचन करते हुये भरत मुनि ने कहा है कि विभाव, अनुभाव तथा व्याभिचारि-भावों से परिवृत्त स्थायी भाव ही रस कहलाता है[1]। रस सूत्र की व्याख्या में उन्होंने संयोग तथा निष्पत्ति दो नये शब्दों का प्रयोग किया है यथा, 'विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है[2]।' उनके 'संयोग' तथा 'निष्पत्ति' इन दोनों शब्दों की व्याख्या के आधार पर उत्पत्तिवाद, अनुमितिवाद, भुक्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद का प्रवर्तन हुआ है, इनमें से अभिनवगुप्त का 'अभिव्यक्तिवाद' परवर्ती आचार्यों द्वारा समर्थित हुआ है। वैष्णव आलङ्कारिक भी रस-निष्पत्ति के क्षेत्र में अभिव्यक्तिवाद के ही समर्थक हैं। अतः 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक के रस के सन्दर्भ में अभिव्यक्तिवाद का संक्षिप्त विवेचन अनुचित न होगा।

अभिव्यक्तिवाद के आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार वे सहृदय सामाजिक काव्य रस के आस्वादक हैं, जो अपने सांसारिक अनुभवों से उन-उन लौकिक रसों के ललना आदि कारणों के द्वारा स्थायी भाव का अनुमान करने में पारङ्गत होते हैं। लोक के ललना आदि कारण काव्य के क्षेत्र में अलौकिक विभावादि हो जाते हैं। विभावन अर्थात् स्थायी भाव को आस्वादन की योग्यता तक लाने की सामर्थ्य होने के कारण ही उन्हें विभावादि नाम से पुकारा जाता है। इन विभावादिकों के विषय में ममत्व, परत्व तथा ताटस्थ्य इन तीन सांसारिक सम्बन्धों के निषेध होने पर केवल साधारण रूप में ही इनकी अनुभूति होती है। सामाजिक में रहने वाला स्थायी भाव भी साधारणीकृत हो जाती है तथा इन साधारणीकृत विभावादिकों के द्वारा शृङ्गारादि रस-रूपता को प्राप्त करते हैं। रसास्वादन काल में यदि सहृदय अपने सीमित स्थायी भाव में आबद्ध रहेगा तो उसे रसानुभूति नहीं हो सकती है क्योंकि तब अपनी व्यक्तिगत सीमाओं के कारण वह लज्जा, घृणा अथवा द्वेष आदि का ही अनुभव करेगा परन्तु साधारणीकृत होने पर रसास्वादन में किसी प्रकार का कोई अन्तराय नहीं रहता है। अभिव्यक्तिवाद में संयोग को व्यङ्ग्य-व्यञ्जक सम्बन्ध तथा निष्पत्ति को 'अभिव्यक्ति' के रूप में लिया गया है[3]।

अभिनवगुप्त ने इन रसों को अलौकिक तथा चमत्कारात्मक माना है क्योंकि रसाभिव्यक्ति के कारण विभावादि लौकिक निमित्त-कारण आदि से विलक्षण होते हैं। विभावादि की स्थिति पर्यन्त ही रस बना रहता है। रसास्वादन में विभावादि का मिला जुला बोध होने के कारण इसे प्रपाणक रस के समान माना गया है[4]।

मम्मट, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ आदि आचार्यों के रसविषयक सिद्धान्त

---

[1] विभावानुभावव्यभिचारिपरिवृतः स्थायी भावो रसनाम लभते । नाट्यशास्त्र, 7, पृ० 93

[2] विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः । वही, 6, पृ० 82

[3] काव्यप्रकाश, 4, पृ० 108-109

[4] वही, पृ० 109

अभिनवगुप्त के 'अभिव्यक्तिवाद' पर ही आधारित हैं[1]।

अद्वैत वेदान्ती होने पर भी भक्ति रस का प्रतिपादन करने वाले मधुसूदन सरस्वती के अनुसार विभाव, अनुभाव तथा व्याभिचारी भावों के संयोग से अभिव्यक्त हुआ एवं सभ्य (सहृदय) में रहने वाला स्थायी भाव ही सभ्य और अभिनेय का भेद समाप्त हो जाने पर परमानन्द साक्षात्कार रूप में रसता को प्राप्त होता है[2]।

कविकर्णपूर का रसविषयक कुछ नूतन योगदान होने पर भी रससाक्षात्कार की परिपाटी में अभिनवगुप्त से उनका साम्य दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने रति आदि को ही आनन्द रूप में स्वीकार किया है। विभावादि के बोध के समय जिस रति का साक्षात्कार होता है, वही रति बाद में रस रूप हो जाती है। रस साक्षात्कार के कारण विभावादि हैं। उन विभावादि साधनों से आविर्भूत चमत्कारी सुख ही रस है। इस रस के उदय के समय बाह्य इन्द्रियां तथा अन्तरिन्द्रियां रसानुपयोगी पदार्थों के विषय में व्यापारशून्य हो जाती हैं अर्थात् रस-साक्षात्कार के समय इन्द्रियों को विभावादि का ही भान होता है । बाह्य पदार्थों से सम्बन्धित ज्ञान को ग्रहण करने में वे पूर्णरूपेण असमर्थ होती हैं[3]।

कर्णपूर ने आनन्दधर्मता को ही रस रूप माना है[4]। अभिनवगुप्त के समान इनके द्वारा प्रतिपादित चामत्कारिक सुख लौकिक-सुख से विलक्षण ही है। विगलित वेद्यान्तर के समान ही कर्णपूर के अनुसार आनन्दानुभूति के क्षण में व्यक्ति अपनी सीमित परिधि के बाहर आ जाता है। रसास्वाद के काल में ब्रह्मानन्द में निमग्न योगी के समान ही सहृदय सामाजिक का बाह्येन्द्रिय का व्यापार समूह स्थगित हो जाता है।

वैष्णव-सम्प्रदाय के सर्वप्रसिद्ध पण्डित श्रीरूप ने 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में अभिनवगुप्त के अभिव्यक्तिवाद के अनुरूप ही रस-तत्त्व का विवेचन किया है। यह ठीक है कि श्रीरूप के अनुसार श्रीकृष्ण-विषयक रति के अतिरिक्त अन्य किसी स्थायि-भाव की स्थिति भक्त के हृदय में होती ही नहीं है फिर भी ध्वनिवादी आचार्य के समान उन्होंने उस संस्काररूप आनन्दात्मिका रति की स्थिति भक्त-हृदय में शाश्वत स्वीकार की है। यही आनन्दमयी रति कृष्णादि को विभावादि में परिणत करती है और प्रौढ़ानन्द की चमत्कारकारी पराकाष्ठा

---

[1] (अ) काव्य प्रकाश, 4/27-28 (ब) साहित्यदर्पण, 3/2-3 (स) रसगङ्गाधर, प्रथमानन,पृ० 87

[2] विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगेनभिव्यक्तः स्थायिभाव एव सभ्याभिनेययोर्भेदतिरोधानेन सभ्यगत एव सन् परमानन्दसाक्षात्काररूपेण रसतामाप्नोतीति रसविदां मर्यादा।
भगवद् भक्तिरसायनम् , वृत्ति, पृ० 44

[3] बहिरन्तःकरणयोर्व्यापारान्तररोधकम्। स्वकारणादि संश्लेषि चमत्कारी सुखं रसः।।
अलङ्कारकौस्तुभ, 5/12

[4] वही, पृ० 37

को प्राप्त हो जाती है एवं भक्ति रस की संज्ञा से अभिहित होती है।

नाटक के अङ्ग तथा अङ्गीरस

नाट्यशास्त्र में यद्यपि नाट्य-रस के रूप में शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स तथा अद्भुत, इन आठ रसों की गणना की गई है[1] तथापि नाट्याचार्यों ने इनमें से शृङ्गार अथवा वीर को ही अङ्गी रस के रूप में स्वीकार करने का निर्देश दिया है। अन्य रसों को अङ्ग अर्थात् सहायक रसों के रूप में ग्रहण करना चाहिये तथा निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस की योजना करनी चाहिए[2] जैसे कालिदास रचित अभिज्ञानशाकुन्तलम् में शृङ्गार रस अङ्गी है। दुष्यन्त तथा शकुन्तला के माध्यम से उसके सम्भोग तथा विलम्भ, दोनों भेदों का सुन्दर परिपाक हुआ है। शृङ्गार रस के साथ ही इस नाटक के विभिन्न अङ्कों में हास्य, करुण, वीर, भयानक आदि रसों की योजना हुई है। नाटक के अन्तिम अङ्क में अर्थात् निर्वहण सन्धि के प्रसङ्ग में अद्भुत रस का अच्छा परिपाक हुआ है।

आवश्यक नहीं है कि संस्कृत नाट्य-साहित्य का प्रत्येक नाटक ही नाट्यचार्यों द्वारा निर्धारित इस रस-विवेचन की पद्धति का अनुसरण करता हो। भवभूति का प्रसिद्ध नाटक 'उत्तररामचरितम्' इस नियम का जाज्वल्यमान अपवाद है। राम-सीता के कथानक को [illegible]नकर लेखक ने अपने नाटक में प्रधान रूप से करुण रस की योजना की है। इस प्रकार [illegible] अपवाद साहित्य-क्षेत्र में विरल नहीं होते हैं।

'चैतन्यचन्द्रोदय' में अङ्गी-रस

नाट्याचार्यों द्वारा नाटक का निर्धारित अङ्गी रस शृङ्गार अथवा वीर है। नारी-पुरुष के पारस्परिक रति भाव का परिपाक शृङ्गार-रस कहलाता है[3]। 'चैतन्यचन्द्रोदय' को नायिका विहीन ही नहीं, प्रायः नारी-विहीन नाटक कहा जा सकता है। अलौकिक नायक का लोकोत्तर चित्रण इसमें वर्णित है। अतः नाटक में शृङ्गार रस की अङ्गी तो क्या, अङ्ग-रूप में भी उपस्थिति की आशङ्का नहीं की जा सकती है।

उत्साह रूप स्थायी का परिपाक वीर है। यह उत्तम प्रकृति में आश्रित होता है[4]। इस वीर रस को चार प्रकार का माना गया है दानवीर, दयावीर, धर्मवीर तथा युद्धवीर[5]।

---

[1] भरतमुनि, नाट्यशास्त्र, 6/15

[2] विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, 6/10

[3] प्रमोदात्मा रतिः सैवयूनोरन्योन्यरक्तयोः । प्रहृष्यमाणः शृङ्गारो मधुराङ्गविचेष्टितैः । धनञ्जय, दशरूपक, 4/48

[4] उत्तमप्रकृतिवीर उत्साहस्थायिभावकः । विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, 3/232

[5] स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात् । वही, 3/234

साहित्यदर्पणकार ने धर्मवीर का आलम्बन विभाव युधिष्ठिर को स्वीकार किया है जो धर्म के लिये राज्य, धन, शरीर, पत्नी, भाई, पुत्र तथा अन्य जो कुछ भी उसके अधीन है, सबको समर्पित करने के लिये प्रस्तुत होता है[1]। प्रस्तुत सन्दर्भ को देखकर आशङ्का हो सकती है कि इसी प्रकार 'चैतन्यचन्द्रोदय' के नायक चैतन्यदेव भी धर्मवीर की कोटि में क्यों न परिगणित हो और तदनुसार नाटक में 'वीररस' को ही अङ्गीरस के रूप में क्यों न स्वीकृति दी जाय। बाह्यतः युधिष्ठिर तथा चैतन्य में साम्य प्रतीत होने पर भी अन्ततोगत्वा उनमें वैषम्य है। युधिष्ठिर के धर्म के लिये सर्वस्व परित्याग करने के पीछे उत्साह की भावना तथा धर्मरूप फल की अभिलाषा है जबकि चैतन्य का इस प्रकार किसी फल से प्रेरित होना परिलक्षित नहीं हुआ है। भगवान् के रूप में वे विविध लीलाओं के माध्यम से भक्तों की वासना को चरितार्थ करते हैं तथा भक्त रूप में वे भक्ति का प्रचार करते हैं। धर्म-रूप पुरुषार्थ को प्राप्त करना उनका कथमपि लक्ष्य नहीं है। अतः चैतन्य को धर्मवीर की कोटि में रखना सम्भव नहीं है।

धनिक ने 'नागानन्द' नाटक के नायक जीमूतवाहन को दयावीर माना है[2]। शङ्का हो सकती है कि उसी प्रकार करुणा-पारावार चैतन्य को भी दयावीर नायक मानकर नाटक में वीर रस को अङ्गी क्यों न माना जाये पर वीर रस की विवेचना से स्पष्ट होता है कि वीर रस का स्थायिभाव उत्साह है। उसके साथ (रावणादि) विजेतव्य आलम्बन विभाव हैं। उन विजेतव्यों की चेष्टा आदि उद्दीपन विभाव कहलाते हैं। सहायक (युद्ध के साधन, सेनादि अथवा अस्त्र-शस्त्र आदि) का अन्वेषण अनुभाव होता है। धृति, मति, गर्व, स्मृति, तर्क तथा रोमाञ्च आदि सञ्चारिभाव कहलाते हैं[3]।

चैतन्य के भक्तियोग की स्थापना के लिये कलि-मन्थन आवश्यक था। कलि को अपने सहायक 'अधर्म' के साथ प्रथम अङ्क में चित्रित भी किया गया है। वीर रस की परिभाषा के अनुसार कलि को विजेतव्य के रूप में ग्रहण करने पर श्रीचैतन्य द्वारा प्रवर्तित नवधा भक्ति, विशेष कर हरिनाम सङ्कीर्तनादि को युद्ध सहाय अतः अनुभाव के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। इस दृष्टि से वीर रस की पृष्ठभूमि नाटक में मिल सकती है परन्तु रस केवल सैद्धान्तिक विषय नहीं है। वह सहृदयों का संवेद्य विषय हुआ करता है। अतः 'चैतन्यचन्द्रोदय' में वीर रस की स्थिति नहीं मानी जा सकती है क्योंकि विजयेच्छा की भावना से युक्त उत्साह के दर्शन चैतन्य में नहीं होते हैं। इसके अतिरिक्त नाटक में कलि की प्रत्यक्ष उपस्थिति बहुत ही कम दिखाई देती है अर्थात् नाटक के केवल प्रारम्भिक विष्कम्भक में अपने मित्र अधर्म के साथ कलि का आगमन मञ्च पर हुआ है। वहाँ भी

[1] वही, पृ० 118

[2] तत्र दयावीरो यथा नागानन्दे जीमूतवाहनस्य । धनञ्जय, दशरूपक, (वृत्ति) पृ० 106

[3] साहित्यदर्पण, 3/233-234

नाटककार ने प्रारम्भ से ही कलि को चैतन्य की भगवत्ता से प्रभावित[1] तथा अपने कार्य में पराजित सा ही चित्रित किया है[2]। अतः वीर रस के परिपाक के लिये विजेतव्य की जिन चेष्टाओं का उद्दीपन रूप में चित्रण हुआ करता है उनका यहाँ सर्वथा अभाव है। इसके अतिरिक्त नाटक में आदि से अन्त तक नायक को परमतत्त्व भगवान् के रूप में अङ्कित किया गया है। उनकी महिमा तथा अलौकिक क्रिया-कलाप ही उद्दीपन बन कर आये हैं। ऐसी अलौकिकता के मध्य में उत्साह से परिणत वीर रस का अनुभव कथमपि नहीं हो सकता है । इसके अतिरिक्त वीर रस के परिपाक के लिये जिस प्रताप की अपरिहार्यता हुआ करती है[3] उसका नाटक में सर्वथा अभाव है।

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि नाट्याचार्यों द्वारा निर्धारित शृङ्गार अथवा वीर रस 'चैतन्यचन्द्रोदय' का अङ्गी रस नहीं हो सकता है। इनके अतिरिक्त हास्य, करुण, रौद्र, भयानक, बीभत्स तथा अद्भुत में से किसी को भी इस नाटक का अङ्गी रस स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि इसमें हास, शोक, क्रोध, भय, जुगुप्सा तथा आश्चर्य रूप स्थायी भावों में से किसी की भी प्रधानता नहीं है तथा लोकोत्तर नायक देव चैतन्य के प्रति ऐसी किसी भावना का चित्रण नाटककार ने नहीं किया है। इसके विपरीत भगवान् तथा भक्त दोनों रूपों में आविर्भूत नायक चैतन्य तथा उनके परिकरों के माध्यम से भक्ति का प्रतिपादन ही सम्पूर्ण नाटक में परिलक्षित होता है। नाटक में भक्ति रस को अङ्गी रस के रूप में स्वीकार करने से पूर्व भक्ति को रस रूप में विवेचित करना अपेक्षित है।

भक्तिरस

वैष्णव साधना भक्ति की साधना है, वैष्णव काव्य भक्ति रसात्मक काव्य है। वैष्णव कवियों ने श्रीभगवान् के ऐश्वर्य से विमोहित होकर उनकी स्तुति नहीं की है। उन्होंने श्रीभगवान् को प्रियरूप में, सखारूप में तथा पुत्ररूप में मान कर प्रीति तथा स्नेह के आवेश में उनका गान गाया है[4]। इस प्रीति के साथ रस के सम्बन्ध को स्पष्ट करते हुए कहा गया है "परिदृश्यमान स्थूल तथा अदृश्य सूक्ष्म जगत् की ओर दृष्टिपात करके श्रीभगवान् की अचिन्त्य महिमा तथा अपूर्व दृष्टि कौशल के विषय में सोचने से मन में विस्मय के साथ भय तथा श्रद्धामिश्रित एक अनिर्वचनीय भाव का उद्रेक होता है। उस

---

[1] ...भगवतः सामान्योक्तेस्तथाविधायुतगुणवत्तया भगवत्तैवास्य सिद्धेति । वयमेव प्रमाणम् । यद्वयं जीवतो न विभीमः । नाटक पृ० 9

[2] प्रतिज्ञातं च तैः सति शिशुतापगमेऽस्माभिरयं पराभवनीय इति, तदप्यसम्भाव्यमेव । वही, पृ० 11

[3] प्रतापविनयादिभिर्विभावितः उत्साह स्थायी स्वदते । दशरूपक, वृत्ति, पृ० 106

[4] चिण्मयी चट्टोपाध्याय, भक्ति रसेर विवर्तन, पृ० 75

समय क्षुद्र तथा असहाय जीव का इस परम ऐश्वर्यमय भगवान् के निकट काम्यवस्तु के लिये प्रार्थना करने तथा अपने किये हुये अपराधों के लिये क्षमा याचना करने के अतिरिक्त उनके साथ और क्या सम्पर्क हो सकता है? दूसरी ओर सम्बन्ध-ज्ञान जीव को प्रीति के मार्ग पर लाता है। प्रीति से उत्पन्न अनुराग ही रस में परिणत होता है। वस्तुतः सम्बन्ध-व्यतीत रस का उद्‌भव नहीं हो सकता है। सम्बन्ध जनित चित्त का भाव ही रस है[1]।"

संस्कृत साहित्याचार्य और भक्तिरस

संस्कृत साहित्याचार्यों ने रस को सर्वदा महत्त्व प्रदान किया परन्तु उन्होंने वैष्णव काव्य के प्राण-स्वरूप भक्ति रस को रस रूप में स्वीकृति नहीं दी है। रसशास्त्र के आदि प्रवर्तक भरत मुनि ने जिन आठ रसों को स्वीकार किया है उनमें भक्ति का नामोल्लेख नहीं हुआ है[2]।

आचार्य अभिनवगुप्त ने भक्ति रस को शान्तरस के अन्तर्भुक्त कर दिया है। तदनुसार ईश्वर-प्रणिधान-विषयक भक्ति तथा श्रद्धा स्मृति, मति, धृति, उत्साह आदि के द्वारा अनुप्रविष्ट होकर शान्त रस के अङ्ग हो जाते हैं। अतः भक्ति तथा श्रद्धा को अलग से रस नहीं मानना चाहिए।[3]

मम्मट देवादिविषयक रति को रसाख्य न कहकर केवल भाव रूप में स्वीकार करते हैं[4]।

विश्वनाथ ने भी इसी प्रकार देवादिविषयक रति भाव को तथा उद्‌बुद्धमात्र रति आदि स्थायिभाव को भी भाव नाम से पुकारा है। भक्ति रस को स्वीकार नहीं किया है[5]।

पण्डितराज जगन्नाथ ने यद्यपि भक्ति-रस की स्थापना के पक्ष में पूर्व-पक्ष के रूप में अनेक युक्तियाँ प्रस्तुत की हैं तथा शान्त रस में इसके अन्तर्भाव का निषेध भी किया है तथापि अपने पूर्ववर्ती आचार्यों विशेषकर भरतमुनि के मत का अनुसरण करते हुए इन्होंने भी भक्ति को रस रूप में स्वीकृति नहीं दी है[6]।

उल्लिखित आलङ्कारिकों की मान्यता से स्पष्ट है कि वे भक्ति को रस रूप में मानने के पक्ष में नहीं हैं। इसके विपरीत वैष्णव-आलङ्कारिक तथा कवि भक्ति को श्रेष्ठ रस के

---

[1] रवीन्द्रनाथ घोष ठाकुर, पदावली साहित्ये प्रेमेर स्वरूप, Sahitya Patrika, Journal of Department of Bengalee, Dacca University, 1962, पृ० 142- 143

[2] नाट्यशास्त्र, 6/15

[3] ईश्वरप्रणिधानविषये भक्तिश्रद्धे स्मृतिमतिधृत्युत्साहाद्यनुप्रविष्टे एवाङ्ग (शान्तस्य) मिति न तयोः पृथग्रसत्वेन गणनम् । अभि०भारती, पृ० 340

[4] काव्यप्रकाश, 4/35

[5] साहित्यदर्पण, 3/360-361

[6] रसगङ्गाधर, प्रथम आनन, पृ० 189

रूप में स्वीकार करते हैं।

गौड़ीयवैष्णवाचार्य-भक्ति रस

गौड़ीय वैष्णवाचार्यों ने जिस भक्ति रस को अप्राकृत तथा श्रेष्ठ रस के रूप में स्वीकार किया है उसकी स्थापना भी उन्होंने उचित रूप से की है। भक्ति अथवा देवविषयक रति को जहाँ मम्मट आदि आचार्यों ने भाव रूप में माना था, उसको श्रीरूप ने 'कृष्ण रति' कहा है। वही भक्ति रस का स्थायी भाव है[1]। कर्णपूर ने 'अलङ्कारकौस्तुभ' में यद्यपि प्राकृत, अप्राकृत तथा आभास रूप में रस के तीन प्रकार माने हैं तथापि वे अप्राकृत अर्थात् राधाकृष्णविषयक भक्ति रस को ही महत्त्व देते हैं। उन्होंने समस्त लौकिक रसों की भी गणना की है परन्तु उनके सभी उदाहरण कृष्णपरक ही लिये हैं। इस आधार पर विश्वनाथ चक्रवर्ती का कहना है कि 'प्राकृत' में रस है ही नहीं फिर भी रस के उक्त तीन भेद स्वीकार करना केवल परम्परा का पालन करना है।[2] अतिनश्वर प्राकृत नायकों[3] में रस को मानना भ्रम है। लौकिक विभावादि के विरूप होने के कारण उनके प्रति घृणामय वैरस्य ही उत्पन्न होता है। इसी कारण 'अलङ्कारकौस्तुभ' में एक भी पद्य प्राकृत विषय का उद्धृत नहीं किया गया है[4]।

अस्तु, कवि कर्णपूर ने देवादिविषयक रति को भाव मानने वाले अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का खण्डन करते हुए भक्ति को स्थायीभाव के रूप में इस प्रकार प्रतिष्ठित किया है, 'जिस प्रकार निर्वेद एक व्यभिचारी भाव होते हुये भी शान्त रस की स्थायीभाव-रूपता को प्राप्त करके शान्त रस में परिणत हो जाता है उसी प्रकार देवादि विषयक रति भाव भी यद्यपि भाव संज्ञा से अभिहित होता है तथापि उन-उन अपने उपयुक्त विभावादि सामग्री से संवलित होकर भक्ति रस कहलाता है[5]। यह भक्ति रस कृष्णाश्रित है[6]।'

यद्यपि पण्डितराज जगन्नाथ अन्ततः भक्तिरस को स्वीकृति नहीं देते हैं फिर भी उन्होंने पूर्वपक्ष के रूप में इसकी सुन्दर स्थापना की है। तदनुसार 'रस सहृदयों के साक्षात् अनुभव का विषय होता है। 'श्रीमद्भागवत' आदि श्रवण करते समय भक्तजन जिसका

---

[1] एषा कृष्णरति स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत्। भ०र०सि०, दक्षिण, 1/5

[2] प्राकृताप्राकृताभासभेदादेष त्रिधा मतः। अलङ्कारकौस्तुभ, 5/14, सुबोधिनी टीका, पृ० 31-32

[3] कर्णपूर ने प्राकृत रस से अभिप्राय लौकिक मालती-माधव निष्ठ रस से लिया था। अतः प्राकृत नायक लौकिक माधवादि हैं। वही, पृ० 32

[4] वही, सुबोधिनी टीका, पृ० 32

[5] यथाऽयं निर्वेदो व्यभिचारी सन्नपि शान्तरसे स्थायितां प्राप्य रसतामाप्नोति, तथा सैव देवादिविषया रतिर्भाव इति पारिभाषिकोऽपि भावः स्थायी सन् तत्तद्विभावादि सामग्री समवेतो भूत्वा भक्तिरस इति। वही, पृ० 36

[6] सपुनर्भक्तिरसः श्रीकृष्णाश्रयः....। वही, पृ० 36

स्पष्ट रूप से अनुभव करते हैं, वह भक्ति रस है, इसका अपलाप नहीं किया जा सकता है। स्वयं भगवान् ही उसके आलम्बन, रोमाञ्च, अश्रुपातादि अनुभाव तथा हर्षादि परिपोषक हैं । भगवदनुरागरूपा भक्ति ही इसका स्थायी भाव है[1]।' इस प्रकार इन आचार्यों ने भक्तिरस की स्थापना की है।

भक्ति तथा शान्त रस में विरोध

यह आशङ्का हो सकती है कि शान्त रस में ही भक्ति रस का अन्तर्भाव हो सकता है परन्तु पण्डितराज जगन्नाथ ने इसका भी निर्णय किया है। भक्ति का स्थायी अनुराग तथा शान्त का स्थायी निर्वेद अथवा विराग परस्पर विरोधी हैं। अतः इन दोनों को एक नहीं माना जा सकता है[2]। इसके अतिरिक्त शान्त रस में परम तत्त्व का उन्मेष होने से चित्त भावविकारों से शून्य हो जाता है। इस तत्त्व ज्ञान में विश्लेषणात्मक बुद्धि विषयों से अनासक्ति उत्पन्न करती है। इसके विपरीत भक्ति प्रीतिरूपा है। वैष्णव दर्शन का मूलतत्त्व यह प्रीति अथवा प्रेम है। भक्ति ज्ञान प्रेरित नहीं है अतः भक्त तथा भगवान् का सम्बन्ध ज्ञाता एवं ज्ञेय का नहीं है, वह तो जीवन के माधुर्यपूरित सम्पर्कों से युक्त है। वैष्णव दृष्टि से भक्त के लिये भगवान् सखा, प्रिय, दयित आदि स्नेहिल सम्बन्धों का विषय है। जबकि शान्त रस भगवान् को ज्ञेय रूप में विवेचित करता है। अतः इन दोनों को कथमपि एक नहीं माना जा सकता है[3]।

भक्ति रस के उपादान

श्रीरूपगोस्वामी ने भक्ति रस का विशद विवेचन करते हुए कहा है कि कृष्णरति रूप स्थायी ही भक्ति रस में परिणत होता है । जब यह केशवरति विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव रूप सामग्री से परिपुष्ट होकर श्रवणादि के माध्यम से भक्तों के हृदय में आस्वाद्य बन जाती है तभी यह रस कहलाती है[4]।

विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इन विभावादि का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है-'विभाव, अनुभाव, सात्त्विक तथा व्यभिचारी भावों के सम्मिश्रण से ही भक्ति 'भक्ति-रस' में परिणत होती है। जिस विषय के प्रति भक्ति होती है वह विषय-आलम्बन विभाव कहलाता है, यह

---

[1] भगवदालम्बनस्य रोमाञ्चाश्रुपातादिभिरनुभावितस्य हर्षादिभिः परिपोषितस्य भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्त्यैरनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य दुरपह्नवत्वात् भगवदनुरागरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभावः। रसगङ्गाधर, प्रथमानन, पृ० 189

[2] न चासौ शान्तरसेऽन्तर्भवितुमर्हति अनुरागस्य वैराग्यविरुद्धत्वात् । वही, पृ० 189

[3] चिण्मयी चट्टोपाध्याय, भक्तिरसेर विवर्तन, पृ० 84-85

[4] अयास्याः केशवरतेर्लक्षिताया निगद्यते । सामग्रीपरिपोषेण परमा रसरूपता । विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः । एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत् । भ०र०सि०, दक्षिण, 1/4-6

हैं श्रीकृष्ण[1]। जो व्यक्ति भाव-युक्त होता है अर्थात् जिसमें भक्ति का उदय होता है वह आश्रय आलम्बन-विभाव कहलाता है-यथा भक्तजन । जो श्रीकृष्ण का स्मरण करवाने वाले वस्त्रालङ्कारादि हैं, उन्हें उद्दीपन विभाव कहते हैं। नृत्य, गीत, स्मित आदि जो भावों को ज्ञापित करवाते हैं, अनुभाव हैं। चित्त तथा शरीर को क्षुब्ध करने वाले सात्त्विक भाव हैं। ये स्तम्भ, स्वेद आदि आठ प्रकार के हैं[2]।

कर्णपूर ने देवादिविषयक रति को भाव नाम से पुकारा है[3]। इस रति का धर्म चित्त-रञ्जकता है[4]। उन्होंने लौकिक रस की दृष्टि से स्त्री-पुरुष-विषयक रति से भगवद्विषयक रति को पूर्णतया भिन्न माना है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ने लौकिक स्त्री पुरुष के व्यवहार सम्बन्धित रति से देवविषयक रति को पूरी तरह स्वतन्त्र माना है। उनके अनुसार श्रीकृष्ण के देवोत्तम तथा सर्वव्यापक होने के कारण स्तुतिकर्ता भक्त का जो स्थायी भाव है उसमें लौकिक नारी-पुरुष के व्यवहार का अभाव होने के कारण उसे उसी रति शब्द से नहीं पुकारना चाहिए[5] अर्थात् स्त्री-पुरुष के व्यवहार-रूप जो रति है उससे पृथक् देवविषयक स्थायी को भाव संज्ञा से कहना चाहिए परन्तु श्रीरूप द्वारा स्वीकृत रति को ही भक्ति के स्थायी भाव के रूप में प्रयुक्त करना प्रस्तुत सन्दर्भ में अपेक्षित है।

इस प्रकार अप्राकृत भक्ति रस के उपादान लौकिक रसों की भांति विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव तथा रति भाव रूप स्थायी हैं।

भक्ति रस-अभिनेयता

भक्ति रस की सैद्धान्तिक स्थापना के अनन्तर शङ्का उपस्थित हो सकती है कि भक्ति रस का लौकिक रसों की भांति नाटकादि में अभिनय हो सकता है अथवा नहीं। इस शङ्का का समाधान कर्णपूर ने स्वयं 'चैतन्यचन्द्रोदय' में कर दिया है। उन्होंने प्रसङ्गतः भक्तिपरक नाटकों की अभिनेयता के साथ उनकी रसाभिव्यक्ति एवं सामाजिकों के समान नटों की भी रसानुभूति पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डाला है। तदनुसार हरि की लीला (अर्थात् भक्तिपरक

---

[1] ज्ञातव्य है कि कविकर्णपूर ने श्रीकृष्ण को भक्तिरस का विषय आलम्बन के स्थान पर आश्रय माना है-'स पुनर्भक्तिरसः श्रीकृष्णाश्रयः स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः' अलङ्कारकौस्तुभ, पृ० 36 परन्तु रसानुभूति की दृष्टि से भक्त को आश्रय एवं श्रीकृष्ण को आलम्बन ही मानना उचित है। इस सन्दर्भ में विश्वनाथ चक्रवर्ती का स्पष्ट विचार मान्य प्रतीत होता है- यत्र विषये भावो भवति स विषयालम्बनविभावः कृष्णः। यो भावयुक्तो भवति स आश्रयालम्बनविभावो भक्तः। भ०र०सि० बिन्दु, पृ० 135

[2] भ०र०सि० बिन्दु, पृ० 135

[3] सैव देवादिविषया रतिर्भावश्च कथ्यते । अलङ्कारकौस्तुभ, 5/10

[4] देवविषयत्वाच्चेतोरञ्जकता रतिरेव भावः। वही, पृ० 37

[5] वही, सुखबोधिनी टीका, पृ० 31

विषय) का यदि सामान्य नटों के द्वारा भी अभिनय किया जाए तो वह अभिनय रसावह होता है और अगर उसमें स्वयं हरि ही अभिनय करें तब तो रसपेशलता का कहना ही क्या? [1] इस कथन से स्पष्ट है कि अप्राकृत विषय होने पर भी भक्ति रस को यदि प्राकृत जन अपने अभिनय के माध्यम से व्यक्त करना चाहे तो उसमें कोई बाधा नहीं है। इसी के साथ कर्णपूर ने भक्ति रस के दूसरे वैशिष्ट्य को भी यहाँ स्पष्ट कर दिया है अर्थात् लौकिक दृश्यकाव्यों में तो केवल सामाजिकों को ही रसास्वादन होता है, नटों को नहीं, यह परम्परा ही कृतियों में ख्यात है परन्तु अलौकिक नाट्य में सामाजिक तथा नट समुदाय, दोनों ही रसवेत्ता होते हैं[2]।

अतः कर्णपूर की दृष्टि में भक्ति रस की अभिनेयता के विषय में कोई आपत्ति न होने पर भी यह शङ्का उठ सकती है कि श्रीरूप ने भक्ति रस का आस्वादन उसी के हृदय में सम्भव बताया है जिसके हृदय में पूर्व जन्म और इस जन्म की सद्भक्ति के संस्कार विद्यमान हों[3]। ऐसी अवस्था में भक्ति रस की अभिनेयता का निषेध हो जाएगा क्योंकि

---

[1] येयं नटैरप्यभिनीयमाना लीला हरेरिति रसायनत्वम्।
सा यत् स्वकीयैःस्वयमीश्वेरेणाभिनीयते तत्किमुदाहरामः ।।
नाटक, पृ० 68

[2] सामाजिकानां हि रसो नटानां नैवेति पन्थाः कृतिषु प्रसिद्धः।
हन्तोभयत्वे रसवित्वमेषामलौकिके वस्तुनि को विरोधः ।।
वही, पृ० 68

प्रस्तुत सन्दर्भ में उल्लेखनीय बात यह है कि 'चैतन्यचन्द्रोदय' में तो नाटककार ने केवल अलौकिक वस्तु के सन्दर्भ में ही नटों की रसानुभूति होने पर बल दिया है जबकि उन्होंने सामान्य लौकिक रसों के विषय में परम्परा के अनुसार सामाजिकों के रसास्वादन को माना है, इसके विपरीत अलङ्कारकौस्तुभ में लौकिक अथवा अलौकिक वस्तु का विवेचन किये बिना ही उन्होंने नटों के रसास्वादन होने पर प्रकाश डाला है। रसास्वादन प्रक्रिया से स्पष्ट होता है कि सामाजिक को रसानुभूति के समय अन्य ज्ञेय विषयों का बोध नहीं रहता है। शङ्का होती है कि यदि नटों को भी रसोपभोक्ता मान लिया जाये तब विगलित वेद्यान्तर की स्थिति होने के कारण नटों के द्वारा अभिनय असम्भव हो जाएगा । कर्णपूर ने उसका स्पष्टीकरण करते हुए बतलाया है कि जीवन्मुक्त पुरुषों के आहार-विहारादि कार्यो के सम्पन्न होने के समान नटों के द्वारा अनुकरण भी संस्कारवश सम्पन्न हो जायेगा। उस अभिनय के कारण सामाजिक रूप में उसकी रसानुभूति में कोई व्यवधान नहीं आयेगा । स्पष्ट है कि नाटक में केवल अलौकिक वस्तु के सन्दर्भ में नटों की रसानुभूति की बात कहने पर भी 'अलङ्कारकौस्तुभ' में उसे सामान्य काव्य के लिये प्रयोज्य मान लिया गया है।

[3] प्राक्तन्याधुनिकी चास्ति यस्य सद्भक्तिवासना ।
एष भक्तिरसास्वादस्तस्यैव हृदि जायते ।।
भ०र०सि०, दक्षिण, 1/7

सामान्य सामाजिक के लिये वह आस्वाद्य न हो पायेगा। यह आपत्ति उचित नहीं है क्योंकि लौकिक रस को भी जन-सामान्य संवेद्य नहीं माना जाता है। साहित्यदर्पण में पूर्वजन्म के पुण्यों से युक्त प्रमाताओं को[1] तथा काव्यप्रकाश में लौकिक आस्वादन के अभ्यास में पटु व्यक्तियों को ही रसास्वादक माना गया है[2]। इस प्रकार इन लौकिक रसों का आस्वादन ही जब कतिपय सहृदयों तक सीमाबद्ध है तो अप्राकृत रस भी यदि कुछ व्यक्तियों तक सीमित रहे तो उसे अनभिनेय नहीं कहा जा सकता है।

भक्तिरस के प्रकार

परमेश्वर श्रीकृष्ण भक्तिरस के विषय आलम्बन हैं। उनका रूप-माधुर्य भक्तचित्त को आकर्षित करता है। यदि केवल भगवान् के विराट् रूप के प्रति भय-मिश्रित श्रद्धा की बात होती तो उसमें इतनी विचित्रता की सम्भावना नहीं होती किन्तु जहाँ भक्त अपनी भावनाओं के अनुसार भगवान् के साथ सम्पर्क स्थापित करता है, वहाँ भक्त की अभिलाषा के अनुरूप भगवान् के प्रति भक्त की भक्ति भी अनेक रूपों को धारण कर लेती है। भगवान् के जिस वैशिष्ट्य से भक्त मुग्ध होता है, अदम्य आकर्षण का अनुभव करता है, उस विशेषता के अनुरूप ही भक्त की भावना परिपक्व हो जाती है। इसी कारण एक होने पर भी भक्ति को अनेक प्रकार का स्वीकार किया गया है।

भक्ति-आस्वादन की भिन्नता के कारण भक्तिरस में भी भिन्नता उपस्थित हो जाती है। अतएव आलङ्कारिकों ने भक्ति रस के भी भेद किए हैं। श्रीरूप गोस्वामी के अनुसार श्रीकृष्णविषयिणी रति विभावादि के संयोग से आस्वाद्यमान होकर भक्तिरस में परिणत होती है। वह मुख्य तथा गौणी भेद से दो प्रकार की है। इनमें से मुख्या रति शुद्धा, प्रीति, विस्रम्भरूपा, वात्सल्य तथा प्रियता है जिनसे क्रमशः पांच मुख्य भक्तिरस परिणत होते हैं- शान्त, प्रीति, प्रेयान्, वात्सल्य तथा मधुर। सात प्रकार की गौणी रति आस्वादित होकर सात गौण भक्ति रसों में परिणत होती है जो क्रमशः हास्य, अद्‌भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक तथा वीभत्स हैं[3]। इस प्रकार श्रीरूप के अनुसार मुख्य तथा गौण भेद से भक्तिरस बारह प्रकार के हैं।

विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार शान्त भक्तों की शान्ति, दास्य भक्तों का दास्य, सख्यभक्तों का सख्य, वत्सल भक्तों का वात्सल्य तथा उज्ज्वल भक्तों की प्रियता रति भाव होता है जिनसे शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा उज्ज्वल, पाँच मुख्यरस उदित होते हैं[4]।

---

[1] साहित्यदर्पण, 3, पृ० 106

[2] काव्यप्रकाश, 4, पृ० 108

[3] पूर्वमुक्तात् द्विधा भेदान्मुख्यगौणतया रतेः। भवेद् भक्तिरसोऽप्येष मुख्यगौणतया द्विधा। मुख्यस्तु पञ्चधा शान्तः प्रीतिः प्रेयांश्च वत्सलः।। मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमाः हास्योऽद्‌भुतस्तथा वीरः करुणो रौद्र सप्तधा। एवं भक्तिरसो भेदाद द्वयोर्द्वादशधोच्यते। भ०र०सि०, दक्षिण, 6/94-98

[4] शान्तभक्तानां शान्तिः। दास्यभक्तानां दास्यरतिः सख्यभक्तानां सख्यम् । वात्सल्यभक्तानां वात्सल्यम्। उज्ज्वलभक्तानां प्रियता। एवं शान्तदास्यसख्यवात्सल्योज्ज्वलाश्च पंचमुख्यरसाः...। भ०र०सि०, बिन्दु, पृ० 144

कविकर्णपूर ने उज्ज्वल, अद्‌भुत, शान्त, हास्य, प्रेम तथा वात्सल्य, इन छः को भक्ति रस का भेद माना है[1]। इन रसों के उत्तम होने पर भी प्रेमरसभक्ति ही चरम है जिसमें सभी रस तथा भाव उसी प्रकार उन्मज्जित तथा निमज्जित हो जाते हैं जिस प्रकार समुद्र में तरङ्ग मालाएं डूबती तथा उभरती हैं। शेष सभी रस खण्डानन्द कहलाते हैं केवल वही प्रेमभक्ति अखण्डानन्द है। इस अखण्ड में खण्ड धर्म के अन्य रस पृथक्-पृथक् रूप में अवस्थित रहते हैं[2]। कर्णपूर वस्तुतः भक्ति रस के कितने भेद स्वीकार करते थे, यह स्पष्ट नहीं होता है क्योंकि अन्यत्र उन्होंने दस प्रकार की भक्ति को स्वीकार किया है[3]।

इस प्रकार भक्ति की भिन्नता के कारण भक्ति रस को भी अलग-अलग रूप में माना गया है । भक्ति रस का वैविध्य उसके अप्राकृत भाव का कदापि विरोधी नहीं है, क्योंकि मूलतः भक्ति एक होने पर भी भक्त की भावना से वह विविध रूप की हो जाती है। अन्यथा ईश्वर सर्व रस-स्वरूप है। भक्तों के अलग-अलग आशयानुरोध से वह विचित्र लीला करते हैं। भक्त-वृन्द अपनी अपनी वासना के अनुसार उन उन लीलाओं का अनुसरण करते हैं-यही भावना 'चैतन्यचन्द्रोदय' में व्यक्त की गई है[4]।

भक्तिरस के आलम्बन श्रीकृष्ण तथा चैतन्य में ऐक्य

भक्तिरस के विवेचन से स्पष्ट है कि भक्ति रस पूर्णतया श्रीकृष्ण से सम्बन्धित है। वैष्णव आलङ्कारिकों ने तो केवल श्रीकृष्ण-विषयक रति को ही स्थायी भाव माना है[5]। भक्तों के हृदय में स्थित यही कृष्ण-रति उचित सामग्री से परिपोषित होकर भक्ति रस कहलाती है[6]। प्रस्तुत नाटक 'चैतन्यचन्द्रोदय' में साक्षात् रूप से ब्रज-लीला-नायक श्रीकृष्ण का लीला-माधुर्य वर्ण्य विषय नहीं है वरन् कर्णपूर ने नवद्वीप-नायक श्रीचैतन्य की लीला को अपनी रचना का प्रतिपाद्य बनाया है। ऐसी अवस्था में यह आशङ्का स्वभावतः उत्थापित होती है कि लोकनायक चैतन्यमहाप्रभु का वैष्णव आचार्यों द्वारा प्रतिपादित उक्त

---

[1] उज्ज्वलाद्‌भुतशमाश्च हासश्च प्रेम वत्सल इतीह रसाः षट् ।
उत्तमा इति तदाश्रयभाजो भक्तयश्च षड्मूरतियोग्याः ।
नाटक, पृ० 44

[2] सर्वेरसाश्च भावाश्च तरङ्गा इव वारिधौ । उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेमसंज्ञकः।
खण्डानन्दा रसाः सर्वे सोऽखण्डानन्द उच्यते । अखण्डे खण्डधर्मा हि पृथक् पृथगिवासते।
वही, पृ० 44

[3] (अ) गुणयोगाद्भेजिरेऽथ दशतां रसभाजः । वही, पृ० 44 (ब) स पुनर्भक्तिरसः श्रीकृष्णाश्रयो भवन् रत्यादिभिः स्थायिभिर्दशविधो भवति । अलङ्कारकौस्तुभ, पृ० 36

[4] नाटक, पृ० 45

[5] स्थायी भावोऽत्र सम्प्रोक्तः श्रीकृष्णविषया रतिः । भ०र०सि०, दक्षिण, 5/2

[6] स्वाद्यत्वं हृदि भक्तानामानीता श्रवणादिभिः ।
एषा कृष्णरतिः स्थायी भावो भक्तिरसो भवेत् । वही, 1/6

भक्ति रस से क्या सम्बन्ध है। इस शङ्का का समाधान करने के लिये यह आवश्यक है कि चैतन्य की नाटक में वास्तविक स्थिति, विशेष कर नाटककार की दृष्टि में उनके स्वरूप का उचित परिचय प्राप्त हो।

'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक के नायक श्रीचैतन्य नवद्वीप के पुरन्दर मिश्र के तनय हैं यह सत्य है परन्तु साथ ही वे स्वयं परम-लीला-शिरोमणि श्रीकृष्ण ही हैं-यही नाटककार का कथन है। श्रीचैतन्य को श्रीकृष्ण से अभिन्न स्वीकार करते हुये उनके आविर्भाव के लिये एक अभिनव तथ्य की अवतारणा की गई है। तदनुसार श्रीकृष्ण वृन्दावन में गोपललनाओं द्वारा प्रवर्तित प्रेम तत्त्व का आस्वादन करके इतने अधिक तृप्त हुए थे कि उसी प्रेम की महिमा का आस्वादन करने के लिए, उचित चैतन्य-विग्रह को धारण करके मर्त्य-भूमि में अवतरित हुये हैं[1] । कर्णपूर ने केवल प्रेम तत्त्व के आस्वादन हेतु श्रीचैतन्य का अवतार नहीं माना है वरन् उन्होंने इस बात पर भी प्रकाश डाला है कि द्वापर में अलग-अलग रूप में आविर्भूत होने वाले वृन्दावन के श्रीराधा-कृष्ण अब परस्पर एक-दूसरे में प्रवेश करके एक चैतन्य के रूप में अवतरित हुए हैं । इस अवतार का उद्देश्य संसार पथ के पथिकों की श्रान्ति को दूर करना है अर्थात् चैतन्य अवतार का प्रथम लक्ष्य सांसारिक ताप-तप्त-जीवों का कल्याण करना[2] है। श्रीकृष्ण भगवान् का चैतन्यरूप में अवतरित होने का दूसरा लक्ष्य है अद्वैतवाद का खण्डन करके श्रीकृष्ण ही सविशेष ब्रह्म हैं, वे स्वयं भगवान् हैं, सनन्दन आदि द्वारा निर्णीत श्रीकृष्ण की उपासना परम पुरुषार्थ है इस तत्त्व की स्थापना के लिये तथा नाम-सङ्कीर्तन जिसका प्रधान साधन है, ऐसे विविध भक्ति योग को आविर्भूत करना[3]। इसके अतिरिक्त श्रीचैतन्य के आविर्भाव का एक तीसरा उद्देश्य भी बताया है- कलि का मन्थन करके भक्ति योग की स्थापना के माध्यम से प्रेम तत्त्व का विस्तार करना[4]।

प्रस्तावित लक्ष्यों की पूर्ति के लिए अवतरित 'श्रीकृष्ण-चैतन्य' नरलीला करने वाले परमेश श्रीकृष्ण हैं, इसका प्रतिपादन नाटककार ने नाटक में सर्वत्र किया है । कलि के मुख से भगवान् का परिचय इस प्रकार दिलवाया गया है-यह (श्रीचैतन्य) केवल ब्राह्मण बालक ही नहीं हैं वरन् बालक रूपी स्वयं परमेश्वर हैं क्योंकि हरिभक्ति-योग की शिक्षा के द्वारा कलि के समस्त सन्ताप का हरण करने वाला तथा सकल संसार को पवित्र करने

---

[1] ......आभीरभीरुभिः प्रवर्तितं तादृशप्रेमतत्त्वं तदानीं तत्रैव स्थितम् । सम्प्रति .....तदास्वादस्वादरगृहीत समुचितग्रहस्य....। नाटक, पृ० 17

[2] राधा -कृष्णाख्यलीलामयखगमिथुनं भिन्नभावेन हीनम् । यस्यच्छाया भवाध्वश्रमशमनकरी...। वही, पृ० 4

[3] वही, पृ० 4

[4] वही, पृ० 205

वाला यह स्वर्ण-कमल सम कान्ति वाला स्वयं हरि ब्राह्मण के घर में अवतरित होकर बाललीला में निमग्न है[1]।

श्रीचैतन्य को समस्त नाटक में मुख्यतः दो रूपों में वर्णित किया गया है-परमेश तथा भक्तिभावसिक्त भक्त । भगवान् के रूप में जहाँ उनका दिव्य चित्रण हुआ है, वहां उन्हें अपने पार्षद तथा भक्तों द्वारा परिवृत्त दिखाया गया है, जो किसी न किसी प्रकार से ताप-तप्त किसी भक्त का उद्धार कर रहे हैं अथवा किसी दैवी आवेश को प्रकट कर रहे हैं। भक्त रूप में उनके चित्रण में परमेश श्रीकृष्ण तथा उनकी वृन्दावन-लीला के लिए आकुलता की अभिव्यक्ति की गई है । कहना न होगा कि मर्त्यलोक के मानव के रूप में पात्रों का चित्रण किए जाने पर भी नाटककार के मन से क्षण भर को भी यह विस्मृत नहीं होता है कि श्रीचैतन्य तथा उनके निकटवर्ती भक्त समूह व्रजलीला-कालीन श्रीव्रजनन्दन कृष्ण तथा उनके परिकर हैं । सामाजिकों को भी यह भूलने का अवसर नहीं दिया जाता है । संस्कृत में ऐसे नाटकों का अभाव नहीं है जहाँ नरलीला-परायण भगवान् को ही नायक के रूप में ग्रहण किया गया है परन्तु ऐसी कृतियों में मानव-रूप में अवतरित भगवान् के मानवीय रूप को उपजीव्य बनाकर नाटक की रचना की जाती है । ऐसी अवस्था में उस पात्र में सुख-दुःख आदि सांसारिक भावनाएं तथा मानवीय संवेदनाएं अभिव्यक्त की जाती हैं । अतः सहृदय सामाजिक उस नर-रूपी नारायण के साथ अनायास तादात्म्य स्थापित कर लेता है तथा उस सहृदय को नाटक के माध्यम से प्राकृत रसों की अनुभूति पूर्णतया होती है । ऐसे चरित्रों के माध्यम से रचनाकार यदि किसी दिव्य घटना का उल्लेख भी करता है तो वह सामयिक अद्‌भुत-रस का परिपाक कर अग्रिम घटनाओं को गति दे देता है । इससे लौकिक रस-परिपाक में कोई व्यवधान उपस्थित नहीं होता है । इसका उदाहरण स्वयं विष्णु के अवतार श्रीराम सम्बन्धित अनेकों नाटक हैं । यथा 'उत्तररामचरितनाटक' के दर्शन अथवा पठन काल में राम तथा सीता सहृदय सामाजिकों के लिये दिव्यलोक के देव-देवी का प्रभाव विस्तारित नहीं करते हैं वरन् मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्ति के ही आधार बनते हैं।

'चैतन्यचन्द्रोदय' विषय-वस्तु, रस-परिपाक सभी दृष्टियों से इस प्रकार के नाटकों से भिन्न है । इसके नायक स्वयं परमब्रह्म परमेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण हैं जो नर-लीला-परायण होने पर भी भगवत्ता के भाव से सम्पन्न हैं। लोक-लीला होने पर भी श्रीचैतन्य की लीला को लेखक ने द्वापर में सम्पन्न ब्रज-लीला के तुल्य ही ग्रहण किया है । जैसा कि पहले ही बतलाया जा चुका है, द्वापर लीला के व्रजनन्दन ही चैतन्य हैं । उनके साथियों में स्वयं महादेव के अवतार अद्वैताचार्य, अत्यधिक तेजस्वी तथा देवपूजित सङ्कर्षण के

---

[1] नायं केवलो भूदेवबालः अपितु बालदेवदेवः । तथा हि-

हरिहरि हरिभक्तियोगशिक्षा-सरसमना जगदेव निष्पुणानः ।

हरिरिह कनकाब्जकान्तकान्तिर्द्विजभेवनेऽवततार बाललीलः । वही, पृ० 7

अवतार नित्यानन्द अवधूत, श्रीकान्त, श्रीपति तथा श्रीराम के साथ नारदीय तेजसम्पन्न श्रीवास तो थे ही, उनके साथ अन्य अनेक व्यक्ति भी थे जो ब्रजलीला के कोई न कोई परिकर थे[1]। इसका विस्तृत विवेचन कर्णपूर ने अपनी अन्य कृति 'गौरगणोद्देशदीपिका' में किया है। अतः ब्रजलीला में सर्वश्रेष्ठ वृन्दावन लीला का ही मानो दूसरा रूप श्रीचैतन्य की नरलीला में है।

हरिनाम-परायण भक्त के रूप में चैतन्य का चित्रण नाटक में कम मात्रा में है। उनके भक्त रूप को प्रदर्शित करने का लक्ष्य भी भक्ति का प्रचार-प्रसार था। वस्तुतः कर्णपूर की दृष्टि में भक्त चैतन्य में भी भगवत्ता ही परिलक्षित होती है। नाटककार ने श्रीचैतन्य की भगवत्ता की पुष्टि केवल भावावेश में ही नहीं की है वरन् अनेक अकाट्य युक्तियों द्वारा उसे सिद्ध भी किया है। उनके अनुसार भगवान् आनन्दमय हैं अतः समस्त जनों के चित्तको आकर्षित करने का गुण ही उनकी भगवत्ता का असाधारण चिह्न है। आनन्दमय ही जीवों को आनन्दित करने में समर्थ होता है-जिस प्रकार धनवान् व्यक्ति ही दूसरों को धन दे सकता है। बाल्यावस्था में ही यह (चैतन्य) जिस प्रकार सभी के चित्त-चमत्कार के जनक हैं, इसी से प्रमाणित होता है कि ये परमेश्वर हैं[2]। संक्षेपतः नाटक से स्पष्ट हो जाता है कि कविकर्णपूर श्रीचैतन्य को परम-उपास्य-रूप में स्वीकार करते थे। उनके पिता तथा अन्यों ने राधा-कृष्ण के सम्मिलित रूप 'श्रीगौराङ्ग' की उपासना का ही प्रवर्तन किया था। उनकी दृष्टि में श्रीगौराङ्ग उपायमात्र नहीं थे वरन् स्वयं उपेय थे[3]। लेखक ने इसी मान्यता को सर्वान्तःकरण से स्वीकार किया है तथा नाटक में इसी का वर्णन किया है। भगवान् मानने पर भी चतुर्भुजी नारायण की उपासना लेखक को अभिप्रेत नहीं थी अतः उन्होंने वैधी-भक्ति को अपना माध्यम नहीं बनाया है। वे तो अपने इष्ट को भक्तों के साथ स्नेह-सम्पर्क में देखना चाहते थे अतः रागानुगा भक्ति का ही वर्णन नाटक में है। साररूपेण नाटक के नायक श्रीकृष्ण से अभिन्न नरलीलापरायण श्रीचैतन्य हैं जिन्हें भक्ति रस का विषयालम्बन सहज स्वीकारा जा सकता है।

चैतन्यचन्द्रोदय-भक्तिरस योजना

भक्ति-रस का परिचय देते हुए कविकर्णपूर ने अपने ग्रन्थ 'अलङ्कार-कौस्तुभ' में स्पष्ट किया है 'देवविषयक चित्त की रञ्जकता रूप रति ही भक्ति रस का स्थायीभाव है। श्रीकृष्ण स्वयं इसके आलम्बन तथा उनकी महिमादि उद्दीपन-विभाव है। हृदय का द्रवित

[1] वही, पृ० 9

[2] सकलजनान्तःकरणाकर्षित्वं हि भगवतोऽसाधारणं लिङ्गम् । आनन्दमयत्वात् । आनन्दमयो हि जीवानानन्दयितुमर्हति यथा प्रचुरधनः परमपि धनिनं करोति । एतावत्तं हि परमेश्वरलिङ्गमस्य यद्बाल एव सकलजनचित्तचमत्कार-कारकः। वही, पृ० 8-9

[3] मजुमदार, चै०च०,उ०, पृ० 112-113

होना अनुभाव एवं निर्वेद, दैन्य आदि व्यभिचारी हैं। भक्तों को परोक्ष तथा सामाजिकों को प्रत्यक्ष रूप से इस भक्ति रस का आस्वादन होता है।[1]'

विश्वनाथ चक्रवर्ती के अनुसार जिनके प्रति भक्ति-भावना जागृत होती है वह श्रीकृष्ण भक्तिरस के विषय-आलम्बन-विभाव हैं तथा जो उस भाव से युक्त होता है वह भक्त आश्रयालम्बन विभाव कहलाता है[2]।

भक्ति-रस की इस व्याख्या से स्पष्ट होता है कि सामान्य देवादि नहीं अपितु परम-रसिक श्रीकृष्ण स्वयं इस भक्ति-रस के आलम्बन हैं। चैतन्य महाप्रभु जब उन श्रीकृष्ण से अभिन्न हैं तो उनके प्रति भक्ति की अनाविल भावना ही भक्ति अथवा रति है। उस भावना का विषय होने के कारण स्वयं महाप्रभु चैतन्यदेव भक्ति-रस के विषय-आलम्बन-विभाव हैं। उस भक्ति भावना से युक्त उनके पार्षद वर्ग आश्रलायम्बन-विभाव हैं। इस दृष्टि से श्रीचैतन्य का जो भक्त रूप में वर्णन किया गया है वह भी भक्तिरस का विरोधी सिद्ध नहीं होता है। पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि नाटक में श्रीचैतन्य के दोनों रूपों का चित्रण किया गया है। प्रथमतः वे साक्षात् ईश्वर हैं तभी उनके भक्त जन आराध्य तथा उपास्य देवता के रूप में चैतन्य का पूजन कार्य सम्पन्न करते हैं-

कुरुष्व सुरभीरपस्त्वमिह राम संशोधिता
मुकुन्द रचय स्वयं त्वमभिषेकसामग्रिकाम्।
गदाधर विधत्स्व भो वसनमाल्यभूषादिकं
मयायमभिषेक्ष्यते हरिरिहेवं खट्वोपरि।।[3]

प्रस्तुत पद्य में श्रीचैतन्य के प्रति रति स्थायी है तथा चैतन्य विषय-आलम्बन-विभाव हैं। उनके भक्त गदाधर, मुकुन्द, श्रीवासादि उस रतिभाव से युक्त होने के कारण आश्रयालम्बन-विभाव हैं। अभिषेकादि क्रिया अनुभाव हैं। इस प्रकार यहाँ भक्तिरस का परिपाक होता है।

दूसरी ओर श्रीचैतन्य को भक्तरूप में भी कतिपय स्थलों पर चित्रित किया गया है यथा संन्यास ग्रहण के पश्चात् भाव-विह्वल होकर वृन्दावनभिमुख यात्रा करते हुए चैतन्य का प्रेमाविष्ट रूप उल्लेखनीय है-

---

[1] अत्र देवविषयत्वाच्चेतोरञ्जकता रतिरेव भावः। स एव स्थायी आलम्बनं। श्रीकृष्णः उद्दीपनं-तन्महिमादि अनुभावः हृदय-द्रवादिःव्यभिचारी-निर्वेददैन्यादिः। परोक्षो भक्तानाम्, सामाजिकानान्तु प्रत्यक्षः । अलङ्कारकौस्तुभ, पृ० 37

[2] यत्र विषये भावो भवति स विषयालम्बनविभावः कृष्णः । यो भावयुक्तो भवति स आश्रयालम्बनविभावो भक्तः । भ०र०सि० बिन्दु, पृ० 135

[3] नाटक, पृ० 13

नाहारोऽद्य दिनत्रयं न च पयःपानं किमन्याः क्रियाः
कौपीनैकपरिच्छदो निजसुखावेशैकमात्रानुगः।
गच्छन्नैव दिनं निशामपि विभुर्नो वेत्ति किं कुर्महे
हे गौराङ्ग कृपानिधे कुरु कृपामार्ते मयि प्रीयताम्।।[1]

श्रीचैतन्य का उक्त चित्रण अनायास कृष्ण-प्रेम से विह्वल राधा की याद दिला देता है। नित्यानन्द की दृष्टि में चैतन्य की भगवत्ता ऐसी अवस्था में भी अक्षुण्ण रहती है पर सामाजिकों को श्रीचैतन्य का प्रेम-विह्वल भक्त रूप ही इस चित्रण में आस्वाद्य प्रतीत होता है । उनका यह भक्त रूप भक्तिरस के परिपाक में किसी प्रकार बाधक नहीं बनता है

अपन्थाः पन्थाः वा न भवति दृशोरस्य विषयः
किमुच्चं नीचं वा किमथ सलिलं वा किमुवनम्।
प्रभिन्नोऽयं वन्यो गज इव चलत्येव न पुनः
पुरो वा पश्चाद्वा कलयति न चात्मानमपि च।।[2]

श्रीचैतन्य के मुकुन्द के प्रति रति भाव के कारण चैतन्यदेव यहाँ रतिभाव के आश्रयालम्बन-विभाव हैं। विषय-आलम्बन मुकुन्द-चरण निषेवण है। सम-विषम मार्ग, जल, वन आदि उद्दीपन विभाव हैं। हुङ्कार, तीव्र-गमन आदि अनुभाव तथा स्वेद, स्तम्भ आदि सात्त्विक भाव हैं। इसके अतिरिक्त निर्वेद, वृन्दावन-स्मृति आदि व्यभिचारि-भाव हैं। इन सबके द्वारा भक्त का चैतन्य के प्रति जागृत रति भाव भक्ति रस-रूप में परिणत हो जाता है। यहाँ पर श्रीचैतन्य के आश्रय-आलम्बन विभाव होने से भी रसास्वादन में कोई बाधा नहीं उत्पन्न होती है । वस्तुतः भक्त सामाजिक का हृदयस्थित रति आदि भाव ही आस्वाद्यमान होकर भक्तिरस में परिणत होता है। स्वयं परमेश चैतन्य का भक्तरूप भी उसी भक्तिभाव को आस्वादन योग्यता तक पहुँचाने वाला है चाहे वह स्वयं आश्रय हो अथवा विषय। अतः चैतन्यदेव के दोनों रूप ही भक्तिरस के आलम्बन हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं।

श्रीचैतन्य के अतिरिक्त उनके पार्षद प्रस्तुत नाटक में भक्तिरस के आलम्बन रूप में आए हैं। अधिकतर उनका वर्णन आश्रय-आलम्बन रूप में हुआ है। कहीं कहीं वे विषय-आलम्बन-विभाव के रूप में भी उपस्थित हुए हैं यथा श्रीचैतन्य के संन्यास-ग्रहण हेतु जाने पर उनके भक्तों की प्रेम-विह्वलता के वर्णन से जिस भक्ति-रस-धारा को प्रवाहित किया गया है वह प्रत्येक सामाजिक का सम्वेद्य है।

चैतन्यचन्द्रोदय में भक्तिरसों के भेदों को देखना उचित है। उससे पहले प्रत्येक रस का

---

[1] वही, पृ० 88

[2] वही, पृ० 88

शास्त्रीय-विवेचन करना भी आवश्यक है।

शान्त भक्तिरस

शान्त व्यक्तियों का स्थायिभाव शान्त रति है जो विभावादि के द्वारा धीर व्यक्तियों से आस्वाद्यमान होकर शान्त रस में परिणत होता है[1]।

शान्तरस में परब्रह्म, चतुर्भुज, नारायण, परमात्मा इत्यादि गुणों से सम्पन्न नराकृति श्रीकृष्ण विषयालम्बन हैं[2]। ज्ञानी व्यक्ति भी मोक्ष की आकांक्षा छोड़कर कृष्णभक्त की कृपा से यदि भक्ति की वासना से युक्त हो जाते हैं तो वे भी शान्त भक्ति रस के आश्रयालम्बन बन सकते हैं। पर्वतादि उद्दीपन विभाव हैं। अवधूत चेष्टा, ज्ञान का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों में रुचि रखना आदि इसके अनुभाव होते हैं। अश्रु, पुलक, रोमाञ्च आदि सात्त्विक एवं निर्वेद, मति आदि सञ्चारी होते हैं[3]। लौकिक शान्तरस का स्थायी तत्त्व-ज्ञानोद्भव निर्वेद अथवा शम है। इस रस के आश्रित सामाजिकों के चित्त में सुख दुःख आदि कोई विकार अनुभूत नहीं होता है जबकि शान्त भक्ति रस में निरन्तर आनन्द भावना रहती है।

कविकर्णपूर ने अपने नाटक में यद्यपि वैधी भक्ति का सैद्धान्तिक रूप से उल्लेख किया है परन्तु केवल उसका तिरस्कार करने के लिए। चतुर्भुज नारायण-रूप को उन्होंने भगवान् का ऐच्छिक रूप माना है। द्विभुजत्वम् उनकी स्वाभाविक मूर्ति स्वीकार की गई है[4]। मुकुन्द नामक पार्षद चतुर्भुज के उपासक होने के कारण चैतन्यदेव द्वारा तिरस्कृत हुए। इसी प्रकार पहले मुरारि भी भक्तिरस में आस्था न रख ज्ञानमार्ग का अनुसरण करने वाले थे परन्तु उनके इतने मात्र उल्लेख से ही यहाँ शान्तरस का आस्वादन सामाजिकों को नहीं होता है क्योंकि यहाँ उनकी रति का विषय-आलम्बन तो द्विभुज नराकृति श्रीकृष्णचैतन्य हैं, चतुर्भुज नारायण नहीं । वस्तुतः प्रस्तुत नाटक में शान्तभक्ति का परिपाक अन्यत्र भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता है। सम्पूर्ण नाटक में द्विभुज भगवान् के अभिन्न रूप श्रीचैतन्य को ही उपास्य देवता के रूप में स्वीकार किया गया है तथा उनकी लीला का वर्णन ही नाटक का प्रतिपाद्य है। इस कारण चतुर्भुज नारायणपरक शान्त-भक्ति रस का परिपाक नाटक में दुर्लभ है।

दास्य भक्तिरस अथवा प्रीत भक्ति रस

भक्त के चित्त में 'प्रीति' के आस्वादन-योग्यता को प्राप्त करने पर ही प्रीत भक्ति रस

---

[1] वक्ष्यमाणैर्विभावाद्यैः शमिनां स्वाद्यतांगतः । स्थायी शान्तिरतिर्धीरैः शान्तभक्तिरसः स्मृतः । भ०र०सि०, पश्चिम, 1/4

[2] चतुर्भुजश्च शान्तश्च तस्मिन्नालम्बना मताः । वही, पूर्व 1/7

[3] भ०र०सि० बिन्दु, पृ० 147

[4] ऐच्छिकं भगवतश्चुर्भुजत्वम् स्वाभाविकं हि द्विभुजत्वमेव । नाटक, पृ० 20

कहलाता है। दासाभिमानी भक्तों की कृष्ण के प्रति सम्भ्रम से उत्पन्न प्रीति ही आस्वादित होने पर सम्भ्रमप्रीत कहलाती है। लालत्व की भावना से गौरवप्रीत भक्तिरस अभिव्यक्त होता है[1]।

सम्भ्रमप्रीत ही दास्य भक्ति रस है। सर्वज्ञ भक्तवत्सल प्रभु इसके विषयालम्बन हैं। पार्षद आदि भक्त आश्रयालम्बन होते हैं। श्रीकृष्ण का अनुग्रह, चरणधूलि, महाप्रसाद आदि इसके उद्दीपन विभाव हैं। उनकी आज्ञा का पालन अनुभाव है। इस दास्य रस की तीन अवस्थाएं होती हैं स्नेह, प्रेम तथा राग। भक्तों की कोटि के अनुसार ये स्थायि-भाव उनमें रहते हैं। दास्य भक्तिरस में श्रीकृष्ण का दर्शन पहले पहल जब तक होता है, उस अवस्था तक को अयोग कहते हैं । दर्शन के पश्चात् होने वाले विच्छेद को वियोग कहा जाता है[2]।

कविकर्णपूर ने नाटक में इस दास्य भक्ति रस का ही सर्वाधिक प्रतिपादन किया है। श्रीचैतन्य के पार्षद अधिकतर दास भावना से युक्त हैं। यह ठीक है कि कहीं कहीं उनमें सख्य भाव भी विराजित है तथापि दासाभिमानी भक्तों को ही अधिकतर स्थलों पर आश्रय-आलम्बन के रूप में ग्रहण किया गया है। सर्वप्रथम ऐसे भक्तों में श्रीवास का नाम उल्लेखनीय है। श्रीवास के प्रारम्भिक जीवनवृत्त के वर्णन में महाप्रभु के प्रति दास्य भाव का प्रतिपादन शोभन रूप में हुआ है। इसमें सर्वज्ञ तथा भक्तवत्सल श्रीचैतन्य विषय-आलम्बन विभाव हैं। सम्भ्रमप्रीतयुक्त श्रीवास आश्रय आलम्बन हैं। श्रीभगवान् का अनुग्रहपूर्वक श्रीवास को उसकी भावी मृत्यु की सूचना देना तथा अनन्तर मृत्यु से मुक्त करना आदि उद्दीपन विभाव हैं। श्रीवास का भगवान् के आदेशानुसार अपने जीवन को उन्मार्ग की ओर से हटा कर भक्ति की ओर लगाना अनुभाव है। भक्त सामाजिक के चित्त में रहने वाली भगवान् के प्रति सम्भ्रम प्रीति ही दास्यभक्ति रस में परिणत हो जाती है[3]।

महाप्रभु द्वारा अद्वैत को अपना स्वरूप दिखलाने के समय दास्य प्रीति का सुन्दर परिपाक हुआ है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में गौराङ्ग श्रीचैतन्य तथा व्रजनन्दन श्रीकृष्ण एक साथ ही दास्यभक्ति रस के विषयालम्बन विभाव हैं। उनके प्रति सम्भ्रमप्रीतियुक्त अद्वैत आश्रय आलम्बन हैं। भगवान् का कृपाकटाक्ष उद्दीपन है-

अस्माद्विभोर्बहिरुपेत्य महोऽतिनीलमन्तर्ममाविशदहो क्षणतस्तिरोऽभूत् ।
तेनातिदुःखितमना बहिरात्तदृष्टिः पश्यामि तत्पुनरिहैव निमग्नमासीत् ।[4]

---

[1] अनुग्राह्यस्य दासत्वाल्लाल्यत्वादप्ययं द्विधा । भिद्यते सम्भ्रमप्रीतो गौरवप्रीत इत्यपि । भ०र०सि०, पश्चिम, 2/4

[2] भ०र०सि० बिन्दु, पृ० 148-149

[3] नाटक, पृ० 17-18

[4] वही, पृ० 41

वस्तुतः प्रस्तुत नाटक में मुकुन्द, मुरारि, गोपीनाथाचार्य, हरिदास, जगन्नाथ, माधव, प्रतापरुद्र, सार्वभौम भट्टाचार्य, श्रीकान्तसेन, शिवानन्दसेन आदि सभी सम्भ्रम प्रीति के आश्रय हैं। अधिकतर ये सभी भक्त श्रीचैतन्य की भगवत्ता तथा महिमा से पूर्ण परिचित हैं। प्रभु के प्रति प्रेमाधिक्य होने पर भी उनके चित्त में देवविषयक सम्भ्रम भी साथ-साथ उपस्थित है। इसका एक सुन्दर उदाहरण सार्वभौम भट्टाचार्य हैं। पहले प्रकाण्ड वेदान्ती होने पर भी श्रीचैतन्य के कृपाकटाक्ष को प्राप्त करके वे उनके परमभक्त बन गए । चैतन्य का देवरूप उनके मन में भक्ति के साथ सम्भ्रम उदित करने वाला है। श्रीचैतन्य के प्रति सार्वभौम की यह उक्ति इस कथन की परिपोषक है-

नानालीला रसवशतया कुर्वतो लोकलीलां
साक्षात्कारेऽपि च भगवतो नैव तत्त्वबोधः ।
ज्ञातुं शक्नोत्यहह न पुमान्दर्शनात्स्पर्शरत्नं
यावत्स्पर्शाज्जनयतितरां लोहमात्रं न हेम ।।[1]

दास्य भक्ति रस में अपने प्रभु के साथ विच्छेद के काल को वियोग की अभिधा दी गई है। कर्णपूर ने नाटक में इस वियोग की अवस्था का अत्यधिक सुन्दर वर्णन किया है। भक्त की प्रेम-विह्वलता को शब्दों के माध्यम से मूर्त रूप ही मानो दे दिया गया है। इस वियोग अवस्था का चित्रण चतुर्थ अङ्क के उत्तर भाग में किया गया है। महाप्रभु अपने परिकरों को सूचित किए बिना ही रात में संन्यास ग्रहण करने के लिए नवद्वीप छोड़कर 'काँटोया' नामक ग्राम की ओर प्रस्थान कर जाते हैं। प्रातःकाल उनके प्रिय भक्तगण प्रभु के अभाव से विचलित हो इधर-उधर उनकी खोज करते हैं । ऐसी अवस्था में उन भक्तों के वियोगजन्य प्रीति रस का बहुत सुन्दर रूप में परिपाक किया गया है। कतिपय दृष्टान्त अवलोकनीय हैं।

वयः ज्येष्ठ तथा सभी के लिए अनुकरणीय-चरित्र अद्वैताचार्य अपने ईप्सित देवता के विच्छेद से कातर हो, उनके वैशिष्ट्य को स्मरण कर विलाप करते हैं-

हे विश्वंभरदेव हे गुणनिधे हे प्रेमवारांनिधे
हे दीनोद्धरणावतार भगवन्हे भक्तचिन्तामणे।
अन्धीकृत्य दृशोदिशेऽन्धतमसीकृत्याखिलप्राणिनां
शून्यीकृत्य मनांसि मुञ्चति भवान्केनापराधेन नः।।[2]

यहां भक्तों के चिन्तामणि चैतन्यदेव भक्तों के रति के विषयालम्बन हैं। उस उपास्य देवता के प्रति रति-भावयुक्त भक्त आश्रय आलम्बन हैं। महाप्रभु की करुणा, दीनोद्धार

---

[1] वही, पृ० 120

[2] वही, पृ० 79

आदि उद्दीपन हैं। भक्तों के विलापादि अनुभाव हैं। इससे सामाजिकों को दास्य-भक्ति रस का आस्वादन होता है। वियोग-अवस्था का वर्णन होने के कारण इसमें सामाजिक का चित्तद्रव अधिक तीव्रता से होता है।

सख्य भक्ति रस अथवा प्रेयो भक्ति रस

भक्त-चित्त में रहने वाला सख्य रति भाव जब उचित विभावादि के द्वारा परिपुष्ट होकर आस्वाद्यमान होता है तो उसे सख्य भक्ति रस कहते हैं । श्रीरूप गोस्वामी ने इसे ही प्रेयो रस की अभिधा से अभिहित किया है[1]।

इसमें श्रीभगवान् विषयआलम्बन होते हैं तथा उनके वयस्य आश्रयालम्बन माने जाते हैं। भगवान् से आयु में कुछ बड़े अतः कुछ वात्सल्य की भावना से युक्त वयस्यगण सुहृद् कहलाते हैं[2]।

'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक में केवल सख्यभक्ति रस का आश्रय कोई भी भक्त दृष्टिगत नहीं होता है। वास्तव में कवि ने चैतन्यभक्तों में दास्य-भाव का आरोपण करके उसके साथ ही सख्य का सम्मिश्रण कर दिया है। इस प्रकार भावों का सम्मिश्रण वैष्णव आलङ्कारिकों की दृष्टि में अनुचित नहीं है। स्वयं विश्वनाथ चक्रवर्ती ने बलदेव में सख्य, वात्सल्य तथा दास्य, तीनों भावों का सम्मिश्रण माना है[3]।

वस्तुतः सख्य भाव में भक्त तथा भगवान् के मध्य में पार्थक्य समाप्त हो जाता है। जहाँ दास्य भाव में भक्त भगवान् को अपना प्रिय जानकर भी उसकी भगवत्ता के प्रति पूर्ण सचेतन होता है वहीं सख्य में भक्त की भगवत्ता के प्रति मौग्ध्य भाव ही बना रहता है। वैष्णव आलङ्कारिकों ने श्रीकृष्ण को इसका विषय आलम्बन मान लिया था। उनकी शैशव, पौगण्ड तथा कैशौर्य आदि अवस्था में वयस्यों का निस्सङ्कोच सख्य भाव स्वाभाविक था। आयु की अल्पता के कारण भगवान् की भगवत्ता अधिक से अधिक विस्मय को ही जगा सकती है। उससे यदि सम्भ्रम उत्पन्न हो भी तो वह सामयिक एवं शैशव के कारण महत्त्वहीन हो जाता है। श्रीचैतन्य के प्रति भक्तिभाव की स्थायी रति में उस प्रकार के सख्य स्थायी का विराजमान होना अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है। श्रीचैतन्य की भगवत्ता से प्रत्येक व्यक्ति परिचित ही नहीं है, यह उसका स्वसम्वेद्य भी है। ऐसी अवस्था में भगवान् की भगवत्ता भक्तों के मन में स्वाभाविक रूप से ही सम्भ्रम को उत्पन्न करती है। ऐसे सम्भ्रम के साथ पूर्णरूपेण निस्सङ्कोच रहना कठिन है। अतः श्रीचैतन्य के अत्यधिक

---

[1] स्थायी भावो विभावाद्यैः सख्यमात्मोचितैरिह नीतश्चित्तेसतीपुष्टिंरसः प्रेयानुदीर्य्यते। भ०र०सि०, पश्चिम, 3/1

[2] भ०र०सि० बिन्दु, पृ० 150

[3] वही, पृ० 155

निकटस्थ प्रिय पार्षदों के लिये चैतन्य पहले भगवान् हैं, तदनन्तर कुछ और। यही कारण है कि अद्वैताचार्य आदि के चित्त में श्रीचैतन्य के प्रति आयु, घनिष्ठता आदि से उत्पन्न नैकट्य उन्हें सखा की कोटि तक पहुँचा तो देता है पर कालान्तर में भगवान् की भगवत्ता से वह निस्सङ्कोच भाव तिरोहित हो जाता है और उसके स्थान पर सम्भ्रम रति आ जाती है। इसी के परिणामस्वरूप सख्य भक्ति रस नाटक में स्वतन्त्र रूप से बहुत कम पनप पाया है। नाटककार श्रीचैतन्य के साक्षात् सम्पर्क में आ चुके थे। नाटककार ने श्रीचैतन्य के उपास्य रूप का प्रवर्तन अपनी साहित्य सर्जना द्वारा किया है। अतः यह कल्पनातीत बात है कि वे अपने उपास्य देवता को भक्तों के साथ केवल सख्य सम्बन्ध में चित्रित करते। इसी कारण दास्य के साथ सख्य रति का मिश्रण ही स्थल-विशेष पर प्रस्फुटित हुआ है।

जिन भक्तों को सख्य तथा दास्य रति का आश्रय चित्रित किया गया है उनमें सर्वप्रथम अद्वैताचार्य का नाम उल्लेखनीय है । वयोज्येष्ठ अद्वैताचार्य का चैतन्यदेव के प्रति सख्य रति भाव था। नाटक में अभिव्यक्त सख्य भक्ति रस का एक सुन्दर प्रसङ्ग श्रीचैतन्य के संन्यास ग्रहण के पश्चात् का है । अद्वैताचार्य चैतन्य से संन्यास लेने के कारण बड़े निस्सङ्कोच भाव से पूछते हैं-

केयं लीला व्यरचि भवता योऽयमद्वैतभाजामत्यन्तेष्टस्तमधृत भवानाश्रमं यत्तुरीयम्।[1]

इसके प्रत्युत्तर में चैतन्य भी एक मित्र के समान परिहास-पेशल उत्तर देते हैं-

भो अद्वैत स्मर किमु वयं हन्त नाद्वैतभाजो । भेदस्तस्मिंस्त्वयि च यदियान्स्पतो लिङ्गतश्च।।[2]

वस्तुतः भक्ति के मूर्त विग्रह श्रीचैतन्य देव का संन्यासी हो जाना सभी भक्तों के लिए विस्मय का विषय है परन्तु इस शङ्का का उत्थापन भगवान् के समक्ष करना सभी के लिए सम्भव न था। वह तो अद्वैताचार्य के समान किसी निकटस्थ व्यक्ति द्वारा ही हो सकता था। महाप्रभु का प्रत्युत्तर भी जिज्ञासु को दिया गया उत्तर नहीं है वरन् दो समान स्तर के व्यक्तियों के मध्य हुए कथोपकथन के ही ढंग का है । इसके अनन्तर अद्वैत की उक्तियां **'वागीश्वरेण किमुचितं वचनानुवचनम्'** तथा 'सर्वमिदं प्रतारणमेव'[3] आदि भी इसी तथ्य को पुष्ट करती हैं।

श्री अद्वैताचार्य दास्य तथा सख्य भक्ति रस के आश्रय थे, इस तथ्य की पुष्टि स्वयं कविकर्णपूर ने अन्यत्र की है। **"अद्वैत कलयामास दास्य-सख्ये फले उभे।"**[4]

[1] नाटक, पृ० 95

[2] वही, पृ० 96

[3] वही, पृ० 96

[4] गौ०ग०दी०, 24

नाटक में चित्रित नित्यानन्द प्रभु भी सख्य के आश्रय हैं। महाप्रभु की अनुपस्थिति में उनके दण्ड को व्यर्थ समझ कर तोड़ देना एक ऐसी घटना है जिससे नित्यानन्द तथा श्रीकृष्णचैतन्य के नैकट्य तथा उस माध्यम से परिपुष्ट सख्य रति का बोध होता है। यहाँ इस बात पर भी ध्यान देना आवश्यक है कि कर्णपूर ने इस सख्य को भी दास्य के साथ मिश्रित कर दिया है, जिसकी अभिव्यक्ति, श्रीचैतन्य की भगवत्ता के सम्पर्क में कहीं-कहीं नित्यानन्द की उक्तियों, यथा 'आनन्द भगवान् के अधीन तथा जीव आनन्द के अधीन रहता है' आदि से हो जाती है[1]।

वत्सल भक्तिरस

वात्सल्य नामक स्थायिभाव ही विभावादि द्वारा परिपुष्ट होकर वत्सल भक्ति रस में परिणत होता है[2]।

श्रीकृष्ण तथा उनके गुरुजन, जो श्रीकृष्ण में अनुग्राह्य भाव धारण करते हों, क्रमशः इसके विषय-आलम्बन विभाव तथा आश्रय-आलम्बन विभाव हैं। स्मित, बाल्यचेष्टादि इसके उद्दीपन विभाव हैं। लालन, पालन आदि अनुभाव हैं । स्तम्भ, स्वेद आदि सात्त्विक तथा हर्ष, शोक आदि व्यभिचारिभाव हैं[3]।

'चैतन्यचन्द्रोदय' में भक्ति रस के वत्सल नामक भेद का परिपाक देखने से पहले यह ध्यातव्य है कि सख्य भक्ति रस की भाँति वत्सल में भी श्रीकृष्ण तथा श्रीचैतन्य की आलम्बन भिन्नता के कारण कुछ पार्थक्य स्वभावतः उपस्थित हो गया है और श्रीचैतन्य के उत्तरवर्ती जीवन को चित्रित करने के कारण वत्सल भक्ति रस का क्षेत्र सङ्कुचित हो गया है।

नाटक में वत्सल रस की स्वतन्त्र रूप से अभिव्यक्ति अत्यन्त कम हुई है । यहाँ तक कि शची माता का वात्सल्य चैतन्य के प्रति प्रायः शुद्ध वत्सल भक्ति का पोषक नहीं है वरन् उसमें भी दास्य रति का मिश्रण हुआ है । सर्वप्रथम प्रथम अङ्क में शची माता का प्रवेश होता है । उस समय पुत्र विश्वम्भर के प्रेमावेश के सम्पर्क में आने से उनके चित्त में पुत्र की भगवत्ता ही जागृत होती है । परिणाम-स्वरूप माता पुत्र की स्तुति 'भागवत' के श्लोक को उद्धृत करके करती है-

विश्वं यदेतत्स्वतनौ निशान्ते यथावकाशं पुरुषः परोभवान्।
बिभर्ति सोऽयं मम गर्भजोऽभूदहो नृलोकस्य विडम्बनं महत्।।[4]

---

[1] निघ्नानन्दो भवति भगवान् जीव आनन्दनिघ्नः । नाटक, पृ० 88

[2] विभावाद्यैस्तु वात्सल्यं स्थायी पुष्टिमागतः । एष वत्सलतामात्रः प्रोक्तो भक्तिरसो बुधैः । भ०र०सि०, पश्चिम, 4/1

[3] भ०र०सि० बिन्दु, पृ० 153-154

[4] नाटक, पृ० 22

चतुर्थ अङ्क के प्रारम्भ में माता शची तथा पुत्र विश्वम्भर के कथोपकथन के माध्यम से वत्सल भक्ति रस का सुन्दर परिपाक हुआ है। परमेश विश्वम्भर को अपने पुत्र-ज्ञान से माता का व्यवहार, उसके लिए चिन्ता व्यक्त करने तथा अन्ततः उसी को अपना सर्वस्व यहाँ तक कि सीमित मातृभाव से स्वयं कृष्ण जान कर उसकी दैनन्दिन सुख-सुविधा का ध्यान रखने में व्यापृत हो जाना[1], वस्तुतः नाटक के कतिपय सुन्दर रस-पेशल सन्दर्भों में से एक है।

प्रस्तुत सन्दर्भ में माता शची के वत्सल रति-स्थायिभाव का विषय स्वयं चैतन्य होने के कारण वे विषयालम्बन विभाव हैं । वत्सल रति भावयुक्त माता शची आश्रयालम्बन विभाव हैं। चैतन्यदेव का संन्यासी के प्रति अनुराग उद्दीपन विभाव है। माता का लालन-पालन का भाव अनुभाव है। इसके साथ माता की चिन्ता, शोक आदि व्यभिचारि भाव हैं जिनसे पुष्ट होकर वत्सल भक्ति रस सहृदयों का आस्वाद्य विषय बनता है।

माता के अतिरिक्त दास्य भक्ति युक्त भक्तों में से कतिपय वत्सल रति भाव के भी आश्रय हैं, यथा नित्यानन्द प्रभु भी गुरुजन की भाँति चैतन्य के लिए व्यग्र होते हैं तथा उन्हें स्वस्थ करने में प्रयत्नशील होते हैं जबकि चैतन्य संन्यास ग्रहण करने के तत्काल बाद प्रेमावेश में विह्वल होकर बाह्यवृत्ति शून्य हो जाते हैं .

नाहारोऽद्य दिनत्रयं न च पयः पानं किमन्याः क्रियाः।
कौपीनेकपरिच्छदो निजसुखावेशैकमात्रानुगः।।
गच्छन्नेव दिनं निशामपि विभुर्नो वेत्ति किं कुर्महे।
हे गौराङ्ग कृपानिधे कुरुकृपामार्ते मयि प्रीयताम्।।[2]

मधुर भक्ति रस

भक्त हृदय की मधुरा रति ही विभावादि की सहायता से मधुर रस में परिणत हो जाती है[3]।

मधुर रस के विषयालम्बन हैं रूप माधुर्य, वेणु माधुर्य, लीला माधुर्य तथा प्रेम माधुर्य के सिन्धु श्रीकृष्ण। प्रेयसीगण आश्रयालम्बन हैं। मुरली-ध्वनि, वसन्तादि उद्दीपन विभाव हैं। कटाक्ष, हास्य आदि अनुभाव हैं। आलस्य तथा उग्रता रहित निर्वेद आदि इसके व्यभिचारिभाव और प्रियता रति ही इसका स्थायिभाव है[4]।

---

[1] वही, पृ० 22

[2] वही, पृ० 88

[3] आत्मोचितैर्विभावाद्यैः पुष्टिं नीता सतां हृदि । मधुराख्यो भवेद्भक्तिरसोऽसौ मधुरारतिः। भ०र०सि०, पश्चिम, 5/1

[4] भ०र०सि० बिन्दु, पृ० 155

यह मधुर नामक भक्ति रस विप्रलम्भ तथा सम्भोग भेद से दो प्रकार का है[1]।

'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक में वैसे तो इस मधुर भक्ति रस के परिपाक का कोई स्थान न था क्योंकि श्रीचैतन्य तो स्वयं राधा-कृष्ण की युगलमूर्ति माने गए हैं तथा उनके परिकर-वर्ग सभी पुरुष हैं। अतः उनमें परस्पर मैत्री तो सम्भव है, मधुरा रति नहीं परन्तु कवि कर्णपूर ने दस अङ्कों के इस नाटक में एक गर्भाङ्क की योजना करके इस अभाव को दूर कर दिया है। तृतीय अङ्क में दान लीला प्रसङ्ग को लेकर 'दान-विनोद' नामक अभिनय में कुसुमासव, सुबल आदि अपने वयस्यों के साथ श्रीकृष्ण का वन-गमन तथा वृद्धा योगमाया के संरक्षण में सखियों के साथ राधा का भी वहीं पहुँचने का वर्णन है। गोपेश्वर की पूजा सम्पन्न करने के लिए ललिता आदि सखियां फूल चुनती हैं जिससे कृष्ण उनसे वन के स्वामी होने के अधिकार से 'कर' मांगते हैं। बाह्यरूपेण उनका परस्पर विरोध प्रदर्शित करने पर भी नाटककार ने कृष्ण तथा राधा को परस्पर मधुर रस का विषयालम्बन बनाया है । यहाँ उनका रूप माधुर्य ही प्रमुखतया व्यञ्जित है । मधुर रस का एक सुन्दर निदर्शन उपस्थित है-

श्यामीकरोति भुवनं वपुषा दिगन्तान्पूर्णेन्दुमण्डलमयी कुरुते मुखेन।
वाचा सुधारसभृतो विदधाति कर्णान्दृष्ट्या नभोम्बुजमयी कुरुते किमेतत्।[2]

प्रस्तुत पद्य में रूप माधुर्य से सम्पन्न श्रीकृष्ण विषयालम्बन हैं। उनके प्रति मधुरा रतियुक्ता राधा आश्रयालम्बन है। राधा का सस्पृह अवलोकनादि अनुभाव है जिससे सामाजिकों को माधुर्य रस की अनुभूति होती है।

राधा के प्रेम में विभोर कृष्ण का सुन्दर चित्रण भी कर्णपूर ने किया है । श्रीराधा के अङ्गलावण्य का अतिशयोक्ति के माध्यम से वर्णन करते हुये नाटककार ने उसमें मधुर रस की सुन्दर व्यञ्जना की हैं-

एतत्स्वर्णसरोरुहं तदुपरि श्रीनीलरत्नोत्पले
तत्पश्चात्कुरुविन्दकन्दलपुटे तत्रापि मुक्तावली।
सर्वं दृश्यत एव किन्तु निभृता या हेमकुम्भद्वयी।
किं वान्यन्नयसेऽनयेति तदिदं बाले विचार्य मम।[3]

प्रस्तुत पद्य में श्रीराधा विषयालम्बन हैं । उनके प्रति रतियुक्त कृष्ण आश्रयालम्बन हैं। पूर्वोक्त पद्य के समान यहाँ भी अवलोकन आदि अनुभाव हैं। मधुर रस

[1] स विप्रलम्भः सम्भोग इति द्वेधोज्ज्वलो मतः। श्रीरूप, उज्ज्वलनीलमणि, शृङ्गारभेदप्रकरण, 1

[2] नाटक, पृ० 62

[3] वही, पृ० 67

आस्वादनीय है।

नाटककार के अनुसार मधुर रस के उदाहरण रूप में प्रस्तुत राधा तथा कृष्ण के प्रेमपरक पद्यों से यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि ये लौकिक शृङ्गार रस के प्रतिपादक पद्य हैं। भक्त भगवान् के प्रति अपनी वासना के अनुरूप ही भक्ति रस का आस्वादन करता है। राधा तथा कृष्ण के मधुर भाव का विवेचन उसी दृष्टि से करना उचित है।

कर्णपूर ने प्रेमरस अथवा माधुर्य रस का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत नाटक में किया है। तदनुसार भक्त की भगवान् के प्रति वह भक्ति ही श्रेष्ठ है जिसमें दोनों में भेद बुद्धि न रहे। कर्णपूर ने रामानन्द के मुख से इसी का स्पष्टीकरण इस प्रकार कराया है-

सखि न स रमणो नाहं रमणीति भिदावयोरास्ते।
प्रेमरसेनोभयमन इव मदनो निष्पिपेष बलात्।।[1]

इसके साथ ही वे मानते हैं-

निरुपधि हि प्रेम कथञ्चिदप्युपधिं न सहते।[2]

अस्तु नाटक में इस मधुराभक्ति का स्वल्प अवसर है जो सुन्दर है।

गौण-रति-विवेचन

भक्ति रस के मुख्या रति के आधार पर पाँच भेदों के अतिरिक्त सात गौण रति भेद भी श्रीरूपगोस्वामी द्वारा स्वीकार किए गये हैं, हास, विस्मय, उत्साह, शोक, क्रोध, भय, जुगुप्सा अथवा निन्दा। इनसे हास्य, अद्‌भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक तथा बीभत्स, सात रस परिपुष्ट होते हैं। इनमें से हासरति विभावादि के सहयोग से हास्यरस में परिणत हो जाती है। इसका विषय तथा आश्रय आलम्बन स्वयं भगवान् तथा उनसे सम्बन्धित अन्य व्यक्ति होते हैं। हास्योद्दीपक वेश, आचरण आदि उद्दीपन विभाव होते हैं। कविकर्णपूर ने छः उत्तम रसों में हास्य की गणना की है। वे छः रस क्रमशः उज्ज्वल, अद्‌भुत, शम, हास, प्रेम, वत्सल हैं[3]।

प्रस्तुत नाटक में हास्य रस का अत्यधिक सुन्दर परिपाक स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होता है। प्रथमतः 'दान-विनोद' नामक तृतीयाङ्क का गर्भाङ्क इस प्रसङ्ग में द्रष्टव्य है । कृष्णसखा कुसुमासव तथा राधा की सखियों की श्लेषात्मक उक्तियों द्वारा कुसुमासव से

---

[1] वही, पृ० 131

[2] वही, पृ० 131

[3] उज्ज्वलाद्‌भुतशमाश्च हासश्च प्रेम वत्सल इतीह रसाः षट् ।
उत्तमा इति तदाश्रयीभाजो भक्तयश्च षड्मूरतियोग्याः ।
वही, पृ० 44

यह पूछने पर कि 'तुम्हारा सखा इस वन का कौन है' कुसुमासव बहुत सरलता से उत्तर देता है-

कुसुमासव-ललिदे अहिआरी अअम्।

ललिता-होइ, एवं णेदम्। अहिओ अरी जइ ण होइ तदो कधं अम्ह पिअसहीए एदस्स वणस्स एदारिसी अवत्था[1]।

यहाँ पर 'अधिकारिन्' शब्द का अधिक अरि इस प्रकार अर्थ लेकर हास्य रस की सुन्दर पुष्टि हुई है। इसी कुसुमासव को ही आश्रय बनाकर हास्य रस के अन्य स्थल भी द्रष्टव्य हैं।

कर्णपूर ने हास्य रस का परिपाक तो किया है परन्तु वह वेश-भूषा आदि के द्वारा उद्दीपित नहीं हुआ है अपितु हास्योद्दीपक कथोपकथन द्वारा हुआ है। इस हास्य की विशेषता यह है कि वह शिष्ट तथा सहृदयसंवेद्य है। श्रीचैतन्य तथा उनके पार्षद अद्वैत एवं नित्यानन्द के मध्य कथोपकथन के द्वारा भी हास्य का पोषण सुन्दर बन पड़ा है।

भगवान्- (सपरिहासमद्वैतं प्रति) सीतापतिर्जयति लोकमलघ्नकीर्तिः।

अद्वैतः - कुतोऽत्र रघुनाथो नाथो हि यदूनामयमुज्जृम्भते। तत्र भवान् भगवान्[2]।

यहाँ सीतापति शिलष्ट पद है जो एक ओर जानकी-नायक श्रीराम को द्योतित कर रहा है तो दूसरी ओर अद्वैत की पत्नी का नाम भी सीता होने के कारण अद्वैत को भी बता रहा है। अतः परिहासजन्य हास्य आस्वाद्य है।

इसी परिहास का उत्तर अद्वैताचार्य भी परिहास की वाणी में देते हैं-

भगवान् - श्रीविष्णुभक्तिः सा भवत्सु सत्सु वर्तते एव।

अद्वैतः - इदानीं सैव विष्णुप्रिया।

भगवान् - अथ किम्। सत्सु ज्ञानादिमार्गेषु भक्तिरेव विष्णोः प्रिया।

अद्वैतः - अतएव भवानपि तामङ्गीचकार[3]।

भगवान् चैतन्य की पत्नी विष्णुप्रिया की ओर इङ्गित करके यहाँ हास्य की पुष्टि की गई है । इस प्रकार हास्य के उदाहरण अन्यत्र भी द्रष्टव्य हैं।

सात्त्विक भावों का भी नाटक में यत्र तत्र सुन्दर परिपाक मिलता है। कतिपय सात्त्विक तथा सञ्चारिभावों के समावेश से ही चैतन्य की प्रेम विह्वलता का सुन्दर चित्रण प्रस्तुत किया जा रहा है जिससे भक्ति परिपुष्ट होकर आस्वादन की योग्यता तक

---

[1] वही, पृ० 61

[2] वही, पृ० 37

[3] वही, पृ० 37

पहुँचती है-

रोमाञ्चाः पुनरुन्मिषन्ति नयने भूयोऽपि पर्यश्रुणी।
निष्ठेवश्च पुनः प्ररोहति पुनः श्वासोऽवरं धावति।
सर्वेषाममितोऽमितः समुदयत्याह्लादकोलाहलो
देवो जागरयांचकार हृदयं स्वानन्दमूर्छा त्यजन्।[1]

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट होता है कि नाटक में पाँच मुख्य तथा सात गौण रसों में से अधिकतर का परिपाक नाटक में करने का प्रयास हुआ है । नाटक में आदि से अन्त तक सतत गतिशील होने पर भी भक्ति रस को सम्प्रेषणीय बनाने में नाटककार कहीं कहीं पर पूर्ण सफल नहीं हो सके हैं। रस, चाहे वह लौकिक हो अथवा अप्राकृत, शब्द तो उसके अभिव्यञ्जक मात्र हुआ करते हैं। शब्दोपात्त विभावादि द्वारा सामाजिक के चित्त-स्थित स्थायी भाव ही रस रूप में परिणत होते हैं। अतः अभिनेय काव्य में रसाभिव्यक्ति के लिए आवश्यक है कि विभावादि की सुचारु संयोजना हो। नाटक में इस दृष्टि से कुछ त्रुटियां रह गई हैं जिस कारण रसाभिव्यञ्जना अविरत रूप से नहीं हो पाई है।

कविकर्णपूर के रस-योजन में पूर्ण सफल न होने के कई कारण हैं। प्रथमतः नाटक की कथा इतनी विस्तृत तथा घटना-बहुल है कि नाटककार की एकाग्रता बहुल अंश में घटनाओं के संयोजन में ही लगी रही है। दस अङ्कों के इस विशालकाय नाटक में भी स्थान का अभाव सा ही प्रतीत होता है। परिणामतः नाटककार घटनाओं को दृश्य रूप में उपस्थित करने की अपेक्षा श्रव्य रूप में ही उपस्थित करता है। नाटककार के पास बताने को इतना कुछ है और वह किसी भी घटना को बताने का लोभ संवरण नहीं कर सकता है। अतः एक साथ कई-कई घटनाओं की सूचना मात्र दे दी जाती है। दृष्यन्त रूप में नवम अङ्क के स्त्री और पुरुष के कथोपकथन को लें । इस संक्षिप्त कथोपकथन में ही महाप्रभु के 'लोकानुग्रहप्रकार' को प्रतिष्ठित करने के उद्देश्य से लेखक ने साक्षात्कार करवाने वाला, परहृदयप्रवेश तथा चिन्तनमात्राविर्भाव रूप तीन प्रकार के लोकानुग्रह से सम्बन्धित नकुल ब्रह्मचारी तथा शिवानन्दसेन की दो कथाओं को बताया है। इस प्रकार अभिनेय काव्य में कथा-वाचन मात्र कर देने से रसाभिव्यक्ति ठीक नहीं हो सकती है। प्रस्तुत नाटक में वही हुआ है।

रसाभिव्यक्ति के असाफल्य का द्वितीय कारण है, बहुत अधिक तथा विस्तृत अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग। 'रस' को नाटक के अङ्क में परिपुष्ट किया जाता है, अङ्क से बाहर नहीं। 'चैतन्यचन्द्रोदय' के अर्थोपक्षेपक घटनाओं के विस्तार को तो समेट लेते हैं परन्तु रस-प्रवाह में व्यवधान की सृष्टि कर देते हैं। उदाहरणतः प्रथम अङ्क का प्रारम्भिक विष्कम्भक

---

[1] वही, पृ० 201

लगभग पचास श्लोकों का है जबकि मूल अङ्क केवल पन्द्रह श्लोकों के परिसर में व्याप्त है। रस का परिपाक नाटक के प्रधान पात्र पर निर्भर करता है और वह केवल अङ्क में ही उपस्थित रहता है। ऐसी अवस्था में अङ्क के संक्षिप्त होने के कारण रस-निष्पत्ति के लिए अत्यन्त कम क्षेत्र उपलब्ध होता है एवं बहुधा रस परिपाक समुचित नहीं हो पाता है।

नाटक में रस के पूर्ण परिपाक न होने का एक अन्य कारण यह भी है कि लेखक नाटक के प्रारम्भ से ही अपने नायक की भगवत्ता की स्थापना के लिए बद्धपरिकर था। कविकर्णपूर ने अपने चरितनायक के देवत्व को प्रतिष्ठित करने के लिए दार्शनिकों की भांति युक्तियों का आश्रय लिया है। जिस भी सिद्धान्त की स्थापना करनी लेखक को अभिप्रेत रही उसने उसी के लिए शास्त्रों से प्रमाण तथा युक्तियों को उपस्थित किया है। उदाहरण द्रष्टव्य है-परमेश के चैतन्य के रूप में अवतरित होने की बात का उल्लेख अद्वैत करते हैं। अपनी बात की पुष्टि के लिए वे 'भागवत' से उद्धरण ही नहीं देते हैं वरन् उसकी विशद व्याख्या भी करते हैं-

'कथमन्यथा,

तथा परमहंसानां मुनीनाममलात्मानाम्।भक्तियोगविधानार्थ कथं पश्येमहि स्त्रियः। इति कुन्त्यक्तदिशा तथाविधानां नीरसतया शुष्कहृदयानां मुनीनां हृदयसरसीकरणाय प्रकटितजगन्मङ्गलमङ्गलावतारेण स्वयं भगवत्ता व्रजराजकुमारेण विरचितासु ..... भगवत्युत्तमश्लोके भवतीभिरनुत्तमा भक्तिः प्रवर्तिता दिष्ट्या मुनीनामपि दुर्लभा।।[1]

इस शास्त्रीय विवेचन के कारण रसाभिव्यक्ति में बाधा उत्पन्न हो जाती है। रस की सुन्दर तथा सफल अभिव्यक्ति न हो पाने का एक कारण प्रस्तुत नाटक में नायक की अपेक्षा अन्य पात्रों का मञ्च पर अधिक समय तक रहना भी है। अतः आलम्बन-विभाव चैतन्य के अभाव में रस का वैसा परिपाक नहीं हो सकता है जैसा कि होना चाहिए। इन दोषों के होने पर भी नाटक के अधिकतर स्थल रसाभिव्यक्ति के सुन्दर निदर्शन है। तृतीय अङ्क का दान-केलि-अभिनय तथा चतुर्थ अङ्क का चैतन्य-वियोग में भक्तों द्वारा किया गया विलाप वस्तुतः हृदयाग्राही बन पड़ा है। वस्तुतः 'चैतन्यचन्द्रोदय' को रसाभिव्यञ्जना की दृष्टि से असफल कृति सम्भवतः नहीं कहा जा सकता है।

---

[1] वही, पृ० 17

षष्ठ परिच्छेद

चैतन्यचन्द्रोदय – गौड़ीय वैष्णव दर्शन

कविकर्णपूर द्वारा प्रतिपादित प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त

श्री चैतन्य – अवतार का उद्देश्य

अन्य दार्शनिक विषय

प्रतीकात्मक पात्र – दार्शनिकता

[illegible]

[illegible]

[illegible]

[illegible]

षष्ठ परिच्छेद
चैतन्यचन्द्रोदय-गौड़ीय वैष्णव दर्शन

रसात्मक होने के कारण सामान्यतः नाटकों में दार्शनिकता का अवसर अधिक नहीं होता है। कर्णपूर रचित 'चैतन्यचन्द्रोदय' इस दृष्टि से अपवाद है। लोकनायक चैतन्य की लीला का वर्णन करते हुए लेखक चैतन्य की दार्शनिक मान्यताओं की स्थापना के लिये बद्धपरिकर प्रतीत होता है। कवि एक ही समय में भक्तिरस की अभिव्यञ्जना तथा भक्तियोग की स्थापना करते हैं। इसी के परिणामस्वरूप प्रस्तुत नाटक में स्थल-स्थल पर गौड़ीय वैष्णव-दर्शन के मूल सिद्धान्तों का विश्लेषण तथा उनकी प्रतिष्ठ्ा की गई है। इन मूल सिद्धान्तों का विवेचन करने से पूर्व प्रासङ्गिक होगा गौड़ीय वैष्णव दर्शन तथा उसके उपजीव्य ग्रन्थों पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालना।

गौड़ीय-वैष्णव धर्म के प्रवर्तक श्रीचैतन्य ने किसी सैद्धान्तिक ग्रन्थ की रचना नहीं की थी, इसका सङ्केत स्वयं कर्णपूर ने 'चैतन्यचन्द्रोदय' में दिया है । कर्णपूर के अनुसार 'वेदकर्ता अन्तर्यामी' भगवान् जिसे प्रेरणा देना चाहते हैं वह प्रेरणा बाह्य कारणों की मुखापेक्षी नहीं होती है। अतः बाह्य उपदेशादि के अभाव में भी वह प्रेरणा बाधित नहीं होती है [1]। यहाँ कर्णपूर सम्भवतः उसी परम्परा का समर्थन कर रहे हैं जिसके अनुसार यह विश्वास किया जाता है कि श्रीसनातन तथा श्रीरूप ने श्रीचैतन्य के निर्देशानुसार गौड़ीय धर्म के मूल आधार-स्वरूप सैद्धान्तिक ग्रन्थों की रचना की थी। वस्तुतः गौड़ीय-वैष्णव धर्म तथा दर्शन सम्बन्धित प्रमुख ग्रन्थ श्री सनातन, रूप तथा जीवगोस्वामी रचित हैं। ये तीनों ही वृन्दावन के गोस्वामी के रूप में ख्यात थे। बंगाल में इन ग्रन्थों की तुलना में उल्लेखनीय अन्य किसी सैद्धान्तिक ग्रन्थ की रचना नहीं हुई है। इस दृष्टि से एकमात्र कविकर्णपूर का नाम ही लिया जा सकता है जिन्होंने अपनी साहित्यिक रचना 'चैतन्यचन्द्रोदय' में चैतन्य लीला के साथ-साथ चैतन्य प्रवर्तित गौड़ीय वैष्णव धर्म का दार्शनिक दृष्टि से विवेचन किया। कर्णपूर के अतिरिक्त केवल वृन्दावन-गोस्वामियों के निकटजन कृष्णदास कविराज का उल्लेख इस सन्दर्भ में किया जा सकता है जिन्होंने अपने चरितकाव्य 'चैतन्यचरितामृत' में गौड़ीय-वैष्णव दर्शन का विस्तार से विवेचन किया है। इसके साथ श्रीरूप के 'भक्तिरसामृत-सिन्धु' तथा श्रीजीव के 'षट्सन्दर्भ' जो वैष्णव-दर्शन के आधार

[1] यद्यपि को न वेद वेदकर्तृत्वं भगवतस्तथापि खल्वन्तर्यामी यामीहते प्रेरणां न खलु सा बाह्योपदेशतो देशतो वा कालतश्च परिच्छिन्ना भवितुमर्हति। नाटक, पृ० 8

कहे जा सकते हैं, के परिप्रेक्ष्य में कर्णपूर के दार्शनिक सिद्धान्तों का मूल्याङ्कन सरलता से किया जा सकता है।

गौड़ीय सम्प्रदाय पाञ्चरात्र-मत का पोषक है। 'पाञ्चरात्र' से यहाँ 'भागवत' सम्प्रदाय भी अभिप्रेत है। 'श्रीमद्भागवत' पर ही 'भागवत सम्प्रदाय' प्रतिष्ठित है। श्रीजीव ने 'श्रीमद्भागवत' की टीका तथा 'षट्सन्दर्भ' में 'पाञ्चरात्र' के साथ भागवत मत के समन्वय को स्थापित किया है[1]। श्रीजीव ने 'तत्त्वसन्दर्भ' में 'श्रीमद्भागवत' को परम श्रुति तथा विषयवाक्य कहा है[2]। परमनिःश्रेयस् के निर्धारण के लिये भी 'श्रीमद्भागवत' को विचारणीय स्वीकार किया गया है क्योंकि इसमें पौर्वापर्य का विरोध नहीं होता है[3]। कविकर्णपूर ने नाटक की किसी मान्यता के समर्थन के लिये प्रधानतया 'पाञ्चरात्र' तथा 'श्रीमद्भागवत' को अपना आधार बनाया है। इसी कारण नाटक में अनेकों पंक्तियाँ उक्त ग्रन्थों से उद्धृत की गई हैं जिनका यथास्थान विवेचन किया जायेगा। इनके अतिरिक्त 'तैत्तिरीय', 'छान्दोग्य' तथा 'बृहदारण्यक' आदि उपनिषद् एवं 'महाभारत', 'ब्रह्मसूत्र', 'नारदीय पुराण', 'विष्णुपुराण' आदि अनेक ग्रन्थों से भी उद्धरण नाटक में लिये गये हैं। कर्णपूर के दार्शनिक विवेचन की शैली ही यह है कि वे किसी भी विचार को व्यक्त करना ही पर्याप्त नहीं समझते हैं, वरन् उचित प्रमाण देकर उसकी स्थापना भी करते हैं।

कविकर्णपूर द्वारा प्रतिपादित प्रमुख दार्शनिक सिद्धान्त

'चैतन्यचन्द्रोदय' में कर्णपूर ने अनेकों दार्शनिक सिद्धान्तों का उल्लेख किया है । कतिपय प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत है -

श्रीचैतन्य तथा श्रीकृष्ण में अभेद

कर्णपूर के अनुसार श्रीचैतन्य स्वयं हरि हैं। वे हरि भक्तियोग की शिक्षा देने के लिये रस युक्त होकर तथा संसार को पावन करने के लिये ब्राह्मण के घर में बालक रूप में अवतरित हुये हैं[4]। यह चैतन्य कृष्ण के अंशावतार नहीं हैं वरन् कृष्ण के साथ उनका अद्वैत है।[5] वस्तुतः कृष्णस्वरूप ही चैतन्य हैं अतएव संन्यास-ग्रहण के पश्चात् 'कृष्णचैतन्य' नाम धारण करना उनके लिये उपयुक्त है । इस नाम से 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य का अर्थ भी उन पर चरितार्थ होता है[6]। कर्णपूर ने चैतन्य तथा श्रीकृष्ण में जो अभिन्नता स्थापित की है वह उनकी मौलिक मान्यता नहीं है । वैष्णव सम्प्रदाय में, चाहे वह बंगाल

---

[1] द्र० गोपीनाथ कविराज, भारतीय साधनार धारा, पृ० 2

[2] (अ) परमश्रुति-रूपत्वंतस्य (ब) विषयवाक्यम्-श्रीमद्भागवतवाक्यम्। तत्त्वसन्दर्भ, पृ० 72-73

[3] तदेवं परमनिःश्रेयसनिश्चयाय श्रीभागवतमेव पौर्वापर्याविरोधनेन विचार्यते । वही, पृ० 73

[4] हरिहरि हरिभक्तियोगशिक्षासरसमना जगदेव निष्पुणानः ।
हरिरिह कनकाब्जकान्तकान्तिर्द्विजभवनेऽवततार बाललीलः ।
नाटक, पृ० 7

[5] कृष्णेन सह तव अद्वैतम्...। वही, पृ० 41

[6] कृष्णस्वरूपं चैतन्यं कृष्णचैतन्यसंज्ञितः। अतएव महावाक्यस्यार्थो हि फलवानिह । वही, पृ० 86

का हो अथवा वृन्दावन का, चैतन्य को कृष्ण रूप में स्वीकार किया गया है। प्रथम चैतन्यचरितकार मुरारिगुप्त ने श्रीचैतन्य को अज, पुरातन, चतुर्भुज एवं शङ्ख, चक्र, गदा तथा पद्मशोभित, श्रीवत्स-चिह्न से चिह्नित वक्षस्थल वाले तथा सुवासित, मणि से शोभित भालवाले हरि के रूप में प्रणाम किया है[1]। श्रीरूप ने मङ्गलाचरण करते हुये चैतन्य को कृष्ण से अभिन्न स्वीकार किया है। उनका कथन है, 'उन हरि चैतन्यदेव के चरणकमलों में मेरी प्रणति है जिनकी प्रेरणा को हृदय में प्राप्त करके मुझ जैसा तुच्छ व्यक्ति इस काम में (अर्थात् 'भक्तिरसामृतसिन्धु' की रचना में) प्रवृत्त हुआ है[2]।' रघुनाथगोस्वामी ने चैतन्य की दर्शनाभिलाषा से कहा है कि 'श्रीकृष्ण ने गोष्ठ के मुकुर में अतुलनीय स्वयं को देखकर राधा की प्रिय सखी के समान अपनी उस रूप माधुरी को प्राप्त करने की इच्छा से गौर-तनु धारण किया है तथा गौड़ देश में शची के पुत्र-रूप में उत्पन्न हुये हैं[3]। कृष्णदास कविराज ने 'चैतन्यचरितामृत' में तो अनेक स्थलों पर चैतन्य तथा कृष्ण की प्रत्यक्ष एवं परोक्ष रूप से अभिन्नता स्थापित की है[4]।

ऊपर प्रस्तुत उद्धरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि कविकर्णपूर के समान अन्य वैष्णव-ग्रन्थों में भी चैतन्य को केवल लोकनायक अथवा ऐतिहासिक पुरुष के रूप में स्वीकार नहीं किया गया है वरन् उनका वर्णन श्रीकृष्ण के साथ अभिन्न रूप में हुआ है। कर्णपूर के नाटक से स्पष्ट है कि लेखक चैतन्य-तत्त्व की स्थापना के लिये प्रयत्नशील हैं। यही कारण है कि नाटक के आरम्भ से लेकर अन्त तक लेखक ने बिना किसी निर्धारित क्रम के कभी श्रीकृष्ण तो कभी श्रीचैतन्य के तत्त्व का निरूपण किया है। श्रीरूप ने चैतन्य को कृष्ण के रूप में नमन अवश्य किया है परन्तु 'भक्तिरसामृतसिन्धु' में जिस प्रकार उन्होंने श्रीकृष्ण को ही परमतत्त्व स्वीकार किया है उस प्रकार चैतन्य का उल्लेख नहीं हुआ है। भक्ति की परिभाषा करते हुये उन्होंने कहा कि 'अनुकूल भावना से कृष्ण का

---

[1] नमामि चैतन्यमजं पुरातनं, चतुर्भुजं शङ्खगदाब्जचक्रिणम् ।
श्रीवत्सलक्ष्माङ्कितवक्षसं हरिं, सद्भालसंलग्नमणिं सुवाससम् ।।
कड़चा, 1/1/14

[2] हृदि यस्य प्रेरणया प्रवर्तितोऽहं बराकरूपोऽपि ।
तस्य हरेः पदकमलं वन्दे चैतन्यदेवस्य ।। भ०र०सि०, पूर्व, 1/2

[3] हरिर्दृष्ट्वा गोष्ठे मुकुरगतमात्मानमतुलम् स्वमाधुर्यां राधाप्रियतरसखीवाप्तुमभितः ।
अहो गौड़े जातः प्रभुरपरगौरैकतनुभाक् शचीसूनुः किं मे नयनशरणीं यास्यति पुनः ।।
स्तवावली, श्रीचैतन्याष्टकम्, 2

[4] व्रजे जे विहरे पूर्व्वे कृष्ण बलराम । कोटि सूर्य-चन्द्र जिनि दोहार निजधाम।।
से इ दुइ जगतेरे हइया सदय । गौड़देशे पूर्व्वशैले करिला उदय।। चै०च० आदि, 1, पृ० 3
(व्रज में जो पहले कृष्ण तथा बलराम के रूप में विहार करते थे और करोड़ों सूर्य एवं चन्द्रमा के समान जिन का तेज है,वे दोनों जगत् पर दयालु होकर गौड़देश रूपी पूर्व-शैल में उदित हुये)

सेवन करना ही उत्तम भक्ति है[1]।' इसी प्रकार कृष्ण तथा ब्रह्म के ऐक्य की स्थापना करते हुये उन्होंने स्पष्ट किया है कि 'जो शत्रुओं तथा प्रियों दोनों के प्राप्य एक ही कृष्ण का वर्णन है वह किरणों और सूर्य के समान ब्रह्म तथा कृष्ण के अभेद के कारण किया गया है[2]।' यहाँ ब्रह्म तथा कृष्ण में अभेद मान कर भी ब्रह्म की अपेक्षा कृष्ण को अधिक महत्त्व दिया गया है । इन उद्धरणों के अतिरिक्त ग्रन्थ में अन्यत्र कृष्ण के रूप का विवेचन तथा उस आधार पर रस-निर्धारण किया गया है परन्तु चैतन्य के सन्दर्भ में ऐसी कोई दार्शनिक मान्यता नहीं मिलती है। श्रीजीव ने 'षट्सन्दर्भ' में विस्तार से तत्त्व, भगवत्, परमात्मा, श्रीकृष्ण, भक्ति तथा प्रीति का विवेचन किया है। इनमें से प्रथम चार सन्दर्भों के प्रतिपाद्य श्रीकृष्ण हैं। वे ही एकमात्र तत्त्व स्वीकार किये गए हैं। 'भक्ति-सन्दर्भ' में भक्ति के ही अभिधेयत्व तथा श्रेष्ठत्व का प्रतिपादन हुआ है। एकमात्र भक्ति के द्वारा ही कृष्ण सेव्य हैं। भक्तिधर्म का प्रयोजन तथा उसके अभीष्ट फल का विवेचन प्रीतिसन्दर्भ में हुआ है[3]। 'षट्सन्दर्भ' के इस संक्षिप्त सङ्केत से स्पष्ट है कि उक्त ग्रन्थ का मुख्य विवेच्य तत्त्व श्रीकृष्ण हैं, श्रीचैतन्य नहीं। फिर भी वृन्दावन के षड्गोस्वामियों में से श्रीजीव ही ऐसे हैं जिन्होंने कृष्ण के साथ चैतन्य की भगवत्ता पर भी स्वल्प प्रकाश डाला है। 'तत्त्वसन्दर्भ' के द्वितीय श्लोक में कलियुग में अवतरित चैतन्य-रूपी कृष्ण का वर्णन किया है । जीव के अनुसार 'श्रीमद्भागवत' में इसी का सङ्केत किया गया था। 'तत्त्वसन्दर्भ' के प्रस्तावित श्लोक में कहा गया है, 'अन्दर से कृष्ण तथा बाहर से गौर तथा अपनी अङ्गकान्ति को प्रकट करने वाले कृष्णचैतन्य की इस कलियुग में हम सङ्कीर्तनादि के द्वारा उपासना करते हैं[4]।' यहाँ 'अन्तःकृष्ण' तथा 'बहिःगौर' श्रीचैतन्य के ही विशेषण हैं । श्रीजीव ने अपनी 'सर्वसंवादिनी' में 'भागवत' के श्लोक (10-8-23 तथा 11-5-32) के आधार पर श्रीचैतन्य की भगवत्ता की सप्रमाण स्थापना की है[5]।

श्रीकृष्ण-परमतत्त्व हैं

प्रस्तुत वर्णन से स्पष्ट हो गया है कि चैतन्य को कर्णपूर ने जो श्रीकृष्ण से अभिन्न स्वीकार किया है, यह वैष्णव दर्शन का स्वीकृत मत है । अब प्रश्न उत्थापित होता है कि चैतन्य से अभिन्न यह कृष्ण स्वरूपतः कौन हैं ? क्या ये कृष्ण विष्णु के अवतार मात्र हैं अथवा परमब्रह्म हैं ? चैतन्यदेवप्रवर्तित गौड़ीय वैष्णव धर्म में प्रतिष्ठित ये कृष्ण विष्णु के अवतार मात्र नहीं हैं । वे ही परमतत्त्व हैं । कविकर्णपूर के नाटक में इसी मान्यता का

---

[1] आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा । भ०र०सि०, पूर्व, 1/11

[2] यदरीणां प्रियाणां च प्राप्यमेकमिवोदितम्।
तद्ब्रह्मकृष्णयोरैक्यात्किरणार्कोपमाजुषोः।
वही, 1/84-85

[3] भूमिका, भक्तिसन्दर्भ, स० कृष्णगोपाल गोस्वामी, पृ० 17-1

[4] अन्तःकृष्णं बहिर्गौरं दर्शिताङ्गादि वैभवम्।
कलौ सङ्कीर्तनाद्यैः स्मः कृष्णचैतन्यमाश्रिताः। 2

[5] द्र० मजुमदार, चै०च०उ०, पृ० 160-162

पूर्ण प्रतिपादन हुआ है । श्रुतियों के द्वारा निरन्तर अन्वेषणीय मूर्त आनन्दसार कृष्ण ब्रह्मानन्द को प्राप्त करने वाले जनों के लिये आस्वादनीय हैं । शिव, ब्रह्मा आदि देवताओं के भी वह अभिवन्दनीय हैं[1]। यह कृष्ण इस प्रकार हैं कि कोई उनके कृष्णत्व को प्राप्त नहीं कर सकता है जबकि स्वयं कृष्णा नाना प्रकार के आकार धारण करते हैं। इसका कारण यही है कि अवयवी अवयव समूह को धारण कर सकता है परन्तु कोई अवयव-विशेष अवयवी को कैसे धारण कर पायेगा[2]। स्पष्ट है कि कृष्ण परमतत्त्व अतएव अंशी हैं, शेष सभी उनके अंशमात्र हैं। कर्णपूर की इसी मान्यता का समर्थन कृष्णदास कविराज ने किया है। तदनुसार कृष्ण परम ईश्वर तथा भगवान् हैं। सर्व-अवतारी तथा सबके प्रधान कारण हैं। अनन्त बैकुण्ठ तथा अनन्त अवतारों के एवं उसके साथ अनन्त ब्रह्माण्ड के भी आधारस्वरूप श्रीकृष्ण हैं[3]। कर्णपूर ने कृष्ण को 'अवयवी' कह कर सब अवतारादि अवयवों का आश्रय माना तो कविराज ने उसे स्पष्ट शब्दों में ही अवतारों का आधार मान लिया है। दोनों का मूल- स्वर एक ही है।

कर्णपूर के अनुसार सर्व अवतारी कृष्ण को ही लक्ष्मीपति तथा पद्मनाभ विष्णु के रूप में स्वीकार किया गया है। सार्वभौम स्तुति करते हैं, 'हे स्वजन-हृदय मन्दिर के देवता, हे कमलापति, हे पद्मनाभ स्वामी, आप संन्यास के बहाने से संसार में विचरण कर रहे हैं,[4]। इसी प्रकार नवद्वीपचन्द्र, ब्रजेन्द्रनन्दन तथा गोलोकवासी भगवान् एक ही हैं। इसी की पुष्टि चैतन्य के कथन से हो जाती है कि 'अद्वैत की अप्रतिहत प्रेमभक्ति के द्वारा ही गोलोक से स्वयं विष्णु इस मर्त्यलोक में चैतन्य का रूप धारण करके आये हैं[5]।' कृष्णदास कविराज ने कृष्ण की सृष्टि-प्रक्रिया में उनकी शक्तियों का उल्लेख किया है। तदनुसार ज्ञानशक्तिप्रधान वासुदेव चित् के अधिष्ठता हैं। क्रियाशक्ति प्रधान सङ्कर्षण बलराम हैं। चित् शक्ति के द्वारा ही गोलोक बैकुण्ठ का सृजन होता है[6] । दोनों के मतों की

[1] श्रुतिभिरपि विमृग्यं ब्रह्मसम्पत्तिभाजामपि पुरु रसनीयं मूर्त आनन्दसारः ।
यदहह भविताद्य श्रीलशम्भुस्वयम्भूप्रभृतिभिरभिवन्द्यं पादपद्मं दृशोर्नः ।।
नाटक, पृ० 54

[2] अकृष्णः कृष्णत्वं व्रजितुमसमर्थो हि भवति स्वयं कृष्णो नानाकृतिसमर्थोऽपि भवति ।
ग्रहीतुं योग्यः स्यादवयवकलापं ह्यवयवी कथंकारं धत्तामवयवविशेषोऽवयविताम् ।।
वही, पृ० 55

[3] ईश्वर परम कृष्ण स्वयं भगवान्। सर्व्व-अवतारी सर्व्वकारण प्रधान ।।
अनन्त बैकुण्ठ आर अनन्त अवतार। अनन्त ब्रह्माण्ड रहे सबार आधार ।।
चै०च०, मध्य, 8, पृ० 185

[4] स्वजनहृदयसद्मा नाथ पद्माधिनाथो भुवि चरसि यतीन्द्रछद्मना पद्मनाभः । नाटक, पृ० 120

[5] गोलोकादवतारितोऽस्मि भवतैवाहं सुदुर्वारया....। वही, पृ० 17

[6] ज्ञानशक्तिप्रधान वासुदेव चिन्ताधिष्ठता।.....क्रियाशक्ति प्रधानसङ्कर्षणबलराम ।....गोलोक बैकुण्ठ सृजे चिच्छक्ति द्वाराय ।। चै०च० मध्य, 20, पृ० 367

तुलना से स्पष्ट होता है कि कृष्ण ही परम तत्त्व हैं जिन्हें अलग-अलग धर्म अथवा कर्म के कारण भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित किया जाता है। श्रीजीव ने नारायण को भी श्रीकृष्ण का परमव्योम में विलसित होने वाला एक रूप स्वीकार किया है[1]। अतः कर्णपूर की यह दार्शनिक मान्यता उचित ही प्रतीत होती है कि कृष्ण ही विभिन्न देवों के रूप में प्रकट होते हैं।

कर्णपूर के दार्शनिक-विवेचन का वैशिष्ट्य

अब तक के विवेचन से ऐसा प्रतीत होता है कि कर्णपूर का अन्य वैष्णव आचार्यों, विशेषकर वृन्दावन के गोस्वामियों से तात्त्विक दृष्टि से कोई मतान्तर नहीं है परन्तु यहाँ यह स्पष्ट करना परमावश्यक है कि जहाँ श्रीरूप तथा श्रीजीव ने कृष्ण को परमतत्त्व स्वीकार करके उस तत्त्व की स्थापना के लिये अपने सैद्धान्तिक ग्रन्थों की रचना की है वहीं उन्होंने उस दृष्टि से चैतन्य-तत्त्व का विवेचन नहीं किया है। पहले भी इस बात पर प्रकाश डाला जा चुका है कि श्रीरूप आदि कृष्ण तथा चैतन्य में अभेद स्वीकार करते हैं, इसका विवेचन न होने पर भी चैतन्य के स्तुतिपरक पद्यों से इसका बोध हो जाता है। श्रीरूप ने तो एक स्थान पर चैतन्य के लिये यहाँ तक कहा है कि श्रीचैतन्य रुद्रादि देवताओं के भी उपास्य तथा पूजित चरण हैं[2]। यहाँ श्रीचैतन्य की तात्त्विक-समीक्षा के अभाव में विद्वानों में दो प्रकार की मान्यता है । प्रथम मान्यता के अनुसार वृन्दावन-गोस्वामियों के लिये चैतन्य उपायमात्र हैं जबकि गौड़ीय मत में वे स्वयं उपेय हैं[3]। दूसरी ओर राधागोविन्द नाथ महोदय श्रीरूप तथा रघुनाथ के चैतन्य-स्तवों के आधार पर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इन स्तवों में चैतन्य का उपास्य-तत्त्व ही निरूपित होता है। नाथ महोदय के अनुसार व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण का भजन तथा व्रजलीला का आस्वादन करना श्रीमहाप्रभु के प्रत्यक्ष उपदेश हैं। गौरभजन तथा गौरलीला-आस्वादन उनका प्रत्यक्ष उपदेश होने पर भी यह उनकी परोक्ष प्रेरणा है, यह आस्वादन-आनन्द भक्तों के अनुभव से उद्भूत है। अतः वृन्दावन के गोस्वामियों की दृष्टि में व्रजलीला तथा नवद्वीप-लीला के मिलित आस्वादन में अतुलनीय माधुर्य है। उनके लिये भी गौरलीला तथा भजन उपेय था, केवल उपाय मात्र नहीं था[4]। नाथ महोदय की मान्यता को उचित मान लेने पर यह शङ्का स्वाभाविकरूपेण उदित होती है कि वृन्दावन गोस्वामियों ने जिस प्रकार श्रीकृष्ण को अभिधेय मानकर उनका विवेचन किया है, उसी प्रकार चैतन्य का क्यों नहीं किया है। शङ्का के समाधान के लिये दो सम्भावनाएं की जा सकती हैं। प्रथम तो यह है कि उस समय तक चैतन्य महाप्रभु का देवत्व पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित हो चुका होगा अतः इन

[1] एकं यस्यैव रूपं विलसति परमव्योम्नि नारायणाख्यं स श्रीकृष्णः....। तत्त्वसन्दर्भ, 8

[2] उपासितपदाम्बुजस्त्वमनुरक्तरुद्रादिभिः । स्तवमाला, 2/1

[3] मजुमदार, चै०च०उ०, पृ० 112-113

[4] राधागोविन्दनाथ, श्रीचैतन्यचरितामृतेर भूमिका, पृ० 352-353

गोस्वामियों ने उनकी पुनः प्रतिष्ठा की आवश्यकता अनुभव न की हो। दूसरी सम्भावना यह भी है कि स्वयं ही कृष्ण को परम तत्त्व के रूप में स्वीकार करके फिर चैतन्य की स्थापना उसी परम तत्त्व के रूप में करना इन गोस्वामियों को अस्वाभाविक लगा हो अतः इस प्रसङ्ग को छोड़ ही गये[1]। अस्तु यहाँ केवल यह स्पष्ट करना लक्ष्य है कि चैतन्य तत्त्व की जैसी समीक्षा कर्णपूर ने नाटक में की है वह सैद्धान्तिक ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं है। कृष्णदास कविराज ने अवश्यमेव कर्णपूर के समान ही चैतन्य तत्त्व का विवेचन किया है।

कृष्ण के साथ विष्णु, नारायण आदि की जो अभिन्नता अब तक प्रतिपादित की गई है, कर्णपूर की दृष्टि में वही अभिन्नता चैतन्य के साथ भी है क्योंकि कृष्ण ही चैतन्य हैं । कर्णपूर ने बिना किसी विभेदक रेखा के केवल प्रसङ्गानुसार कभी श्रीकृष्ण तो कभी श्रीचैतन्य के तत्त्व की समीक्षा की है। अतः कर्णपूर की दार्शनिक मान्यता का अनुधावन करने के लिये आवश्यक है कि कृष्ण तथा चैतन्य को एक तत्त्व तथा दो नाम समझा जाये। नाटककार की दृष्टि में तो चैतन्य ही समस्त देवमय हैं। तभी नित्यानन्द उनकी स्तुति करते हुये कहते हैं, 'आप ही हरि हैं । आप ही शिव हैं। आप ब्रह्मा हैं । आप ही जल हैं, अग्नि हैं, चन्द्रमा हैं, सूर्य हैं । आकाश आप हैं। पृथ्वी आप हैं। हे मुरारि, आप ही वायु हैं। हे सर्वेश्वर, आपको प्रणाम[2]।'

श्रीचैतन्य तथा ब्रह्म

श्रीजीव ने सेव्य-तत्त्व को उनके धर्म की दृष्टि से अलग-अलग नामों से पुकारा है। तदनुसार शक्ति समूह के जो सामान्य धर्म हैं उनसे अतिरिक्त अर्थात् शुद्ध ज्ञान रूप ब्रह्म है, माया-शक्ति-प्रचुर चित् शक्ति का अंश-विशिष्ट परमात्मा हैं एवं परिपूर्ण सर्वशक्ति-विशिष्ट तत्त्व भगवान् हैं[3]। कविकर्णपूर ने परम तत्त्व का इस प्रकार अलग-अलग शक्ति की दृष्टि से क्रमबद्ध कोई विभाजन नहीं किया है। उनके नाटक में परम तत्त्व-चैतन्य को सविशेष ब्रह्म-रूप में अवश्यमेव प्रतिपादित किया गया है। सार्वभौम भट्टाचार्य द्वारा शास्त्रीय अर्थ को स्पष्ट करवाते हुये नाटककार ने सविशेष ब्रह्म रूप में कृष्ण की स्थापना कर दी है। तदनुसार 'वेद, पुराण, 'महाभारत', तन्त्र, मन्त्र आदि सभी शास्त्र ब्रह्म को ही तत्त्व रूप में

---

[1] रत्नकुमारी, 16वीं शती के हिन्दी और बंगला वैष्णव कवि, पृ० 173

[2] हरिस्त्वं हरस्त्वं विरञ्चिस्त्वमेव त्वमापस्त्वमग्निस्त्वमिन्दुस्त्वमर्कः।
नभस्त्वं क्षितिस्त्वं मरुत्त्वं मुरारे नमस्ते नमस्ते समस्तेश्वराय ।
नाटक, पृ० 34

[3] तत्र शक्तिवर्गलक्षण-तद्धर्मातिरिक्तं केवलं ज्ञानं ब्रह्मेति शब्द्यते अन्तर्यामित्वमय-मायाशक्ति प्रचुर-चिच्छक्त्यांश-विशिष्टं परमात्मेति परिपूर्णसर्वशक्तिविशिष्टं भगवानिति ।
श्रीभक्तिसन्दर्भः, पृ० 16-17

प्रतिपादित करते हैं किन्तु फिर भी उस तत्त्व को समझने में सभी को ये शास्त्र भ्रान्त कर देते हैं[1]।' ब्रह्म-विषय के बृहत् होने के कारण तथा अन्य को भी बृहत् बनाने के कारण मुख्यार्थ रूप में उसकी सविशेषता ही स्पष्ट होती है । जो उसकी निर्विशेषता को बतलाते हैं वे अपनी मान्यता को स्थापित करने में समर्थ नहीं होते हैं[2]। लेखक निर्विशेष ब्रह्म के अप्रतिपादित होने तथा उसके स्थान पर सविशेष ब्रह्म के प्रतिपादित होने की बात को प्रमाण से स्पष्ट करते हैं। उन्होंने इस प्रसङ्ग में 'हयशीर्ष पञ्चरात्र' की युक्ति को ही सविशेषता-स्थापित करने के आधार के रूप में लिया है। 'हयशीर्षपञ्चरात्र' के अनुसार जिन श्रुतियों ने निर्विशेष-ब्रह्मपरक वाक्य कहे हैं, उन्हीं श्रुतियों ने सविशेष-ब्रह्मार्थप्रतिपादक वाक्य भी कहे हैं। इन दोनों के कथनों पर विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि सविशेष-प्रतिपादक वाक्य ही अधिक समर्थ हैं[3]। अपने इस कथन की पुष्टि के लिये उन्होंने विविध उपनिषदों से अनेक प्रमाणों को उद्धृत किया है उदाहरणार्थ श्रुति है, **'आनन्दाद्धयेव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। आनन्देनैव जातानि जीवन्ति। आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति'**[4] अर्थात् आनन्द से प्राणियों की उत्पत्ति होती है। आनन्द के द्वारा ही प्राणी जीवित रहते हैं। आनन्द का उपभोग कर उसी में प्रवेश करते हैं। इस श्रुति में 'तत्त्व' 'आनन्द' के लिये उपादान, करण तथा कर्मकारक का प्रयोग होने के कारण उस तत्त्व का सविशेषत्व ही स्पष्ट हो रहा है। कहने का अभिप्राय यह है कि यदि ब्रह्म वस्तुतः निर्विशेष होता तो उसके सम्बन्ध में इस प्रकार के कारकों का प्रयोग कैसे हो सकता था।' रूपवान् से ही अपादान आदि सम्भव होता है, रूपहीन से नहीं होता है[5]। केवल निर्विशेष को मानने से शून्यवाद का अवसर उपस्थित हो जाता है इसीलिये ब्रह्म शब्द मुख्य रूप से 'भगवान् ही ब्रह्म है' इसे स्पष्ट करता है-

केवलनिर्विशेषत्वे शून्यवादावसरः प्रसज्येत। तेन ब्रह्मशब्दो मुख्य एव मुख्यत्वेन भगवांन्ब्रह्मेत्यवशिष्टम् ।[6]

---

[1] वेदाः पुराणानि च भारतञ्च तन्त्राणि मन्त्रा अपि सर्व एव ।
ब्रह्मैव वस्तु प्रतिपादयन्ति तत्त्वेऽस्य विभ्राम्यति सर्व एव ।
नाटक, पृ० 121

[2] यस्मिन् बृहत्त्वादथ बृंहणत्वान्मुख्यार्थवत्त्वे सविशेषतायाम्।
ये निर्विशेषत्वमुदीरयन्ति ते नैव तत्साधयितुं समर्थाः।
वही, पृ० 121

[3] या या श्रुतिर्जल्पति निर्विशेषं सा साभिधत्ते सविशेषमेव।
विचारयोगे सन्ति हन्त तासां प्रायो बलीयः सविशेषमेव।
हयशीर्षपञ्चरात्रम्, पृ० 121

[4] तैत्तिरीयोपनिषद्, 3/6/1 नाटक, पृ० 121

[5] इत्यादिकया श्रुत्या अपादानकरणकर्मादिकारकत्वेन विशेषवत्त्वापत्तेः । नाटक, पृ० 121

[6] वही, पृ० 121

जीव गोस्वामी ने 'श्रीमद्भागवत' के श्लोक, **वदन्ति तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् । ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते** [1] की व्याख्या करते हुये ही ज्ञान, माया तथा सर्वशक्ति विशिष्ट ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् का विवेचन किया था[2]। कर्णपूर ने भी 'भागवत' के इसी श्लोक की द्वितीय पंक्ति को उद्धृत करते हुये स्वमत सविशेष ब्रह्म की प्रतिष्ठा का उपसंहार किया है तथा निर्विशेष-ब्रह्म के प्रतिपादकों के द्वारा निर्विशेष ब्रह्म की स्थापना को उनका दुराग्रह मात्र माना है[3]। कर्णपूर ने ब्रह्म के सविशेष तत्त्व की स्थापना के लिये 'हयशीर्षपञ्चरात्र', 'कपिलपञ्चरात्र' तथा उपनिषदों आदि से अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये हैं[4]।

स्पष्ट है कि श्रीचैतन्य तथा श्रीकृष्ण अभिन्न हैं। वे ही शिव, विष्णु, ब्रह्मा तथा अन्य सभी देवता रूप हैं। परमात्मा भी वे ही हैं। इसी के साथ-साथ उस पर-तत्त्व को ब्रह्म भी स्वीकार किया गया है परन्तु यह ब्रह्म वेदान्तियों द्वारा प्रतिपादित निराकार ब्रह्म नहीं है। यह सविशेष है । इसको मूर्त ब्रह्म भी कहा जा सकता है । इस दृष्टि से मूर्त तथा अमूर्त दोनों को ही ब्रह्म जानना चाहिये। इनके द्वारा मूर्त तथा अमूर्त स्वभाव वाले नारायण विभु ही ध्येय हैं[5]। इस विषय में कृष्णदास की मान्यता भी कर्णपूर से पूर्ण साम्य रखती है क्योंकि उनके अनुसार भी 'स्वयं भगवान् कृष्ण परतत्त्व, पूर्णज्ञान, पूर्णानन्द, परम महत् हैं।' 'भागवत' में उन्हीं को नन्दसुत कहा गया है। वही कृष्ण चैतन्य गोस्वामी के रूप में अवतरित हुये हैं । अपने विशेष प्रकाश के आधार पर वे ब्रह्म, परमात्मा तथा स्वयं भगवान्, ये तीन नाम धारण करते हैं[6]। कर्णपूर तथा कृष्णदास के अब तक के विवेचन में कोई विशेष पार्थक्य दृष्टिगोचर नहीं होता है।

ईश्वर आनन्द तथा ज्ञान रूप

कर्णपूर ने यद्यपि पर-तत्त्व का उसकी शक्ति की दृष्टि से शास्त्रीय विभाजन नहीं

---

[1] भा०पु०, 1/2/11

[2] श्रीभक्तिसन्दर्भः, पृ० 16-17

[3] तथा च 'ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानेति शब्द्यते' स्वपक्षरक्षणग्रहग्रहिलास्तु-मुख्यार्थाभावाभावेऽपि लक्षणया निरूपयितुमशक्यमपि निर्विशेषत्वं ये प्रतिपादयन्ति तेषां दुराग्रहमात्रम् ।' नाटक, पृ० 121

[4] वही, पृ० 121-122

[5] कपिलपञ्चरात्र से नाटक में उद्धृत- द्वे ब्रह्मणी तु विज्ञेये मूर्तं चामूर्तमेव च । मूर्तामूर्तस्वभावोऽयं ध्येयो नारायणो विभुः । वही, पृ० 122

[6] स्वयं भगवान् कृष्ण कृष्ण परतत्त्व । पूर्णज्ञान पूर्णानन्द परम महत्व।
नन्दसुत बलि जारे भागवते गाइ । सेइ कृष्ण अवतीर्ण चैतन्यगौसाई।
प्रकाश-विशेषे तेहो धरे तिन नाम । ब्रह्म परमात्मा आर स्वयं भगवान् ।।
चै०, भा०, आदि, पृ० 5

किया है तथापि उन्होंने ईश्वर के विशिष्ट धर्मों का यत्र तत्र उल्लेख अवश्य किया है। तदनुसार 'ईश्वर आनन्दस्वरूप तथा ज्ञानस्वरूप हैं जो किसी से बाधित नहीं हो सकते हैं। अतः वे स्वाधीनानन्द तथा स्वाधीनज्ञान हैं[1]। कर्णपूर ने ज्ञान की अपेक्षा आनन्द का ही विस्तार से वर्णन किया है। उनके अनुसार 'आनन्द ही भगवान् का रूप है। उस रूप से महान् आनन्द होता है। इस प्रकार आनन्द तथा रूप परस्पर सापेक्ष है। अतः आनन्द के तारतम्य से रूप का भी तारतम्य हो जाता है[2]। यही कारण है कि श्रीवास के प्राङ्गण में श्रीचैतन्य के रूप-माधुर्य को देखकर मुसलमान दर्जी मदमत्त हो गया था[3]। भगवान् की यह आनन्द-रूपता अमूर्त होने पर भी मूर्त होती है जैसे भगवान् असीम होने पर भी ससीम हैं[4]। कर्णपूर की दृष्टि में जीव का ध्येय है परमेश कृष्ण के आनन्दरूप में निमज्जित हो जाना परन्तु चैतन्य जो स्वयं कृष्ण हैं, आत्मानन्द में निमग्न होते हैं। स्वाभाविक रूप से प्रश्न उत्थापित होता है कि यदि जीव के समान ईश्वर भी आत्मानन्द में निमग्न हो जायें तो जीव और ईश्वर में भेद ही क्या रह जाता है। नाटककार ने संक्षिप्त तथा शोभन रूप से इस शङ्का का समाधान किया है कि 'भगवान् आनन्द को अधीन रखते हैं जबकि जीव आनन्द के अधीन होता है[5]।' भगवान् का रूपमात्र परमानन्द को देने वाला होता है तो जहाँ साकार गौराङ्ग स्वयं भगवान् हों उसका तो कहना ही क्या?[6] भगवान् के रूपों को आनन्द-अनुभव का एक मात्र साधन स्वीकार किया गया है। उनका यह घनानन्दचिद् रूप ही जीव की बाह्येन्द्रियों तथा अन्तःकरण के चाञ्चल्य को दूर करने वाला होता है। इस रूप का परित्याग करके जो लोग आनन्द प्राप्ति के लिये निराकार का ध्यान करते हैं उन्हें कोई दुर्वासना ही भ्रान्त बनाती है[7]। कृष्ण का रूप माधुर्य सेव्य तथा आनन्दप्रद माना गया है। वह स्वयं आनन्द रूप है यही नाटककार का मत है। कर्णपूर मूर्त तथा अमूर्त होने को ईश्वरत्व का नियम न स्वीकार करके परमानन्द रूप को ही महत्त्व दे रहे हैं अर्थात् जो परम आनन्द रूप है अथवा जिससे उस परम आनन्द की

---

[1] ईश्वरस्य त्वानन्दस्वरूपत्वज्ज्ञानस्वरूपत्वाच्च किं केनापि बाध्यताम् । तेन स्वाधीनानन्दः स्वाधीनज्ञानश्चायम् । नाटक, पृ० 38

[2] आनन्द एव भगवतो रूपम्। येन रूपेण महानेव आनन्दो भवति। तदेव तस्य रूपमिति इतरेतरसव्यपेक्षित्वम् आनन्दरूपाणामिति आनन्दतारतम्येन रूपदर्शनस्य तारतम्यम्। वही, पृ० 31

[3] वही, पृ० 30

[4] आनन्दोऽपि च मूर्तो व्यापी च तथा परिच्छिन्नः । वही, पृ० 36

[5] निघ्नानन्दो भवति भगवांजीव आनन्दनिघ्नः । वही, पृ० 88

[6] पश्य पश्य भगवद्रूमात्रस्य परमानन्दप्रदत्वम्। किं पुनः स्वयं भगवतः श्रीकृष्णस्य। वही, पृ० 144

[7] आनन्दानुभवैकसाधनमहो रूपं घनानन्दचिद्बाह्यान्तःकरणोर्मिवृत्तिविरहस्यापादकं पश्यताम् । हित्वानन्दथुलब्धये हृदि निराकारं तु यैश्चिन्त्यते मन्ये तान्भ्रमयत्यहो भगवतो सा कापि दुर्वासना। वही, पृ० 144

अनुभूति होती है वही वास्तव में ईश्वर है[1]। इस तथ्य के स्पष्टीकरण के लिये लेखक ने 'ब्रह्मसूत्र' के 'आनन्दमयोऽभ्यासात्' सूत्र की व्याख्या को प्रमाण रूप में ग्रहण किया है। तदनुसार जो स्वयं आनन्द (रूप) है, वही दूसरों को भी आनन्दित करता है। एक उदाहरण द्वारा कथन को स्पष्ट किया गया है। जिस प्रकार अत्यधिक धन सम्पन्न व्यक्ति दूसरे को धन देता है उसी प्रकार आनन्द-रूप दूसरे को आनन्द दे सकता है[2]। श्रीजीव ने भी भगवान् को आनन्दमय स्वीकार किया है । उनके मत में भगवान् में केवल आनन्द ही विशेष्य है, उनकी शेष शक्तियाँ विशेषण हैं[3]। अन्यत्र भी उन्होंने भगवान् को मूल परमानन्दरूप स्वीकार किया है[4]।

श्रीचैतन्य-अवतरण का उद्देश्य

अब तक के विवेचन से स्पष्ट है कि परमतत्त्व की स्थापना के विषय में श्रीजीव आदि वृन्दावन-गोस्वामियों के साथ कर्णपूर का मतैक्य है। यह अलग बात है कि कर्णपूर कृष्ण से अभिन्न चैतन्य को ही परमतत्त्व स्वीकार करके अपना मत प्रतिपादित कर रहे हैं। इस प्रकार के परमतत्त्व भगवान् के चैतन्य रूप में अवतरित होने के पीछे भी कोई लक्ष्य अवश्य होना चाहिये । कर्णपूर की दृष्टि में इस तथ्य का विवेचन करना अपेक्षित है। 'चैतन्यचन्द्रोदय' में चैतन्य-अवतार के उद्देश्य का यत्र-तत्र प्रतिपादन किया गया है। इसे बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्ग, दो प्रकार से विभक्त किया जा सकता है।

अन्तरङ्ग अथवा व्यक्तिगत हेतु

चैतन्य-व्रजलीला के कृष्ण हैं । व्रजलीला के समय गोपललनाओं ने, जो मूर्तिमती आनन्दशक्तियां थीं[5] तथा मानस-अनुराग के चरमोत्कर्ष से सम्पन्न थीं, वृन्दावन में

---

[1] न मूर्तामूर्तत्वे भवति नियमः किं तु परमो
य आनन्दो यस्मादपि स च स ईशो मम मतम् ।
वही, पृ० 144

[2] 'आनन्दमयोऽभ्यासात् इत्यत्र व्याख्यातं चैतत् । स्वयमानन्दः परानप्यनन्दयति । यथा प्रचुरधनः परेभ्योऽपि धनं ददाति ।' वही, पृ० 145 तुलनीयम् ब्रह्मसूत्र, 1/1/12

[3] एवंचानन्दमात्रं विशेष्यं समस्ताः शक्तयो विशेषणानि । भगवत्सन्दर्भ, पृ० 3

[4] तस्मान्मूलपरमानन्दरूपत्वात्.....। वही, पृ० 118

[5] दार्शनिक विवेचना के अनुसार भगवान् की तीन शक्तियाँ, बहिरङ्गा, अथवा माया शक्ति, अन्तरङ्गा अथवा स्वरूप शक्ति तथा तटस्था अर्थात् चित् शक्ति का उल्लेख हुआ है। परमतत्त्व के सच्चिदानन्द रूप होने के कारण स्वरूप शक्ति के ह्लादिनी, सन्धिनी तथा संवित्, तीन भेद माने गये हैं। कर्णपूर ने इस प्रकार की कोई शास्त्रीय विवेचना नहीं की है। 'ह्लादिनी' शब्द का प्रयोग न करके गोपललनाओं के लिये उन्होंने 'मूर्तिमदानन्दशक्ति' शब्द का ही प्रयोग किया है। इसी प्रकार कर्णपूर ने भगवान् की सृष्टि प्रक्रिया पर भी कोई प्रकाश नहीं डाला है।

अनिवर्चनीय प्रेम तत्त्व का प्रवर्तन किया था । उस समय वह प्रेम तत्त्व वहीं सीमित रह गया था । कर्णपूर की मान्यता यह है कि उसी प्रेम तत्त्व का आस्वादन करने के लिये उसके लिये समुचित चैतन्य-शरीर को धारण करके श्रीकृष्ण अवतरित हुये हैं[1] । गोपललनाओं के प्रेम-तत्त्व के साथ वृन्दावनेश्वरी श्रीराधा के भाव का आस्वादन करना भी चैतन्य की इच्छा थी[2] ।

वस्तुतः वैष्णव-दर्शन के अनुसार कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति का धर्म कृष्ण को सुख देना है। उस ह्लादिनी-शक्ति का मूर्त विग्रह, ह्लादिनी शक्ति की अधिष्ठात्री देवी श्री राधा हैं। अतः श्रीराधा ने कृष्णवाञ्छा-पूर्ति के लिये गौर-रूप में आविर्भूत होने वाले भगवान् को अपना मदनाख्य-महाभाव दिया। भगवान् ने राधा भाव के साथ राधा-विग्रह को भी ग्रहण किया। इस प्रकार चैतन्य कृष्ण होते हुये भी भावरूप-राधा हैं[3] । रूपतः श्रीकृष्ण तथा भावतः श्रीराधा होना चैतन्य की व्यक्तिगत अभिव्यक्ति अथवा अवतरण का अन्तरङ्ग कारण है।

कर्णपूर ने 'चैतन्यचन्द्रोदय' में यद्यपि सैद्धान्तिक रूप से चैतन्य को राधा भाव का आस्वादक तथा राधा-कृष्ण का मिश्रित रूप[4] स्वीकार किया है तथापि व्यावहारिक दृष्टि से चैतन्य के भगवान् अथवा भक्त रूप का ही चित्रण नाटक में हुआ है। राधा-भाव-भावित कृष्ण का नहीं। इसके विपरीत 'चैतन्यचरितामृत' में चैतन्य के राधा-भाव-विभोर रूप को महत्त्व दिया गया है[5] ।

बहिरङ्ग हेतु

श्रीकृष्ण के चैतन्य के रूप में अवतरित होने का बहिरङ्ग उद्देश्य युगधर्म का प्रवर्तन करना था। अद्वैत-वेदान्त के अनुसार जीव तथा ब्रह्म के अभेद ज्ञानरूप साधन द्वारा परब्रह्म में लय ही परम पुरुषार्थ है। इस मत को स्वीकार करने वाले ज्ञानियों के मत का निराकरण करके उन्हीं शास्त्रों में रहस्यरूप में प्रतिपादित श्रीकृष्ण की भगवत्ता एवं सविशेष ब्रह्म के रूप में उनकी स्थापना करना चैतन्य-अवतार का बाह्य कारण था। इस तत्त्व की स्थापना के साथ सनन्दन आदि द्वारा निर्धारित श्रीकृष्ण की उपासना को परम पुरुषार्थ के रूप में स्थापित करना भी चैतन्य अवतार का लक्ष्य था। इस उपासना के साधन रूप में विविध भक्ति-योग, जिनमें नाम-सङ्कीर्तन प्रमुख था, का प्रचार करना चैतन्य

---

[1] मूर्तिमदानन्दशक्तिभिः सन्तत-सन्तन्यमान-मानस-रागपरभाग भागधेयाभिराभीरभीरुभिः प्रवर्तितं तादृशमेव प्रेमतत्त्वं तदानीं तत्रैव स्थितं सम्प्रति सम्प्रतिपाद्यमान-तदास्वाद-स्वादर-गृहीत-समुचित-विग्रहस्य.....। नाटक, पृ० 17

[2] .....वृन्दावनेश्वरीभावमनुचिकीर्षोरनुज्ञया....। वही, पृ० 44

[3] राधागोविन्द नाथ, चैतन्यचरितामृतेर भूमिका, पृ० 279

[4] राधाकृष्णाख्य लीलामयखगमिथुनं भिन्नभावेन हीनम् । नाटक, पृ० 4

[5] विस्तृत विवरण हेतु द्रष्टव्य, प्रस्तुत प्रबन्ध का तृतीय परिच्छेद

का कार्य था[1]।

गौरचन्द्र सांसारिक बन्धनों का छेदन करने वाले थे[2]। इन बन्धनों का कारण कलियुग में व्याप्त मोह आदि हैं जिनको भगवद्धर्म नष्ट करता है। अतएव वह ही साधन, साध्य तथा सद्धर्म है।[3] कलि के मालिन्य को समाप्त करने वाले तथा चाण्डाल पर्यन्त में रहने वाले अलङ्घनीय दुर्वासना को नष्ट करने वाले भगवान् ने भक्तियोग तथा भक्तिदेवी को साथ लेकर भक्त के रूप में अवतार लिया था[4]। इस प्रकार एक व्यापक उद्देश्य अर्थात् जन-सामान्य में भक्ति के प्रचार आदि को लेकर चैतन्य का अवतार हुआ था।

कविकर्णपूर ने चैतन्य के अवतार के सम्बन्ध में दोनों लक्ष्यों को माना है पर युग-धर्म प्रवर्तन रूप लक्ष्य पर अधिक बल दिया है। 'चैतन्यभागवत' में चैतन्य के केवल युग-धर्म-प्रवर्तक रूप का चित्रण हुआ है तथा 'चैतन्यचरितामृत' में दोनों उद्देश्यों पर प्रकाश डालने पर भी उनके राधा-भाव-आस्वादन रूप लक्ष्य पर अधिक बल दिया गया है[5]। कर्णपूर ने अवतार के दोनों लक्ष्यों के अनुसार चैतन्य के भक्त तथा भगवान् दोनों रूपों को चित्रित किया है । व्यक्तिगत स्तर पर वे सम्पूर्ण भगवान् हैं। स्वयं राधाभाव का आस्वादन करते हुये भगवान् चैतन्य अपने कतिपय भक्तों को भी उस राधाभाव का आस्वादन करा देते हैं[6]। लोकार्थ अवतरण अर्थात् सामूहिक लक्ष्य को दृष्टि में रखकर देखने से चैतन्य भक्त तथा भगवान् दोनों हैं।

अन्य दार्शनिक विषय

परमतत्त्व सम्बन्धित विशद विवेचन के अतिरिक्त कर्णपूर ने यत्र तत्र प्रसङ्गतः कई अन्य दार्शनिक विषयों पर इस प्रकार प्रकाश डाला है-

भक्ति

चैतन्य का आविर्भाव ही भक्ति के प्रचार-प्रसार के लिये हुआ था। कर्णपूर ने 'चैतन्यचन्द्रोदय' में भक्ति के भेद वैधी तथा रागानुगा का शास्त्रीय विवेचन नहीं किया है,

---

[1] ...श्रीकृष्ण एव सविशेषं ब्रह्मेति तत्त्वं तस्योपासनं सनन्दनाद्युपगीतमविगीतमविकलः पुरुषार्थस्तस्य साधनं नामनाम-संकीर्तन-प्रधानं विविध-भक्तिभक्तियोगमाविर्भावयितुं भगवान् श्रीचैतन्यरूपी भगवान्नाविरासीत् । नाटक, पृ० 4

[2] महाकारुणिओ भअवं भअबन्धच्छेअअचरिदो गोरचन्दो ओदीण्णो । वही, पृ० 28

[3] एदं कलिं भअबद्धम्मो बद्धं मोहं वि पराकरोदित्ति साहणसद्धसद्धम्मो । वही, पृ० 28

[4] वही, पृ० 28

[5] द्र०, प्रस्तुत पुस्तक का तृतीय परिच्छेद,

[6] अथ केषाञ्चिन्निभृतानां भागवतानां चेतसि तद्भावम् (वृन्दावनेश्वरीभावम्) आवेशयितुं सर्वोत्तमां तदनुकारलीलां करिष्यति । नाटक, पृ० 45

तथापि अप्रत्यक्ष रूप से रागानुगा भक्ति[1] का ही समर्थन किया है। शास्त्रीय मार्ग अनुराग के मार्ग से पृथक् है। शास्त्रीय मार्ग नियमानुवर्तिता को मानता है, अनुराग का मार्ग नियम से शृङ्खलित नहीं होता है[2]। विश्वनाथ चक्रवर्ती ने वैधी भक्ति का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है, 'श्रवणकीर्तन आदि को यदि शास्त्र के शासन के भय से किया जाए तो वही वैधी भक्ति कहलाती है।'[3] कर्णपूर के अनुसार यही 'सनियम' है। इसके विपरीत रागानुगा भक्ति में अपने अभीष्ट व्रजराजनन्दन की सेवा-प्राप्ति के लोभ से यदि वही श्रवण-कीर्तनादि किये जाएं तो वह ही रागानुगा भक्ति कहलाती है[4]। इसी को कर्णपूर अनुराग का मार्ग कहते हैं। नाटक के एक पात्र मैत्री के माध्यम से नाटककार ने स्वयं एक शङ्का उपस्थित की है कि 'अनियमित मार्ग से चलने पर तो लक्ष्य की प्राप्ति विलम्ब से होती है।' इस शङ्का के समाधान में कहा गया है कि 'ऐसा कोई नियम नहीं है कि शास्त्रीय मार्ग से लक्ष्य की प्राप्ति शीघ्रता से हो सकती है। जल-प्लावल के समय नदी में नौका का कोई निश्चित मार्ग नहीं होता है फिर भी वह शीघ्रता से पहुंच जाती है पर स्वाभाविक रूप से कुटिल नदी के प्रवाह में पड़ जाने पर तो मार्ग के नियत होने पर भी गन्तव्य स्थल पहुँचने में विलम्ब हो जाता है[5]।'

नाटक में नवधा भक्ति का भी केवल सङ्केत मिलता है[6]। उनमें से नामसङ्कीर्तन, को प्रधान साधन स्वीकार किया गया है[7] एवं उस पर अवश्यमेव कुछ प्रकाश डाला गया है। कलियुग में नाम सङ्कीर्तन ही पुरुषार्थ का तिरस्कार करने वाला तथा रति-भाव को प्रकट

---

[1] निजाभिमतव्रजराजनन्दनस्य सेवाप्राप्तिलोभेन यदि तानि क्रियन्ते तदा रागानुगाभक्तिः । भ०र०सि० बिन्दु, पृ० 124

[2] शास्त्रीय खलु मार्गः पृथगनुरागस्य मार्गोऽन्यः । प्रथमोऽर्हति सनियमतामनियमतामन्तिमो भजते । नाटक, पृ० 49

[3] अथ वैधी लक्षणम् - श्रवणकीर्त्तनादीनि शास्त्रशासनभयेन यदि क्रियन्ते तदा वैधी भक्तिः। भ०र०सि० बिन्दु, पृ० 123

[4] वही, पृ० 124

[5] मैत्री-अणिअदमग्गेण चलन्तस्स विलम्बेण ज्जेव गम्मलाहो होई । प्रेमभक्तिः इदमनैकान्तिकम्। तथा हि-वन्यासु तरणिसरणिर्जवेन गम्यं नयत्यनियतापि । न सहजकुटिलेषु पुनर्नदीप्रवाहेष्व-तिनियतापि ।। नाटक, पृ० 49

[6] नवभक्तिचन्द्रकान्तैः....पृ० 1

[7] नामसङ्कीर्तनं प्रधानं विविधभक्तिभक्तियोगम् ...। वही, पृ० 4

करने वाला होता है[1]। यह नाम सङ्कीर्तन पुरुषनिःश्रेयस है[2]। भगवान् के सतत भजन से मनुष्य मानो शरीरान्तर को ही प्राप्त कर लेता है[3]। श्रीजीव ने भी भगवद्भजन की वरीयता को प्रतिपादित करते हुये भक्ति की गरिमा को ही स्पष्ट किया है। उनके अनुसार परम सिद्धि तथा ब्रह्म में लय से भी भगवान् का भजन गरिमायुक्त है और उससे भगवान् का भी गरिमान्वित होना ज्ञात होता है[4]। कर्णपूर ने भक्ति रस का भी विवेचन किया है[5]।

मोक्ष एवं अन्य पुरुषार्थ

कर्णपूर के अनुसार धर्म, अर्थ तथा काम ही नहीं वरन् मोक्ष को भी श्रवण, कीर्तन आदि व्यर्थ कर देते हैं[6]। उनकी दृष्टि में जीवन का चरम लक्ष्य मोक्षप्राप्ति नहीं है अपितु ईश्वर का सहवास है । इसी कारण धर्म, अर्थ तथा काम को निन्दनीय तथा मोक्ष को भी अनभिलषणीय माना गया है[7]। अद्वैत-वेदान्तियों की दृष्टि में निर्विशेष ब्रह्म में लय ही परम पुरुषार्थ है[8] परन्तु कर्णपूर ब्रह्म-कैवल्य को मोक्ष नहीं मानते हैं। उनके अनुसार अपने देवता के साथ तद्रूपता को प्राप्त कर लेना ही मोक्ष है[9]। यहाँ तद्रूपता का अभिप्राय जीव का परमात्मा के साथ अद्वैत सम्बन्ध नहीं है। वे तो केवल परमात्मा का सहवास तथा उनके रूप, गुण आदि की माधुरी का आस्वादन करना चाहते हैं। यही कारण है कि श्रीवास चैतन्य के चरणकमलों के मकरन्द कणों का आस्वादन प्राप्त करने वालों के लिये भगवान् के साथ अद्वैत सम्बन्ध को भी अस्वीकार करते हैं[10]।

पार्षद

कविकर्णपूर ने जीव के नित्यबद्ध तथा नित्यमुक्त भेद के आधार पर पार्षदों का

---

[1] कलौ नामनामसङ्कीर्तनमेव पुरुषार्थसाधकता तिरस्कारि पुरस्कारि रत्याख्यभावस्य। वही, पृ० 5

[2] वही, पृ० 18

[3] मद्भजनेन जनेन शरीरान्तरमिव लभ्यते...। वही, पृ० 19

[4] परमसिद्धिरूपाद् ब्रह्मणिलयादपि तद्भजनस्य गरीयस्त्वेन तस्यैव गरीयस्त्वमुपदिशति। भगवत्सन्दर्भ, पृ० 119

[5] विस्तार हेतु द्रष्टव्य प्रस्तुत पुस्तक का पञ्चम-परिच्छेद।

[6] पुरुषार्थसार्थापार्थीकरणसमर्थश्रवणकीर्तनादिषु....। नाटक, पृ० 17

[7] धर्मार्थकामेषु परैव कुत्सा लिप्सा न मोक्षस्य च कर्हिचिन्नः एभिः समस्तैस्तव देव लोकेर्लोकान्तरेऽप्यस्तु सहैव वासः । वही, पृ० 206

[8] निर्विशेषेऽशेषे परे ब्रह्मणिलय एव परः पुरुषार्थः । वही, पृ० 4

[9] इति तद्रूपतैव तेषां मोक्षो न तु कैवल्यम् । वही, पृ० 5

[10] त्वच्चरणारविन्दमकरन्दकणास्वादभाजां नैष पन्थाः । वही, पृ० 41

विवेचन नहीं किया है। उन्होंने 'श्रीमद्भागवत' में कपिल द्वारा प्रतिपादित पार्षद-स्वरूप[1] विवेचन को उद्धृत करके अपने मत को स्पष्ट किया है । भगवान् का नाम-सङ्कीर्तन आदि रूप जो भक्तियोग है वह रतिभाव-जनक है। उस रति भाव से ही भक्त पार्षद-स्वरूप को प्राप्त करते हैं[2]। 'भागवत' के उद्धरणों के द्वारा स्पष्ट हो जाता है कि सिद्धि से भी महत्तर भक्ति है। उसी भक्ति के द्वारा वे भगवान् के प्रसन्न वदन, रक्तिम नयन, वरप्रदायक दिव्य रूप को देखते हैं तथा वे भगवान् के साथ अभिलषित बातचीत भी करते हैं। इस प्रकार भगवान् के दर्शनीय अवयवों के प्रति रति के कारण वे तन्मय हो जाते हैं[3]। ईश्वर की रूप माधुरी आदि के साथ तन्मयता ही भक्तों का लक्ष्य है। इस कारण इसके पश्चात् वे किसी प्रकार का कैवल्य प्राप्त नहीं करते हैं वरन् भगवान् के सहवास-जन्य पार्षद की कोटि ही उनका वाञ्छित विषय हुआ करता है । अतः पार्षद रूप की प्राप्ति को ही मुक्ति स्वीकार किया गया है[4]। इन परम भागवत पार्षदों का अत्यधिक महत्त्व स्वीकार किया गया है । उन्हें भगवान् के समान ही पृथ्वी से उद्धार करने वाला माना गया है[5]। भगवान् पूर्ण होने पर भी पार्षदों के सहवास से ही पूर्णता को उसी प्रकार प्राप्त करते हैं जिस प्रकार चन्द्रमा पूर्ण होने पर भी किरण-समूह के बिना अपूर्ण रहता है[6]। यहाँ चन्द्र तथा किरण के दृष्टान्त से भगवान् तथा जीव का सम्बन्ध भी स्पष्ट होता है । कृष्णदास कविराज ने भी षडैश्वर्यमय भगवान् के सुख-उल्लास का कारण उनके भक्तों को माना है[7] । स्पष्ट है कि इस दर्शन में भक्तों अथवा पार्षदों का अत्यधिक महत्त्व है ।

भगवान् की लीला

कर्णपूर ने लीला को स्पष्ट करते हुये बतलाया है कि ईश्वर का ईशभाव अत्यन्त शक्तिशाली तथा नित्य होता है परन्तु वह ईशभाव भगवान् के अधीन होने के कारण वे उसे सर्वदा प्रकट नहीं करते हैं । कौतुक के कारण वे लौकिक चेष्टा करते हैं । ईश्वर के

---

1 भा०पु०, 3/25/35

2 भगवन्नामसङ्कीतनादिरूपस्य भक्तियोगस्य योऽगस्य रतिजनकभावः स खलु पार्षदभावं भावंभावमवतिष्ठते । नाटक, पृ० 5

3 पश्यन्ति ते मे रुचिराण्यम्ब सन्तः प्रसन्नहासारुणलोचनानि ।
रूपाणि दिव्यानि वरप्रदानि साकं वाचं स्पृहणीयां वदन्ति ।
वही, पृ० 5, तुलनीयम् भा०पु०, 3/25/35

4 मुक्तिशब्दोऽत्र पार्षदस्वरूपपरः। नाटक, पृ० 5

5 परमभागवता अद्य गोचरीभूता भूतारणकृतः। वही, पृ० 3

6 ईश्वरो येन पूर्णोऽपि पार्षदैरेव पूर्यते पूर्णोऽपि रजनीनाथो रिक्त एवांशुभिर्विना।। वही, पृ० 156

7 यद्यपि आपने पूर्ण षडैश्वर्यमय। तथापि भक्तसङ्गे तार हय सुखोल्लास।। चै०च०, मध्य, 4, पृ० 235

तत्त्व को जानने वाले उसी अत्यधिक रसमयी चेष्टा को 'लीला' नाम से पुकारते हैं[1]। अपने कौतुक के साथ भक्तों के आशय-अनुरोध के कारण भी भगवान् विचित्र-लीला करते हैं[2] । श्रीजीव ने भगवान् की लीला का मुख्य प्रयोजन भक्तों का विनोद माना है[3]। भगवान् की अलौकिक लीला की अपेक्षा लौकिक लीला को अधिक सरस माना गया है। ऐसी सरस, मधुर लीला का एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रयोजन यह भी है कि 'ऐसी लीला को सुनकर भक्त तत्पर हो जायें[4] ।' 'भागवत' के इस कथन को ही नाटक में स्वीकार किया गया है । रागानुगा भक्ति में नाम-सङ्कीर्तन आदि के साथ कृष्ण की लीला-कथाओं के श्रवण का भी निर्देश है ।

लौकिक प्रमाण तथा ईश्वर

कविकर्णपूर भगवान् को किसी लौकिक प्रमाण से प्रमाणित हुआ स्वीकार नहीं करते हैं । भगवान् अलौकिक हैं अतः लौकिक प्रमाण के विषय नहीं बन सकते हैं[5]। प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द तथा अर्थापत्ति, ऐतिह्य आदि किसी भी प्रमाण के द्वारा ईश्वर की लीला को प्रमाणित नहीं किया जा सकता है। उन भगवान् को तो केवल उनके अनुग्रह से उत्पन्न विशेष ज्ञान से ही जाना जा सकता है[6]। भगवान् के अनुग्रह से उत्पन्न यह ज्ञान-विशेष ही अलौकिक-प्रमाण है । वस्तुतः ईश्वर साध्य वस्तु है अतः उसके तत्त्व की सिद्धि नहीं की जा सकती है[7]। लौकिक-प्रमाण के अभाव में पुराण-वाक्यों को ही भगवान् के लिये प्रमाण रूप में लिया जाता है[8]। वस्तुतः कर्णपूर 'भागवत' के अनुसार भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ मानते हैं। भक्ति-भावना-पूरित भक्तजनों के लिये कृष्णप्राप्ति सम्भव होने पर भी ज्ञानी तथा आत्मनिष्ठ योगियों के लिये यह सरल नहीं है[9]। इस भक्ति-भावना

---

[1] नित्यो यद्यप्यहह बलवानेश्वरस्येशभावः। स्वाधीनत्वात्तदपि न स तं सर्वदेव व्यनक्ति । हन्तादत्ते कुतुकवशतो लौकिकीमेव चेष्टां लीलामाहुः परमसुरसां तस्य तामेव तज्ज्ञः। नाटक, पृ० 13

[2] भक्तानामाशयानुरोधाद् विचित्रामेव लीलां करोति। वही, पृ० 45

[3] (क) तस्माद् भक्तविनोदायैव प्रयोजनकस्वैर लीला...। ख) अत्र तस्य चेष्टा प्रभावस्य भक्तविनोदायैव मुख्या प्रवृत्तिः। परमात्मासन्दर्भ, पृ० 75, 77

[4] भजते तादृशीः क्रीडा या श्रुत्वा तत्परोभवेत्। नाटक, पृ० 50, तुलनीयम्, भा०पु० 10/33/36

[5] भगवत्तत्त्वं लौकिकेन प्रमाणेन प्रमातुं नशक्यते अलौकिकत्वात्। नाटक, पृ० 111

[6] प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थापत्यैतिह्यादिप्रमाणनिवहैरपि न प्रमातुं शक्यते विना तस्यैवानुग्रहजन्यज्ञानविशेषम्। वही, पृ० 73

[7] भगवदनुग्रहजन्यज्ञानविशेषेण ह्यलौकिकेन प्रमाणेन।..... न खलु तत्तत्त्वं साधयितुं शक्यते। वही, पृ० 111

[8] शिष्याः - क्व दृष्टं तस्य प्रमाकरणत्वम्। गोपीनाथ - पुराणवाक्यमेव। वही, पृ० 111

[9] भा०पु०, 10/9/21

के हृदय में सञ्चारित होने के लिये ईश्वर की कृपा-प्राप्ति तथा उनका अनुग्रह प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है[1]। अतः लौकिकज्ञान की अपेक्षा भक्तिमार्ग में ईश्वर-अनुग्रह अत्यधिक उपादेय है।

स्पष्ट है कि कर्णपूर ने 'चैतन्यचन्द्रोदय' में अनेक दार्शनिक-विषयों का उत्थापन तथा विवेचन किया है। यह ठीक है कि इन प्रसङ्गों का सुव्यवस्थित विश्लेषण नाटक में उपस्थित नहीं है और न ही नाटक से उसकी अपेक्षा की जा सकती है तथापि जिस प्रकार से उन्होंने इन विषयों को उपस्थित किया है वह स्तुत्य प्रयास है। गौड़स्थ वैष्णव कवियों में कर्णपूर ही सर्वप्रथम कवि हैं जिन्होंने दार्शनिक मान्यताओं का इतने व्यापक रूप से विवेचन प्रस्तुत किया है। साहित्यिक रचना के माध्यम से दार्शनिक मान्यताओं की स्थापना करने में कर्णपूर के परवर्ती कृष्णदास कविराज का ही नाम उल्लेखनीय है।

प्रतीकात्मक पात्र-दार्शनिकता

नाटक में प्रयुक्त प्रतीकात्मक पात्रों के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है उनमें निहित दार्शनिकता । कर्णपूर ने इन चरित्रों को मानवीय सम्पर्कों के माध्यम से परस्पर सम्बद्ध किया है । यह उनकी वर्णन शैली मात्र नहीं है अपितु इसके पीछे उन उन विशेष भावों का दूसरे के साथ प्रतिष्ठित सापेक्ष सम्पर्क भी है।

भक्ति

भक्ति की उत्पत्ति के मूल में कर्णपूर ने भगवदनुग्रह तथा भगवज्जनासक्ति को पिता-माता के रूप में स्वीकार किया है। वस्तुतः कर्णपूर द्वारा प्रतिपादित दार्शनिक मान्यता यह है कि स्वयं भगवान् का अनुग्रह न होने पर मानव में भक्ति का उदय नहीं हो सकता है। इस सिद्धान्त की स्थापना करते हुये कहा है कि उस भगवान् की कृपादेवी जब दृष्टिपात करती है तभी स्वयं भक्ति चाण्डाल पर्यन्त लोगों के मन में किसी अनिर्वचनीय रसभाव का विस्तार करती है[2]। इसी सिद्धान्त का व्यावहारिक पक्ष श्रीवास के उद्धार की घटना से स्पष्ट होता है। पर्याप्त आयु तक भक्ति-विमुख रहने पर केवल भगवान् की कृपा से ही उनमें भक्तिभाव का उदय हुआ। परिणामतः वे परम भक्त बन गये। वैधी भक्ति तो शास्त्र-परायणता से सम्भव है परन्तु अहैतुकी भक्ति के लिये भगवद्नुग्रह मूल कारण है अतः भक्ति के जनक रूप में 'भगवदनुग्रह' की कल्पना उचित ही है।

'भगवज्जनासक्ति' को भक्ति की माता के रूप में स्वीकार करने का कारण यही है कि गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में भगवान् के साथ भागवतों को पूर्ण महत्त्व दिया गया है।

---

[1] कृपादेवी तस्य प्रकटयति दृक्पातमिह चेत् तदा तेषामन्तः कमपि रसभावं च तनुमः। नाटक, पृ० 28

[2] वही, पृ० 28

नाटककार के अनुसार भक्ति के स्फुरण के लिये भगवान् की कृपा के समान भगवान् के भक्तों का अनुग्रह भी अत्यन्त आवश्यक होता है[1]। श्रीरूप के अनुसार भी प्रेम की उत्पत्ति के लिये सर्वप्रथम श्रद्धा की आवश्यकता होती है तत्पश्चात् साधुसङ्ग आवश्यक है[2]। भगवान्-विमुख जनों के दूर से परिहार का निर्देश दिया गया है[3]। यहाँ साधु अथवा भागवत केवल श्रेष्ठ गुणों के अधिकारी को नहीं कहा गया है अपितु भगवान् के प्रति भक्तिभावना रखने वाले से अभिप्राय है। 'भागवतपुराण' के अनुसार विवश रूप से भी अपना नाम ग्रहण करने पर सभी पापों के समूह का विनाश कर देने वाले तथा प्रेम-शृङ्खला से आबद्ध हरि जिसके हृदय का कभी परित्याग नहीं करते हैं, वही व्यक्ति भागवत प्रधान है[4]। नाटक में इसी आधार पर रामानन्द को भागवतोत्तम कहा गया है[5]। अतः कर्णपूर ने उचित कल्पना की है कि भागवत जनों की आसक्ति भक्ति की माता है। इस पारिवारिक सम्पर्क के माध्यम से उन्होंने इस दार्शनिक तथ्य को परिष्कृत कर दिया है कि भगवान् की कृपा के साथ यदि भगवान् के भक्तों का साथ भी प्राप्त हो जाये तो स्वतः ही भक्ति-भाव का स्फुरण हो जायेगा।

कर्णपूर ने भक्ति के प्रथमतः, सरस तथा नीरस, दो भेद किये हैं। नीरस के उपभेद को विस्तार से न बतलाकर केवल सरस भक्ति के विभाजन किये गये हैं जो दस है[6]। इनको परस्पर बहनों के रूप में माना गया है[7]। एक ही उत्पत्ति स्थल तथा हेतु होने के कारण मूलतः भक्ति भी एक ही है परन्तु विविध गुणों के योग से ही उनका इस प्रकार भेद हुआ है। लेखक का सरस भक्ति से अभिप्राय रागानुगा भक्ति से है। ज्ञानादिमार्गों से सम्बद्ध को 'नीरस भक्ति' कहा है।

कर्णपूर ने परस्पर बहनों के रूप में इन भक्ति-भेदों में आगे स्पष्ट रूप से किसी पारिवारिक सम्पर्क का यद्यपि उल्लेख नहीं किया है तथापि उज्ज्वल, अद्भुत, शम, हस, प्रेम तथा वत्सल, इन छः रसों को छः प्रकार की भक्तियों का आश्रय स्वीकार किया है।

---

1 तस्स वा तज्जणाणंवा णवाणुग्गहमन्तरेण अम्हे ण होम्म । वही, पृ० 29

2 आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गो...। भ०र०सि०, पूर्व 4/6

3 सङ्गत्यागो विदूरेण भगवद्विमुखजनैः। भ०र०सि०, पूर्व, 2/27

4 विसृजति हृदयं न यस्य साक्षाद्हरिरवशाभिहितोऽप्यघौघनाशः प्रणयरशनया धृतांघ्रिपद्मः स भवति भागवतप्रधान। 11/2/55

5 रामानन्दो हि भागवतोऽत्तम एव। पृ० 166

6 कन्यकाः सरसनीरसभावादाययुर्द्विविधतां प्रथमं ताः ।
नीरसास्तु,बहुधा गुणयोगाद्भेजिरेऽथ दशतां रसभाजः ।
वही, पृ० 44

7 बह्व्यस्तु भक्तिसंज्ञिकाः कन्याः । वही, पृ० 43

ये रस श्रेष्ठ हैं तथा इनसे सम्बन्धित छः भक्ति भी अतियोग्य मानी जाती हैं[1]। कर्णपूर ने भक्ति का दार्शनिक विवेचन करते हुये रस के साथ उसके सामञ्जस्य को भी स्थापित कर दिया है। चैतन्य देव द्वारा प्रवर्तित सरस भक्ति ईश्वर को आराध्य तथा उपास्य मात्र निर्धारित नहीं करती है वरन् उसे भक्त के साथ स्नेह सम्पर्क में जोड़ देती है। श्रीरूप ने भक्ति रस का विस्तृत विवेचन करते हुये स्पष्ट किया है कि श्रीकृष्ण विषयक रति भाव 'भक्ति रस' का स्थायी है। रसज्ञों द्वारा उसको मुख्या एवं गौणी दो प्रकार का माना गया है[2]। इसी आधार पर पांच मुख्य भक्ति रस तथा सात गौण भक्ति रसों की क्रमशः इस प्रकार गणना की गई है, शान्त, प्रीति, प्रेयान्, वत्सल तथा मधुर ये प्रधान तथा हास्य अद्भुत, वीर, करुण, रौद्र, भयानक तथा वीभत्स ये सात गौण रस हैं[3]। अतः स्पष्ट है कि कर्णपूर द्वारा किया गया भक्ति-रस का विभाजन स्वतन्त्र है। उन्होंने उत्तम रस के रूप में उज्ज्वल, अद्भुत, शान्त, हास्य, प्रेम तथा वात्सल्य रस को स्वीकार किया है। इनमें से भी प्रेमरसभक्ति सर्वातिशायिनी है[4]।

प्रेमभक्ति

सर्वोत्कृष्ट इस प्रेम रस में अन्य सभी रसों एवं भावों का उसी प्रकार से अन्तर्भाव तथा तिरोभाव हो जाता है जिस प्रकार से समुद्र में लहरों का उन्मज्जन तथा निमज्जन होता है। शेष सभी रस खण्डानन्द होते हैं जबकि प्रेम रस अखण्डानन्द हुआ करता है। इस अखण्ड प्रेमरस में अन्य खण्ड रस अलग-अलग रहते हैं[5]।

कर्णपूर ने 'अलङ्कारकौस्तुभ' में यद्यपि भक्तिरस को एक रस मानकर अन्य रसों के साथ उसका योग करके कुल बारह रसों का वर्णन किया है तथापि उसी के साथ उन्होंने इस बात का भी उल्लेख किया है कि रति आदि स्थायिभावों के द्वारा वह श्रीकृष्णाश्रय

---

[1] उज्ज्वलाद्भुतशमाश्च हसश्च प्रेम वत्सल इतीह रसाः षट् । उत्तमा इति तदाश्रयभाजो भक्तयश्च षडमूरतियोग्याः वही, पृ० 44

[2] स्थायी भावोऽत्र सम्प्रोक्तः श्रीकृष्णविषया रतिः मुख्या गौणी च सा द्विधाः रसज्ञैः परिकीर्तिता। भ०र०सि०, दक्षिण, 5/2

[3] मुख्यस्तु पञ्चधा शान्तः प्रीतिः प्रेयांश्च वत्सलः । मधुरश्चेत्यमी ज्ञेया यथापूर्वमनुत्तमाः । हास्योऽद्भुतस्तथा वीरः करुणो रौद्र इत्यपि । भयानकः सबीभत्स इति गौणश्च सप्तधा । वही, 5/96-98

[4] चरमा हि पेम्मरसभत्ती । नाटक, पृ० 44

[5] सर्वे रसाश्च भावाश्च तरङ्गा इव वारिधौ ।
उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति यत्र स प्रेमसंज्ञकः ।।
खण्डानन्दा रसाः सर्वे सोऽखण्डानन्द उच्यते ।
अखण्डे खण्डधर्मा ही प्रथक्पृथगिवासते ।। वही, पृ० 44

भक्तिरस दस प्रकार का होता है[1]। नाटक में प्रतिपादित दस प्रकार की भक्ति से उनका किन विशेष भेदों से अभिप्राय है यह स्पष्ट नहीं होता है। अस्तु, इनमें से प्रेम रस को नाटक के समान 'अलङ्कार-कौस्तुभ' में भी विशेष महत्त्वपूर्ण माना गया है। तदनुसार प्रेम को अङ्गी रस के रूप में तथा शृङ्गार को अङ्ग रस के रूप में स्वीकार किया गया है[2]। इसी में अन्य रसों का अन्तर्भाव भी स्वीकार किया गया है।

कविकर्णपूर ने इस प्रेमरस को मधुर रस का ही नामान्तर माना है। उनके अनुसार व्रजलीला के समय वृन्दावन की गोपललनाओं ने कृष्ण सम्बन्धित जिस प्रेमतत्त्व का विस्तार किया था, वह उस समय वहीं सीमित रह गया था, श्रीचैतन्य उसी प्रेमतत्त्व का आस्वादन करने के लिये उपयुक्त रूप धारण करके अवतरित हुये थे। श्रीचैतन्य के उस मधुरतर रसरूपी रहस्यात्मक अमृत का अञ्जलि में भरकर पान करते हुये होने पर उनकी अङ्गुलियों के विवर से बिखरे हुये रस कणों का आस्वादन उनकी भक्त-मण्डली के द्वारा भी किया जा रहा था।[3] केवल स्वयं आस्वादन करना ही नहीं वरन् भक्तियोग की स्थापना के साथ उस अत्यन्त गोपनीय प्रेमतत्त्व को व्यक्त करना भी चैतन्य के आविर्भाव का लक्ष्य था[4]। इस प्रकार प्रतीकात्मक पात्र के रूप में जिस प्रेमभक्ति का उल्लेख नाटक में हुआ है उसका यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सैद्धान्तिक पक्ष भी स्पष्ट किया गया है जिसका गौड़ीय-वैष्णव दर्शन में अत्यन्त उल्लेखनीय स्थान है।

कर्णपूर ने भक्ति देवी के दार्शनिक स्वरूप विवेचन के साथ उसके क्रिया-कलापों पर भी प्रकाश डाला है। उनकी मान्यता यह है कि भगवान् चैतन्य भक्ति-आदि को साथ लेकर भक्त के वेश में अवतरित हुये थे जिससे कलि के मन्थन आदि कार्य सम्पन्न हो सके[5]। ऐसी भक्ति का कार्य अन्तःकरण को प्रसन्न करना तथा इन्द्रियों का परिशोधन करना है। अर्थ तथा काम का तो कहना ही क्या, वह मोक्ष तक को तुच्छ कर देती है। समीपस्थ जीवों को आनन्दसागर के विवरों में निमज्जित करती हुई वह तत्काल ही कृतार्थ कर

---

[1] .....तत्तद्विभावादि-सामग्रीसमवेतो भूत्वा भक्तिरस इति द्वादशरसा भवन्ति । स पुनर्भक्तिरसः श्रीकृष्णाश्रयो भवन् रत्यादिभिः स्थायिभिर्दशविधो भवति । अलङ्कारकौस्तुभ, पृ० 36

[2] प्रेमाङ्गी शृङ्गारोऽङ्गमिति विशेषः । वही, पृ० 36

[3] आभीरभीरुभिः प्रवर्तितं तादृशप्रेमतत्त्वं तदानीं तत्रैव स्थितम् । संप्रति संप्रतिपद्यमानतदास्वाद-स्वादरगृहीतसमुचितग्रहस्य तव सौभगवतो भगवतो निरवधि तदेव मधुरतररसरहस्यपीयूष-यूषमाहितगण्डूषमाचामतोऽङ्गुलिविवरविगलिता इव तत्कणाः क्व नामास्माभिरप्याचम्यन्ते। नाटक, पृ० 17

[4] व्यक्तं तत्रापि नीतः परमसुनिर्भृतः प्रेमनामा पदार्थः । वही, पृ० 205

[5] वही, पृ० 28

देती है[1]। भक्ति किसी प्रकार के भेद-भाव से रहित होकर ही अपना कार्य सम्पन्न करती है अतः वह चाण्डालों तक को पवित्र कर देती है। सम्पूर्ण मालिन्य को नष्ट कर देती है। हृदय में दृढ़ता से जमे हुये संस्कारों को भी काट देती है। भगवान् की कृपादृष्टि होने पर वह भक्तों के हृदय में अनिर्वचनीय रस भाव को व्यक्त कर देती है[2]। इस उल्लेख से स्पष्ट है कि भगवान् और भक्ति का सम्पर्क अत्यन्त दृढ़ तथा महत्त्वपूर्ण है। कलि के सहायक अधर्म का मन्थन करने के लिए भगवान् जहाँ भक्ति को अपना आयुध बनाते हैं वहीं भक्ति भी स्वतः स्वतन्त्र अथवा निरपेक्ष नहीं है। भगवान् की कृपा न मिलने पर वह किसी व्यक्ति को अपने अनुग्रह का विषय नहीं बनाती है।

विवेक

'भगवदनुग्रह' पिता तथा 'भगवज्जनासक्ति' नामक माता से भक्ति नामक कन्याओं के साथ विवेक नामक पुत्र के उत्पन्न होने का वर्णन नाटककार ने किया है[3]। प्रस्तुत पारिवारिक सम्पर्क का विवेचन करने में नाटककार का दृष्टिकोण पूर्णतया मौलिक है[4]। भगवान् का अनुग्रह प्राप्त करने तथा भागवत लोगों की सङ्गति में रहने से सत्-असत् के परीक्षक विवेक का जन्म हो सकता है। कर्णपूर ने इसके साथ ही विवेक की बहनों के रूप में भक्ति का वर्णन करके उनके सह अवस्थान की बात पर भी प्रकाश डाला है। भक्ति तथा विवेक के इस सम्पर्क की विवेचना करने से पूर्व गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय में प्रतिपादित 'भक्ति' के विषय में कुछ प्रासङ्गिक विवेचन करना आवश्यक है।

श्रीरूप गोस्वामी ने भक्ति के सन्दर्भ में सर्वप्रथम श्रद्धा की आवश्यकता पर बल दिया है। उनके अनुसार साधक के मन में प्रेम की परिणति तक पहुँचने के लिये सबसे पहले श्रद्धा की उत्पत्ति होती है[5]। कृष्णदास कविराज ने श्रद्धावान् व्यक्ति को ही भक्ति का अधिकारी स्वीकार किया है[6]। श्रद्धा का स्पष्टीकरण करते हुये उन्होंने बताया है कि 'कृष्ण में भक्ति करने से ही सभी कर्म सम्पन्न हो जाते हैं' इस वाक्य में सुदृढ़ निश्चय के

---

[1] अन्तःप्रसादयति शोधयतीन्द्रियाणि मोक्षं च तुच्छयति किं पुनरर्थकामौ ।
सद्यः कृतार्थयति सन्निहितैव जीवानानन्दसिन्धुविवरेषु निमज्जयन्ती ।।
वही, पृ० 27

[2] वही, पृ० 28

[3] एको विवेक नामा तनयो बह्व्यस्तु भक्तिसंज्ञिकाः कन्याः। वही, पृ० 43

[4] श्रीरूप ने विवेकादि का भक्ति के अङ्ग रूप में निषेध करते हुये कहा है-विवेकादीन्यतोऽमीषामपि नाङ्गत्वमुच्यते । भ०र०सि० पूर्व, 2/76

[5] आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गो......। वही, पृ० 4/6

[6] श्रद्धावान जन हय भक्ति-अधिकारी । चै०च०, मध्य, 22, पृ० 382

साथ विश्वास करना ही श्रद्धा है[1] अर्थात् शास्त्रीय उक्ति को तर्क के बिना पूर्ण विश्वास से स्वीकार करना ही श्रद्धा है। सम्भवतः इसके विपरीत विवेक है। यह विश्वास से नहीं वरन् युक्तियों से प्रतिष्ठित होता है। तर्क को उसका अङ्ग कहा जा सकता है।

भक्ति यदि श्रद्धा पर निर्भर करती है तो विवेक उससे अलग है परन्तु कर्णपूर ने दोनों को भाई-बहन के रूप में स्वीकार करके सहावस्थान की घोषणा की है। उनकी यह कल्पना मात्र नहीं है वरन् 'चैतन्यचन्द्रोदय' के माध्यम से उन्होंने इसके व्यावहारिक पक्ष को भी उद्घाटित किया है। 'चैतन्यचन्द्रोदय' में प्रारम्भ से लेकर अन्त तक भक्ति का प्रचार हुआ है और अलौकिकता की स्थापना की गई है परन्तु यदि नाटककार के दृष्टिकोण पर ध्यान दें तो स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने अपने भक्ति के सिद्धान्त को विवेक के द्वारा प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न किया है। कृष्णदास कविराज की पूर्वोक्त मान्यता के समान वे सुदृढ़ तथा अटल विश्वास रूप श्रद्धा को ही सर्वस्व नहीं मानते हैं वरन् किसी बात को बुद्धि के द्वारा विश्लेषित करके विवेक की स्वीकृति प्राप्त कर लेते हैं। अद्वैताचार्य चैतन्य के प्रधान पार्षद् तथा 'भक्ति' के प्रचार के प्रधान सहायक थे फिर भी नाटककार ने उन्हें भी अन्ध विश्वास से युक्त चित्रित नहीं किया है। चैतन्य के षड्भुज-रूप दर्शन के आवेश के अन्तर्गत अद्वैत ने जो नर्तनादि किया था, उस विषय में लोगों के मुख से सुनकर उनके मन में प्रतीति तथा सन्देह दोनों भाव ही जागृत होते हैं[2]। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि कर्णपूर ने अद्वैत को भक्तिशून्य अङ्कित किया है वरन् उन्होंने केवल भक्ति के साथ विवेक की स्थिति को भी स्वीकार किया है।

इसी भावना के परिपोषण के लिये अपने पिता शिवानन्द सेन का चित्रण कर्णपूर ने अचल भक्ति के साथ जागृत विवेक-युक्त किया है। दो घटनाओं के माध्यम से शिवानन्द के विवेक का परिचय उन्होंने दिया है। प्रथमतः नकुल ब्रह्मचारी पर चैतन्य-आवेश की बात सुनकर शिवानन्द के मन में सन्देह उत्पन्न होना तथा अपने सन्देह का निराकरण होने पर ही नकुल पर विश्वास करना इसी बात की पुष्टि करता है[3]। 'चैतन्य की शारीरिक अनुपस्थिति में नृसिंह ब्रह्मचारी द्वारा लगाये भोग को चैतन्य ने ग्रहण किया है', इस बात पर शिवानन्द का चैतन्य-मुख से प्रमाण प्राप्त न होने तक विश्वास न करना इसी सन्दर्भ में दूसरी घटना है[4]। कर्णपूर चैतन्य-पार्षद के रूप में अपने पिता शिवानन्द सेन का कितना

---

[1] श्रद्धा शब्दे विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय ।
कृष्णे भक्ति कैले सर्व्वकर्म्मकृत हय ।।
वही, पृ० 383

[2] भगवदावेशेन यन्मया नर्तितं तज्जनमुखादेव साम्प्रतं श्रुत्वा प्रतीयते संदिह्यते च ।
नाटक, पृ० 73

[3] वही, पृ० 162-163

[4] वही, पृ० 163-165

सम्मान करते थे, इसका बोध उन दोनों के जीवन से स्पष्ट हो जाता है। पिता की सैद्धान्तिक मान्यताओं का भी कर्णपूर पूर्ण समर्थन करते थे, इसका पता 'गौरगणोद्देशदीपिका' की उक्तियों से ही चल जाता है[1]। ऐसी अवस्था में अपने पिता की चैतन्य के प्रति अनास्था अथवा 'भक्ति के अभाव में सन्देह उत्पन्न हो गया था', यह बताना पूर्वोल्लिखित दोनों घटनाओं का उद्देश्य कथमपि नहीं हो सकता है। नाटककार ने तो केवल भक्ति के साथ विचार-बुद्धि के अविरोध को ही यहाँ प्रकट किया है।

कर्णपूर बुद्धि तथा विचार-सम्मत बात को ही स्वीकार करते हैं, इस तथ्य का परिचय नाटक में पद पद पर मिलता है। इसी कारण भगवान् की अलौकिकता के सम्बन्ध में किसी घटना अथवा तत्त्व के विषय में बताकर नाटककार अपने वक्तव्य को युक्तियों के द्वारा प्रमाणित करने में अत्यन्त प्रयत्नशील प्रतीत होते हैं, यथा अधर्म के द्वारा चैतन्य को प्रकृष्ट रूप से कोई जीव मानने पर कलि उसकी बात का न केवल विरोध करता है वरन् दो युक्तियों के आधार पर उनकी भगवत्ता की प्रतिष्ठा भी करता है। एक तो गीता के कथनानुसार चैतन्य की गुणवत्ता उनकी भगवत्ता को ही सिद्ध करती है और द्वितीयतः स्वयं कलि सामान्य जीव नहीं है अतः वह जीव से भयभीत भी नहीं हो सकता है। जब कलि चैतन्य से भयभीत है तो स्पष्ट है कि वह जीव नहीं वरन् भगवान् हैं[2]। इसी प्रकार आनन्दमय होने के कारण समस्त लोक के अन्तःकरण को आकर्षित करना भगवान् का असाधारण चिह्न है। जो स्वयं आनन्दमय है वही जीवों को आनन्दित करने में समर्थ होगा जिस प्रकार समृद्ध व्यक्ति ही दूसरे को धनी बना सकता है[3]। इस प्रसङ्ग में भी ईश्वर के ऐश्वर्य को केवल श्रद्धा के आधार पर स्वीकार न करके विवेचना करके युक्तियों के द्वारा प्रतिष्ठित किया गया है।

चैतन्य सम्प्रदाय में कर्णपूर का यह विशिष्ट योगदान है कि वे भक्ति तथा श्रद्धा के साथ विवेक का भी सामञ्जस्य स्थापित करने में प्रयत्नशील हैं।

मति

विवेक का माता, पिता तथा बहन के साथ सम्बन्ध दिखाने के अतिरिक्त उसकी पत्नी एवं सन्तति का उल्लेख भी किया गया है। मति विवेक की पत्नी मानी गई है[4]। यह सम्बन्ध-योजना युक्तियुक्त है क्योंकि मति द्वारा जो निश्चय किया जाता है विवेक उसका समर्थन अथवा विरोध करता है। दूसरे शब्दों में 'विवेक' 'मति' का संचालक तथा 'मति'

---

[1] 63, 172

[2] भगवतः सामान्योक्तेस्तथाविधायुतगुणवत्तया भगवत्तैवास्य सिद्धेति वयमेव प्रमाणम् । तद्वयं जीवतो न बिभीमः । नाटक, पृ० 9

[3] वही, पृ० 145

[4] वही, पृ० 43

'विवेक' की अनुगामिनी होती है। कर्णपूर ने अनुगामिनी पत्नी तथा सञ्चालक पति के रूप में उनकी उचित योजना की है । कृष्ण मिश्र ने भी इसी प्रकार विवेक की दो पत्नियों में से एक को 'मति' ही स्वीकार किया था[1]।

अनसूया

विवेक तथा मति की सन्तान अनसूया है[2]। क्षुद्रता एवं तुच्छता से तथा मन के कालुष्य से असूया आदि की उत्पत्ति होती है। विवेक तथा मति के संयोग से भ्रम आदि का आवरण समाप्त होकर मन कालुष्यरहित हो जाता है। दूसरी ओर विवेक के सम्पर्क में भक्ति का भी अस्तित्व होने के कारण अन्तःकरण के प्रसन्न तथा इन्द्रियों के पवित्र होने से असूयादि समाप्त होकर अनसूया का जन्म होता है।

'अनसूया' के पति के रूप में स्वभावतः उत्पन्न होने वाले पवित्र 'समभाव' की कल्पना की गई है[3]। कवि ने यहाँ मानवीय स्वभाव का सुन्दर विश्लेषण एक पारिवारिक सम्बन्ध के रूपक द्वारा कर दिया है । जब दूसरे में दोषान्वेषण की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है अर्थात् अनसूया की भावना उदित होती है तो स्वाभाविकरूपेण समभाव का संसर्ग हो जाता है। ऊंच, नीच की भावना का परित्याग कर सबके प्रति समान दृष्टि समस्त विरोध को नष्ट कर देती है। जब दोषान्वेषण की भावना तथा भेद-भावना की प्रवृत्ति, ये दोनों मानवीय दुर्बलतायें समाप्त हो जाती हैं तब-अनायास ही मैत्री का उदय होता है। अतः नाटककार ने अनसूया तथा समभाव की पुत्री के रूप में मैत्री को स्वीकार किया है[4]। यह सार्थक कल्पना है। यह मैत्री पूर्ववर्णित प्रेमभक्ति को सन्तुष्ट करने वाली है। प्रेमभक्ति भगवत् सम्बन्धित होने पर भी सामान्य मानवीय गुण मैत्री आदि के द्वारा उसका पोषण होता है।

विराग

कर्णपूर ने जिस प्रकार विवेक को भक्ति के भाई के रूप में स्वीकार किया है उसी प्रकार विराग को भी किया है। स्वयं भक्ति 'विराग' की अनुपस्थिति में उसके लिये चिन्ता व्यक्त करती है, 'भाई विराग का साथ नहीं मिल रहा है । कहीं दुष्ट कलिजनों ने उसका अमङ्गल करके उसे विनष्ट तो नहीं कर दिया है[5]?' इसके अनन्तर विराग के आकर प्रणाम करने पर वह वात्सल्ययुक्त होकर उसे दीर्घ जीवन का आशिष भी देती है[6]। स्पष्ट

---

[1] अयमस्माकं कुले ज्यायान् मत्या देव्या सह विवेक इत एवाभिवर्तते । प्रबोधचन्द्रोदय, पृ० 37

[2] नाटक, पृ० 43

[3] अनसूया समभावं पतिमासाद्य स्वभावजं शुद्धम् । वही, पृ० 44

[4] मैत्रीमसूत पुत्रीं भवतीं मत्तोषसंधात्रीम् । वही, पृ० 44

[5] भाउणो विराअस्स संगो संगोचरो ण होई । ण आणे दुज्जनेहि कलिजणेहि कलिदाच्चाहिदो उव्वरिओ ण वेत्ति । वही, पृ० 27

[6] भातओ जीवसि । वही, पृ० 27

है कि विराग आयु में भक्ति से छोटा अतः स्नेहपात्र है।

गौड़ीय-वैष्णव दर्शन में कर्ममार्ग को भक्ति का अङ्ग स्वीकार कर लेने पर भी ज्ञान के साथ वैराग्य को भक्ति का अङ्ग नहीं माना गया है क्योंकि ज्ञान तथा वैराग्य दोनों चित्त को कठोर बनाने वाले हेतु स्वीकार किये गये हैं जबकि सुकुमार स्वभाव वाली भक्ति को ही उत्तरवर्त्तिनी भक्ति हेतु माना गया है[1]। सामान्यतया यह समझा जाता है कि विषयों के प्रति विराग उत्पन्न होने से ही भक्ति-भाव उदित होता है परन्तु श्रीरूप के अनुसार श्रीहरि के भजन में रुचि रखने वाले व्यक्ति का विषयों के प्रति प्रबल राग भी नष्ट हो जाया करता है[2]। उन्होंने विराग को भक्ति के पश्चात् स्वयं उत्पन्न होने वाला माना है। विषयों के भोग आदि के त्याग का कथन भक्ति के चौंसठ अङ्गों में परिगणित किया गया है। तदनुसार श्रीकृष्ण की प्रीति के लिये भोगादि का त्याग भक्ति का अङ्ग है[3]। इसके अतिरिक्त आत्मनिवेदन को भी महत्त्व देते हुये कहा गया है कि निजप्रिय वस्तु का समर्पण भक्ति का अङ्ग है[4]। जो कुछ स्वयं को प्रिय अथवा अभीष्ट है उसी को अपने प्रिय देवता के लिये समर्पित कर देना ही आत्मनिवेदन है। इस आधार पर यह माना जाता है कि विषय के प्रति जो काम है अपने अभीष्ट देवता पर उसे आरोपित करने से वह प्रेम हो जाता है। वही वैराग्य है। वैराग्य राग का अभाव नहीं विपरीत भी कुछ नहीं है वरन् विशिष्ट अनुराग अर्थात् श्रीभगवान् के प्रति प्रगाढ़ अनुरक्ति ही विराग है। सामान्य सांसारिक आसक्ति की अपेक्षा इस वैराग्य का आकर्षण सहस्रगुणा है जिसमें अपनी रति हो उसी से भगवान् की आरती होती है और इसी आरती में प्रेम एवं वैराग्य का समन्वय होता है[5]।

वस्तुतः वैष्णव दर्शन में कर्म वह है जिसमें हरि को सन्तोष हो[6]। इस दृष्टि से राग-विराग सभी हरि से सम्बन्धित हैं। भक्ति के उदय के साथ अपने आप सांसारिक विषयों से आसक्ति हट कर श्रीहरि के प्रति हो जाती है अतः त्याग की भावना अनायास ही उत्पन्न हो जाती है। अतएव कर्णपूर ने उसे भक्ति के पश्चात् उत्पन्न होने वाले 'अनुज' के रूप में स्वीकार किया है। इसके साथ ही कर्णपूर का मत श्री रूपादि से कुछ भिन्न भी प्रतीत होता है क्योंकि कर्णपूर ने हरिभजन के लिये सर्वस्वत्याग की भावना पर बल देते हुये

---

[1] ....नाङ्गत्त्वमुचितं तयोः । यदुभे चित्तकाठिन्यहेतू प्रायः सतां मते । सुकुमारस्वभावेयं भक्तिस्तद्धेतुरीरिता। भ०र०सि०, पूर्व, 2/67-68

[2] रुचिमुद्वहतस्तत्र जनस्य भजने हरेः । विषयेषु गरिष्ठोऽपि रागः प्रायो विलीयते । वही, पूर्व, 2/69-70

[3] श्रीकृष्णप्रीतये भोगादित्यागः । भ०र०सि० बिन्दु, पृ० 61

[4] निजप्रियवस्तुसमर्पणम् । वही, पृ० 97

[5] रवीन्द्रनाथ घोष ठकुर, पदावली साहित्ये प्रेमेर स्वरूप, Sahitya Patrika, Dacca University, 1962 पृ० 149

[6] तत्कर्म हरितोष यत् । भा०पु०, 4/29/49

स्पष्ट किया है कि सर्वस्वत्याग के बिना हरि का भजन सम्भव नहीं होता है। इस कारण से यदि सर्वस्व त्याग कर संन्यास भी स्वीकार किया जाये तो वह भक्ति का विरोधी अथवा अद्वैत मत का पोषक नहीं माना जाना चाहिए[1]।

कलि

नाटक में प्रतिपादित भक्ति का विरोधी पात्र 'कलि' है। यह 'कलि-युग' का प्रतीक है अतएव 'कलि' की विशेषतायें 'कलियुग' के स्वरूप को स्पष्ट करती है। कलि को 'दोषाकर' कहा गया है[2]। वस्तुतः धर्म के विनाश के साथ शौच, आचार, शम, दम आदि का उन्मूलन करवाने के कारण यह दोषों का आकर तो है ही[3]। नाटक में कलि के व्यक्तिगत सम्पर्क पर प्रकाश न डालकर उसके सामाजिक स्वरूप अर्थात् राजा-रूप को प्रकट किया गया है। अधर्म उसका परम मित्र तथा नीति-निर्धारक है। काम-क्रोध, लोभ, मोह, मद तथा मत्सर षड्रिपु कलि के अमात्य हैं जिनके प्रताप से सारा भुवन एकछत्र होकर कलि के अधीन रहता है[4]। कर्णपूर ने एक रूपक के माध्यम से मानवीय दुर्बलताओं का हेतु बता दिया है कि अधर्म के प्रभाव से ही मन दूषित होता है और स्वाभाविक रूप में काम आदि दुर्बलताओं को प्रवेशाधिकार मिल जाता है। एक दोष के प्रवेश के साथ अनायास दूसरे दोष भी उपस्थित हो जाते हैं। 'कलि' का प्रकोप तभी तक है जब तक धर्म का प्रवेश न हो। धर्मावतार स्वयं भगवान् के सम्पर्क में कलि उसी भाँति नष्ट शक्ति हो जाता है जिस भाँति महौषधि के अङ्कुरित हो जाने से नागश्रेष्ठ तक्षक हीनशक्ति हो जाता है[5]।

अधर्म

अधर्म व्यक्तिगत रूप से कलि का मित्र है। वस्तुतः अधर्म कलि का सबसे बड़ा सहायक एवं बल है। वही कलि के अमात्यों काम, क्रोध आदि के विषय के लिये क्षेत्र प्रस्तुत कर देता है। अपने शत्रु धर्म को उसके अमात्य शौच, आचार, विवेक आदि के साथ नष्ट करना ही अधर्म का काम है। धर्म के प्रभाव से अन्तःकरण की पवित्रता तथा बाह्य-व्यवहार में सदाचार स्वाभाविक रूप में विकसित होते हैं परन्तु धर्म के नष्ट होते

---

[1] विना सर्वत्यागं भवति भजनं न ह्यसुपते-रिति त्यागोऽस्माभिः कृत इह किमद्वैतकथया ।
नाटक, पृ० 96

[2] वही, पृ० 6

[3] शौचाचारतपः क्षमाशमदमैः सार्धं विवेकादिभिः सामन्तैरपि येन धर्मनृपतिनिर्मूलमुन्मूलितः सोऽयं कलिर्निन्द्यते। वही, पृ० 6-7

[4] कामादयो ये षडमी अमात्यास्तेषामशक्यं नहि किञ्चिदास्ते ।
येषामखण्डाद्भुजदण्डदर्पादेकातपत्रं तव विश्वमेव ।।
वही, पृ० 10

[5] गतः स कालो मम साम्प्रतं सखे, हतप्रभावोऽस्मि कुमारकादतः
महौषधेरङ्कुरनिर्गमादिव क्षतप्रभस्तक्षकनागपुङ्गवः ।।
वही, पृ० 7

ही ये अन्तः तथा बाह्य गुण स्वतः ही समाप्त हो जाते हैं । जहाँ अधर्म काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद आदि को फैलाने वाला है वहाँ शौच, आचार, शम, दम, विवेक आदि विपरीत-धर्मा वैशिष्ट्यों के साथ उसका सहवास नहीं हो सकता है।

कर्णपूर ने अधर्म के व्यक्तिगत सम्पर्कों पर भी प्रकाश डाला है। तदनुसार मृषा अधर्म की पत्नी तथा 'दम्भ' उनका पुत्र है[1]। अधर्म का वास भगवान् के प्रति आस्था के साथ नहीं हो सकता है। जो लोग विद्या, शील, तप, कुल, आश्रम आदि बाह्य विषयों का सेवन करने पर भी परम तत्त्व भगवान् की निन्दा करते हैं, उनमें ही अधर्म का वास होता है[2]। भक्ति के समापन के साथ धर्म भी चला जाता है। गौड़ीय दर्शन में भगवान् की रूप-माधुरी आदि का आस्वादन करने वाला भक्त ही पार्षद है जो स्वयं मुक्ति स्वरूप होता है। ऐसी अवस्था में भगवान् के निष्पाप चरित की निन्दा करने वाला अपराधी अतः अधर्म का आश्रय होगा। शास्त्र में त्याज्य अपराधों में देवता-निन्दन भी एक है[3]। ऐसे भगवत्निन्दक अधार्मिक व्यक्ति स्वभावतःसत्य के मार्ग से हट जाता है तथा शौचाचार आदि के समाप्त होने से मिथ्याचरण प्रारम्भ कर देता है। अधर्म की अनुगामिनी होने के कारण 'मृषा' को अधर्म की पत्नी के रूप में चित्रित किया गया है । मिथ्याचरण मानव को अन्तर से दुर्बल बनाता है । आन्तरिक दुर्बलता से पीड़ित व्यक्ति अपनी रिक्तता तथा क्षुद्रता को छुपाने के लिये बाह्यतः दम्भी हो जाता है। दम्भ अथवा अहङ्कार कभी सत्य की भूमि पर खड़ा नहीं होता है। मानव अपनी वास्तविक विशेषताओं के कारण आत्म-विश्वासी बनता है पर मिथ्या भ्रान्ति से अहङ्कार को पालता है। सत्य का विवेक न होने पर ही मिथ्या-जन्य दम्भ हुआ करता है। इसी भावना को कर्णपूर ने माता-पुत्र के माध्यम से द्योतित किया है। वैष्णव जन विनम्रता के मूर्त-विग्रह होते हैं अतः उनसे विपरीत अधार्मिक जनों में ही दम्भ के पनपने की सम्भवना है। इसी भित्ति पर 'मृषा' को बहिर्मुखी यज्ञ आदि कर्मकाण्डों में आश्रय लेने को तथा शुष्क-कर्मकुशल-जनों में दम्भ को रहने का निर्देश दिया गया है[4]। सरस भक्ति बाह्याडम्बरहीन अतः सत्य है। कर्मकाण्ड केवल बाह्यविषय होने के कारण अन्ततः व्यर्थ अतः मिथ्या के आश्रय हैं। इसी प्रकार शुष्क कर्मों में लगे व्यक्तियों में सरस भक्ति न होने के कारण अनायास दम्भ का आगमन हो जाता है।

प्रस्तुत विवेचन से स्पष्ट है कि एक ओर दार्शनिक सिद्धान्तों का शोभन विवेचन 'चैतन्य-चन्द्रोदय' में हुआ है तो उसके साथ ही कर्णपूर ने प्रतीकात्मक पात्रों के पारस्परिक सम्बन्धों की स्थापना दार्शनिक भित्ति पर सुन्दर रूप में प्रस्तुत की है।

---

[1] वही, पृ० 16

[2] विद्याशीलतपः कुलाश्रमयुजोऽप्येकान्तदान्ताश्च ये निन्दन्त्यस्य विभोश्चरित्रमनघं तेषु त्वया स्थीयताम् । वही, पृ० 16

[3] देवतानिन्दनं तथा अपराधा....। भ०र०सि० बिन्दु, पृ० 116

[4] त्वत्पत्नी तु मृषा बहिर्मुखमखेष्वास्तां तनूजश्च ते दम्भः केवलशुष्ककर्मकुशलेष्वेतेन मा खिद्यताम् । नाटक, पृ० 16

सप्तम परिच्छेद

चैतन्यचन्द्रोदय–काव्यात्मकता

भाषा शैली

प्राकृत का प्रयोग

अलङ्कार –योजना

छन्दोयोजना

प्रकृति चित्रण

सप्तम परिच्छेद
चैतन्यचन्द्रोदय-काव्यात्मकता

रसात्मकता के साथ काव्यात्मकता संस्कृत नाटक का एक अपरिहार्य तत्त्व रहा है। नाट्य-कला के परिपाक तथा नाटकीय तत्त्वों की सम्यक् योजना होने पर भी काव्यात्मकता के अभाव में नाटक असफल हो जाते हैं। नाटक की काव्यात्मकता के अन्तर्गत भाषा, शैली तथा उसके सहायक अलङ्कार, छन्द, भावों की अभिव्यञ्जना, अन्तःप्रकृति के साथ बाह्य-प्रकृति का चित्रण-ये सभी आ जाते हैं । ये ही प्रस्तुत अध्याय में विवेच्य हैं-

भाषा-शैली

अभिनेय होने पर भी नाटक में भावों की अभिव्यक्ति का माध्यम भाषा ही होती है। भाषा की विशेषता पद रचना पर निर्भर करती है । पदों की यह रचना या संघटना ही रीति कहलाती है।[1] वैदर्भी, पाञ्चाली और गौड़ी तीनों रीतियों में से 'वैदर्भी' रीति को श्रेष्ठ माना गया है। माधुर्य व्यञ्जक वर्णों से ललितात्मिका, समास रहित अथवा अल्प समासयुक्त रचना ही वैदर्भी कहलाती है[2]। प्रसादगुण सम्पन्न इस वैदर्भी रीति में माधुर्य व्यञ्जक वर्णों से अभिप्राय ट, ठ, ड तथा ढ वर्ण से अतिरिक्त वर्ण, वर्ग के अन्तिम वर्ण के साथ युक्त होना तथा र और ण वर्ण का लघु रूप में प्रयुक्त होना है[3]।

कर्णपूर ने 'चैतन्यचन्द्रोदय' में अधिकतर इसी वैदर्भी रीति का प्रयोग किया है। इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है-

हसन्ती वासन्ती वलितमुकुलो बालबकुलो
विशोकश्चाशोकः सुलभ विचयश्चम्पकचयः।
अनागः पुन्नागः स्तबकमनः पश्य सुमनः
कुटीरः पाटीरश्वसनसुरभिर्भाति सुरभिः[4]।

इस पद्य में समास का अभाव है। अनुप्रास की छटा मधुर रस के अनुकूल है।

यदि कहीं माधुर्य व्यञ्जक वर्णों का अभाव हो तो भी वहाँ पर समास का बहुत ही कम प्रयोग करना नाटककार को प्रायः प्रिय रहा है। इस प्रकार का प्रयोग सरलता से अर्थाभिव्यक्ति में समर्थ होता है। आचार्यों के अनुसार शुष्क ईंधन में अग्नि के समान तथा

---

[1] पदसङ्घटना रीतिः। साहित्यदर्पण, 9/1

[2] माधुर्यव्यञ्जकैर्वर्णे रचना ललितात्मिका अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा वैदर्भी रीतिरिष्यते । वही, 9/2-3

[3] वही, 8/2-3

[4] नाटक, पृ० 54

स्वच्छ वस्त्र में जल के फैलने के समान जहाँ अनायास शब्द बिना अन्वय के अर्थ बोध करवा देते हैं, वहाँ ही प्रसाद गुण होता है और उसी प्रसाद गुण से सम्पन्न वैदर्भी रीति होती है।[1] इसी को विश्वनाथ ने श्रवणमात्र से ही सरलतया अर्थबोध करवाने की प्रक्रिया कहा है[2]।

कर्णपूर का प्रस्तुत श्लोक इसका सुन्दर दृष्टान्त है-

मनो यदि न निर्जितं किममुना तपस्यादिना
कथं स मनसो जयो यदि न चिन्त्यते माधवः ।
किमस्य वा विचिन्तनं यदि न हन्त चेतोद्रवः
स वा कथमहो भवेद्यदि न वासनाक्षालनम् [3]।

कर्णपूर की विशेषता है कि कैसा भी गूढ़ भाव क्यों न हो वे उसे अत्यन्त सरल तथा सुबोध रूप में व्यक्त कर देते हैं । अपने प्रिय प्रभु के अकस्मात् अन्तर्धान से व्याकुल भक्त के हार्दिक सन्ताप तथा आकुल अवस्था की एक ही पद्य से सुन्दर अभिव्यक्ति हो रही है-

प्राणेश्वरेण सह चेत्सहसा न जग्मुः प्राणाः पुनर्झटिति नैव भवन्ति गन्तुम् ।
धिक्कारकोटिकटुतामनिशं सहन्ते सीदन्ति नैव वहतस्त्ववसादयन्ति ।।[4]

गौड़ीय वैष्णव दर्शन में भक्त तथा भगवान् के मध्य मधुर भाव तथा उसमें भी पारस्परिक भेद भावना के अवलोप को श्रेष्ठ स्वीकार किया गया है । उस रहस्यात्मक दार्शनिक सम्बन्ध को अत्यन्त सरल तथा प्रसादगुण-सम्पन्न भाषा में स्पष्ट किया गया है-

सखि न स रमणो नाहं रमणीति भिदावयोरास्ते ।
प्रेमरसेनोभयमन इव मदनो निष्पिपेष बलात् ।[5]

वैदर्भी रीति समस्त रसों तथा भावों में समान रूप से उपादेय होती है । चैतन्य-संन्यास से उत्पन्न वियोग की अवस्था का इसी रीति के माध्यम से हृदयग्राही चित्रण नाटककार ने प्रस्तुत पद्य में किया है-

तास्ताः कीर्तननृत्यकौतुककला हा धिक्समाप्तिं गता-
स्तास्ता प्रेमविलासहासमधुरा वाचः स्थिता नो हृदि ।

---

[1] द्र० विश्वनाथ, साहित्यदर्पण, 8, 7

[2] शब्दास्तद् व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः । साहित्यदर्पण, 8/8

[3] नाटक, पृ० 128

[4] वही, पृ० 81

[5] वही, पृ० 131

सा प्रीतिः करुणा च सा शिव शिव स्मृत्येकशेषाभव-
त्संन्यासेन तव प्रभो विरचितः सर्वस्वनाशो हि नः ।।[1]

इस प्रकार वैदर्भी रीति को माध्यम बनाकर कर्णपूर ने प्रायः अधिकतर स्थलों पर अपने भावों को अभिव्यक्त किया है । वैदर्भी के साथ गौड़ी-रीति के प्रयोग में भी कर्णपूर निष्णात हैं, इसका परिचय नाटक के कतिपय स्थलों में मिलता है । गौड़ी रीति का वैशिष्ट्य है ओज प्रकाशक वर्ण बाहुल्य, दीर्घ समास तथा गुम्फित पदों की योजना[2]। 'चैतन्यचन्द्रोदय' के भक्ति रसव्यञ्जक नाटक होने के कारण इसमें गुम्फित पद रचना तथा शब्दाडम्बर युक्त गौड़ी रीति का अवसर कम है फिर भी वर्ण्य विषय के अनुकूल कहीं-कहीं इस रीति का प्रयोग किया गया है। अधर्म के द्वारा 'कलि' की महत्ता को प्रतिपादित करते हुये 'कलि' की भयङ्कर तेजस्विता के अनुकूल ही भाषा का प्रयोग कर्णपूर ने किया है-

यस्योच्चैर्भुजदण्डचण्डिममहामार्तण्डतेजोभया-
न्मूकोघूक इवाद्रिकन्दरगतः पादैकशेषोवृषः ।[3]

प्रस्तुत वर्णन में कर्णकटु टवर्ग के ड वर्ण का अधिकता से प्रयोग, रेफ का संयुक्त रूप में प्रयोग, दीर्घ समास तथा गुम्फित रचना, सभी गौड़ी रीति की विशेषतायें हैं। जिस प्रकार यहाँ अनुकूल भाषा के द्वारा कलि की भयङ्करता व्यञ्जित हो रही है उसी प्रकार जगन्नाथ मन्दिर के प्रातःकालीन द्वारोद्घाटन का वर्णन इसी रीति में करते हुये लेखक ने विषय की उदात्तता तथा गरिमा को ध्यान में रखा है।

तत्कालीनकवाटवाटनिविडोद्घाटे विनिष्क्रामता
गर्भागारगरिष्ठसौरभभरेणामोदमभ्युद्वमन्।
निद्राभङ्गभृतालसो मुखमिव व्यादाय शेषेऽनिशो
जृम्भारम्भमिवातनोति स इयं प्रासाद एष प्रभोः[4] ।।

नाटक के पद्य भाग में गौड़ी रीति के निदर्शन अत्यल्प हैं । पद्य की अपेक्षा गद्य भाग में कुछ अधिक मात्रा में गौड़ी रीति का प्रयोग मिलता है । गद्य-रचना में कर्णपूर पद-पद पर यमक-प्रयोग के लिये ख्यात हैं । अनुप्रास का प्रयोग भी गद्य में बहुलता से हुआ है पर उसके साथ ही गुम्फित शब्द-योजना से युक्त शब्दाडम्बर दर्शनीय है । 'चैतन्यचन्द्रोदय' में प्रयुक्त गद्य भाग का पहला ही वाक्य इस प्रकार गुम्फित पदयोजना और यमक तथा

---

1 वही, पृ० 84

2 ओजः प्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः । समासबहुला गौड़ी । साहित्यदर्पण, 9/3-4

3 नाटक, पृ० 7

4 वही, पृ० 116

छेकानुप्रास के सुन्दर प्रयोग का निदर्शन है-

अद्याहं रत्नाकरवेलाकन्दलितदलितकज्ज्लोज्ज्वलन्महानीलमणिकन्दलस्य नीलगिरि- दरीदरीदृश्यमानघनदलमालतमालतरुकडरम्बस्य गभीरतरकोटरमहावटवटनिकट- प्रकटप्रमदमातङ्गस्य भगवतः श्रीपुरुषोत्तमस्य गुण्डिचायात्रायां सकलदिग्विदिग्वहारिहारिनरनिकरमुखरमुखरममाण......[1]।

अद्वैताचार्य द्वारा गौडी रीति के सुन्दर प्रयोग में भगवान् के क्रिया-कलाप का परिचय दिया गया है-

कोटिकोटिजगदण्डघटघटनविघटननाटकपरिपाटीपाटवस्य निजचरितललितकीर्ति-सुधाधावितजगज्जनहृदयावटघटमानतमःकाटवस्य भगवतस्तथैव लीलायितं खलु.....[2]।

इस प्रकार की ओजःगुण विशिष्ट रचना गद्य काव्य में चमत्काराधायक होने पर भी नाटक में अनुपयुक्त हुआ करती है क्योंकि नाटक अभिनय का विषय होता है । नाटक की भाषा का सरल तथा सुबोध होना आवश्यक है अन्यथा वह सर्वसंवेद्य नहीं बन सकती है। अतः ऊपर वर्णित समास बहुला गुम्फित भाषा का जहाँ प्रयोग हुआ है वहाँ नाटकीयता की दृष्टि से वह अनुचित ही है किन्तु यह दोष 'चैतन्यचन्द्रोदय' में अत्यल्प स्थलों पर ही है अन्यथा अन्यत्र भाषा सरल तथा सुबोध है। गद्य भागों में यमक के कारण कहीं कहीं भाषा में क्लिष्टता अवश्यमेव आ गई है यथा, "**अयि ललिते दुर्ललितेदुः के तव साहसिक्यशिक्षामेताम्। कस्ते मदो मदोकसि वृन्दावने...**[3]।'' अथवा "केवलबलमानैश्वर्यावेशेन मातरं प्रति मातृभावोऽपि निरस्तो मातृमातृभावोऽपि निरस्तोऽयं चेत्।"[4] अधिक स्थलों पर अर्थालङ्कारों से युक्त सरल शैली में ही भावों की अभिव्यक्ति हुई है । हरिसङ्कीर्तन सुनने के अनन्तर परिवर्तित चैतन्य का चित्रण उपमान के द्वारा स्वाभाविक रूप से किया गया है, '**किञ्चित्रामानन्दनिद्रोत्थित इवायं महामन्त्राकृष्ट इव फणिदष्टस्तमेव पन्थानमनुसर्पति**'।[5] अथवा एक रूपक के माध्यम से विरह कातर भक्तों की कातरावस्था की अभिव्यञ्जना दर्शनीय है-

'**मद्विधानामेव दुःखद्रुमफलकालविलसितमिदं.....**'।[6]

स्पष्ट है कि नाटक के भाषा प्रयोग में रीति का सन्निवेश उचित तथा अच्छा हुआ है।

---

[1] वही पृ० 1

[2] वही, पृ० 73

[3] वही, पृ० 60

[4] वही, पृ० 22

[5] वही, पृ० 89

[6] वही, पृ० 86

कविकर्णपूर का भाषा पर पूर्ण अधिकार है । जहाँ सामान्य रूप से किसी घटना की सूचना मात्र देनी होती है वहाँ वे उसी प्रकार सरल एवं अलङ्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं। चैतन्य की गौड़यात्रा प्रसङ्ग का एक वर्णन उपस्थित है, **'ततः कुमारहट्टे श्रीवासपण्डितवाटीमभ्यययौ । तत्र च गङ्गातीराद्वाटीपर्यन्तगमने यत्रयत्र पदमर्पयतीशस्तत्र पादरजसां ग्रहणाय प्राणिपाणिपतनेन स पन्था हन्त गर्तमय एव बभूव ।'**[1]

इसके विपरीत जहाँ शास्त्रीय वाद-विवाद अथवा किसी दार्शनिक-मान्यता की स्थापना करनी होती है वहाँ वे न्याय की पारिभाषिक शैली का ही प्रयोग करते हैं । सार्वभौम भट्टाचार्य के शिष्यों तथा गोपीनाथ आचार्य के मध्य हुये श्रीचैतन्य की भगवत्ता की स्थापना सम्बन्धित कथोपकथन में इस शैली का सुन्दर निदर्शन मिलता है -

'शिष्याः - केन प्रमाणेनेश्वरोऽयमिति ज्ञातं भवता ।

गोपीनाथाचार्य :- भगवदनुग्रहजन्यज्ञानविशेषेण ह्यलौकिकेन प्रमाणेन । भगवत्तत्त्वं लौकिकेन प्रमाणेन प्रमातुं न शक्यते अलौकिकत्वात् ।

शिष्या :- नायं शास्त्रार्थः। अनुमानेन न कथमीश्वरः साध्यते।

गोपीनाथाचार्य :- ईश्वरस्तेन साध्यतां नाम। न खलु तत्त्वं साधयितुं शक्यते। तत्तु तदनुग्रहजन्यज्ञानेनैव तस्य प्रमाकरणत्वात्।[2]

चैतन्य के ईश्वरत्व का निर्णय कलि इसी शैली में करता है, **सकलजनान्तःकरणाकर्षित्वं हि भगवतोऽसाधारणं लिङ्गम्। आनन्दमयत्वात्। आनन्दमयो हि जीवानानन्दयितुमर्हति।**[3] इसी प्रकार अन्य भी कई स्थलों पर ऐसे प्रयोग मिलते हैं, यथा, **'अस्माकं तु समः पन्थाः विच्छेददुःखस्य तुल्यफलत्वात्'**[4], अन्यत्र...**'अथेति उच्चावचशास्त्रसकलप्रतिपाद्या-वबोधपरिसमाप्तौ। अत इति ब्रह्मानन्दादपि चमत्कारकारकत्वात्**[5]**।' 'पाञ्चरात्रिकास्त्वविगीतशिष्टा भगवदुपासकत्वात्। तेन तदाचरितेनैव वेदार्था अनुमीयन्ते'**[6] आदि । इन प्रयोगों से जहाँ कर्णपूर के व्यक्तिगत जीवन में न्याय का पण्डित होना सूचित होता है वहीं उनकी भाषा सम्बन्धित कुशलता का भी बोध होता है। दार्शनिक विषयों की विवेचना सामान्य शैली में न करके विलक्षण दार्शनिक अर्थात् नैयायिक शैली

---

[1] वही, पृ० 170

[2] वही, पृ० 111

[3] वही, पृ० 8

[4] वही, पृ० 172

[5] वही, पृ० 158

[6] वही, पृ० 122

में करने से विवेचना में स्वाभाविकता आ गई है।

भाषा सम्बन्धित पाण्डित्य के सन्दर्भ में कर्णपूर की एक और विशेषता दृष्टि को आकर्षित करती है। उन्होंने कुछ ऐसे शब्दों का प्रयोग किया है जिनका साहित्य में कम प्रयोग देखने को मिलता है यथा सरेरीयमाण[1] आदि। यह उनके व्याकरण सम्बन्धी पाण्डित्य को ही सूचित करता है। पूजित अर्थ में वरिवसित[2] के समान अप्रयुक्त शब्द का प्रयोग भी नाटक में हुआ है। साहित्य में ख्यात शब्दों की अपेक्षा कम प्रयोग में आने वाले शब्दों के प्रयोग के प्रति नाटककार की रुचि प्रतीत होती है अतः बलराम के लिये 'तालाङ्क'[3] गज के लिये स्तम्बेरम[4] तथा प्रातःकाल के लिये 'प्रग'[5] जैसे शब्द प्रयुक्त हुये हैं। ऐसे शब्दों के कारण भाषा में कहीं-कहीं क्लिष्टता भी आ गई है।

कविकर्णपूर की भाषा सर्वदा और सर्वत्र प्राञ्जल तथा स्वाभाविक नहीं बन पाई है क्योंकि दार्शनिक विवेचनों के कारण स्थल विशेष पर वह भाराक्रान्त सी हो गई है फिर भी उनकी भाषा में स्थल स्थल पर कुछ ऐसी शब्दावली है जो सुन्दर सूक्ति के रूप में परिणत हो सकती है। ये सूक्तियां जहाँ लेखक की बहुमुखी प्रतिभा तथा मान्यताओं की सूचक हैं वहीं अपनी संक्षिप्तता तथा सार्थकता के कारण व्यवहार्य भी है, यथा-**केन कोपो विजेयः**[6]**, कोऽपराधो जनन्याः पुत्रेषु**[7]**, दिष्टे हीष्टे भवति सहसा हन्त वामोऽप्यवामः**[8]**, विनासर्वत्यागं भवति भजनं न ह्यसुपतेः**[9] **आदि**[10]।

प्राकृत का प्रयोग

नाट्याचार्यों ने मञ्च पर स्वाभाविकता को बनाये रखने के लिये पात्रों के अनुरूप भाषा-प्रयोग की योजना की है। तदनुसार उत्तम तथा मध्यम श्रेणी के पुरुषों की भाषा संस्कृत होनी चाहिये और स्त्री पात्रों को प्राकृत के भेद 'शौरसेनी' का प्रयोग करना चाहिए

---

[1] वही, पृ० 127

[2] वही, पृ० 34

[3] वही, पृ० 33

[4] वही, पृ० 51

[5] वही, पृ० 194

[6] वही, पृ० 11

[7] वही, पृ० 71

[8] वही, पृ० 91

[9] वही, पृ० 96

[10] द्रष्टव्य प्रस्तुत ग्रन्थ के परिशिष्ट में सूक्ति समावेश

परन्तु इन स्त्रियों द्वारा प्रयुक्त छन्द अथवा गेय पद में महाराष्ट्री प्राकृत का प्रयोग होना उचित है। राजा के अन्तःपुर में रहने वालों की भाषा मागधी होनी चाहिये तथा चेट राजपुत्र तथा श्रेष्ठी आदि को अर्धमागधी का प्रयोग करना चाहिए[1]। इसके साथ अन्य प्राकृतभेदों का भी उल्लेख है।

'चैतन्यचन्द्रोदय' पुरुष प्रधान, वह भी उत्तम तथा मध्यम कोटि के पुरुषपात्र-युक्त नाटक है। अतः नाटक में अधिकतर संस्कृत भाषा का प्रयोग हुआ है। बहुत कम स्त्री-पात्र अथवा चेट आदि हैं जिनके मुख से प्राकृत का प्रयोग करवाया गया है। स्त्री पात्रों में शची देवी, आचार्यरत्न की पत्नी, राजमहिषी, किन्नर स्त्री तथा प्रतीकात्मक नारी पात्र भक्ति देवी, प्रेमभक्ति, मैत्री तथा गङ्गा हैं। इनके अतिरिक्त दान-विनोद में भी कुछ स्त्री पात्र हैं। ये सभी उत्तम अथवा मध्यम कोटि के पात्र हैं। कर्णपूर ने नियमानुकूल इनके मुख से शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग करवाया है। केवल प्रेमभक्ति संस्कृत का प्रयोग करती है।

'चैतन्यचन्द्रोदय' में प्रयुक्त इस 'शौरसेनी प्राकृत' का विवेचन करने से पूर्व 'शौरसैनी प्राकृत' की सामान्य विशेषताओं का उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। 'शौरसेनी' अन्य प्राकृतों की अपेक्षा संस्कृत के बहुत निकट है । इसमें सामान्यतया य का 'च' (यदि - जदि), उच्चारण स्थान में परिवर्तन यथा-दन्त्य के स्थान पर तालव्य तथा दन्त्य के स्थान पर मूर्धन्य, श्, ष् तथा स् के स्थान पर दन्त्य स्, स्वरमध्यवर्ती क्, ग्, च्, ज्, त् तथा द् का प्रायः लोप अथवा क्, त्, प्, के स्थान पर ग्, द्, ब्, थ् का घ्, और ट्, ढ्, का ङ, प् का लोप न होने पर व् तथा ब् का व् आदि परिवर्तन हो जाते हैं[2]।

शौरसेनी प्राकृत का एक उदाहरण भक्ति देवी के कथन में द्रष्टव्य है **'विराअ, एदस्सिं कलिआले कलिआलेशामेतंवि धम्मन्तरं न त्थि। ण त्थिरदरं किंपि होई। केअलं अलंकरेदि। एदं कलिं भअवद्धम्मो बद्धं मोहं वि पराकरोदित्ति साहणसद्धसद्धम्मो। सुद्धभत्तिजोएण एणसामवहारएण कलिमलमथणआरिणा आचण्डालं चण्डाऽलंघणिज्जदुवासणावासणासेण संगोपंगाओ मादिसीओ भक्तिदेइओ संगे कदुअ भअवदा अवदारो किदो भत्तवेसेण'**[3]।

प्रस्तुत उद्धरण में शौरसेनी के नियमानुसार प्रायः श् तथा ष् के स्थान पर दन्त्य स्, यथा 'शुद्ध' के स्थान पर 'सुद्ध', 'मादृशी' के स्थान पर मादिसीओ, 'वासनाशेन' के स्थान पर 'वासणासेण' तथा 'वेशेन' के स्थान पर 'वेसेण' का प्रयोग हुआ है। 'शौरसेनी' की दूसरी विशेषता 'य' का 'ज' में रूपान्तरित होना भी यहाँ दृष्टिगत होती है-योगेन-जोएण,

---

[1] नाट्यशास्त्र, 17/50-56

[2] A.C. Woolner, Introduction to Prakrit, pp. 15-25.

[3] नाटक, पृ० 28

लञ्छनीय-लञ्छणिज्ज। दन्त्य के स्थान पर मूर्धन्य सर्वत्र उपलब्ध है-न-ण, साधन-साधण, योगेन-जोएण, एनसाम्-एणसाम्, मथन-मथण, अलंघनीय-अलंघणिज्ज, दुर्वासनावासनाशेन-दुवासणावासणासेण । स्वरमध्यवर्ती 'ग' का लोप, यथा- विराग - विराअ, भगवत्-भअवद् ; योगेन-जोएण, भगवता - भअवदा; स्वरमध्यवर्ती 'क' का लोप कलिकालेश - कलिआलेष; अवहारकेण-अवहारएण; कारिणा-आरिणा, स्वरमध्यवर्ती त् का द् में रूपान्तर, यथा-अलंकरोति-अलंकरेदि, एतं - एदं, भगवता-भअवदा, अवतारो-अवदारो।

स्था धातु में कभी 'त्थ' और कभी 'ठ्ठ' होता है। इसी आधार पर प्रस्तुत उद्धरण में परिवर्तन हुआ है-'नास्ति-न त्थि, स्थिरतरं - त्थिरदरं।'

इन नियमों के अतिरिक्त संयुक्त अक्षर में दो स्पर्श एक साथ आने पर पहले को दूसरे का समानादेश हो जाता है[1]। इसी नियम के आधार पर प्रस्तुत उद्धरण में एतस्मिन् - एदस्सिं, मात्रं - मैत्तं, धर्म - धम्म, भक्ति - भत्ति, भक्त-भत्त आदि परिवर्तन हुये हैं। अपि का 'वि' तथा भवति का 'होइ' प्राकृत के सामान्य नियम से प्रयुज्य हैं।

भक्ति देवी के समान अन्य नारी पात्र, यहाँ तक कि राधा का अभिनय करने वाले श्रीचैतन्य भी इसी शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग करते हैं । राधा की एक उक्ति है, **'ललिदे, इमिणा प्फंफंसिदाणि एदाणि कधं देवस्स दादव्वाणि । ता मुञ्च मुञ्च । घरं गदुअ अण्णोवअरणं आणिअ देओं अच्चिदव्वो । ता अज्जिए, एहि । घरं गच्छम्ह'**[2]। प्रस्तुत गद्यांश में प्राकृत के सामान्य नियमानुसार यद्यपि स्पृष्यनि के 'स्पृ' का 'प्फं' बन गया है[3] तथापि शौरसेनी के नियमों का बाहुल्य से प्रयोग होने के कारण अर्थात् ललिते के' 'त' का' द' बनकर ललिदे बना, तीनों श्, ष्, तथा स् के स्थान पर दन्त्य स् यथा स्पृष्यनि - पुंफसिदाणि, एतानि - एदाणि, दातव्यानि - दादव्वाणि, अन्य-अण्ण, आनीय - आणिअ इत्यादि प्रयोगों तथा स्पर्शो का कम मात्रा में लोप होने से इसका 'शौरसेनी' स्वरूप ही स्पष्ट हो रहा है।

सामान्यतः विदूषकों के लिये भी शौरसेनी प्राकृत का विधान किया जाता है[4]। 'चैतन्यचन्द्रोदय' में 'दान-विनोद' अभिनय में विदूषक कुसुमासव की भाषा शौरसैनी ही रखी गई है। उदाहरणस्वरूप-**'वअस्स, एआ जोइणी जरदीव्ब दीसमाणा देवोपसण्णललिद-बालललणाओ पञ्चसाओ वणमज्झम्हि आणिअ गोवीसरपूअणत्थं किदारम्मा दिट्ठा। तुह पुण्णेण अहं उव्वरिओ ....**[5]।

[1] A.C. Woolner, Introduction to Prakrit, p. 25

[2] नाटक, पृ०-66

[3] Woolner, Introduction to Prakrit, p. 27.

[4] वही, पृ० 117

[5] नाटक, पृ० 56

पहले ही सङ्केत दिया जा चुका है कि नाटक में प्रयुक्त छन्द अथवा गेय भागों की भाषा शौरसेनी के स्थान पर 'महाराष्ट्री' प्राकृत होनी चाहिये। यद्यपि इन प्राकृतों के नियमों में परस्पर साम्य है तथापि महाराष्ट्री के अपने कुछ वैशिष्ट्य परिलक्षित होते हैं यथा उसमें सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है, स्वरमध्यवर्ती क्, ग्, च्, ज्, त्, तथा द् का प्रायः लोप हो जाना। शौरसेनी से मागधी में एक उल्लेखनीय विकार 'त' वर्ण का है। शौरसेनी में स्वरमध्यवर्ती 'त' का 'द' हो जाता है जबकि 'महाराष्ट्री' में उसका लोप हो जाता है। शौरसेनी तथा अन्य प्राकृतों में जहाँ ध् के स्थान पर घ् आदेश होता है वहीं महाराष्ट्री में उसका 'ह' बन जाता है[1]।

महाराष्ट्री प्राकृत के ऊपर विवेचित नियमों के आधार पर 'चैतन्यचन्द्रोदय' के केवल तीन ही पद्य इस प्राकृत में मिलते हैं। प्रस्तुत रचना में यद्यपि प्रेमभक्ति को छोड़कर शेष सभी मूर्त तथा अमूर्त नारी पात्र शौरसेनी का ही प्रयोग करते हैं तथापि छन्द-प्रयोग के समय उन सबने ही प्रायः विश्वनाथ के 'उदात्त विषय के वर्णन के लिये नारी पात्र भी संस्कृत का प्रयोग कर सकते हैं[2]' इस नियम को आधार बनाकर संस्कृत भाषा को ही अङ्गीकार किया है। प्रवेशक की पात्र गङ्गा श्रीचैतन्य सम्बन्धित यात्रा-वर्णन में चौदह पद्य संस्कृत भाषा में ही बोलती है। अस्तु, महाराष्ट्री प्राकृत में रचित प्रस्तुत तीन पद्य दान-विनोद-अभिनय के प्रसङ्ग में प्रयुक्त हुये हैं[3] जिनमें से दो नेपथ्य से बोले जाते हैं तथा तृतीय की वक्ता राधा की सखियां हैं। इन छन्दों में महाराष्ट्री प्राकृत के लक्षण अन्वेषणीय हैं। प्रथम छन्द इस प्रकार का है-

विरइअ ठाणे ठाणे दाणं सो गणगओ घूत्तो।
कड्डइ सदालिवग्गं हेलाकण्डूलकरदण्डो[4]।

यद्यपि प्रस्तुत पद्य में स्वरमध्यवर्ती व्यञ्जन यथा 'हेलाकण्डूलकरदण्डो' में क वर्ण का दो बार लोप नहीं हुआ है जबकि वही महाराष्ट्री छन्दों की प्रधान विशेषता है, तथापि यह छन्द वक्ता के वैशिष्ट्य तथा अन्य लक्षणों के कारण महाराष्ट्री प्राकृत के अन्तर्गत आयेगा । इसमें महाराष्ट्री प्राकृत के उपयुक्त 'कर्षति' का 'कड्डइ' रूप बना है जबकि अन्य प्राकृतों में त के स्थान पर द का रूपान्तर अपेक्षित था। 'विरचय्य' में य के अवश्यम्भावी लोप के साथ स्वरमध्यवर्ती 'च' का भी लोप महाराष्ट्री का परिचायक है। स्थाने-स्थाने के स्थान पर ठाणे-ठाणे शौरसेनी के समान महाराष्ट्री में भी बनता है।

महाराष्ट्री में द्वितीय पद्य है-

---

[1] Woolner, Introduction to Prakrit, pp. 16-18

[2] साहित्यदर्पण, 6/167-169

[3] नाटक, पृ० 56-59

[4] वही, पृ० 56

अवगाहिअ उण मग्गं सो विवणे सहअरेहि कलहेहिं।
विहरइ दाणविणोई हन्त कधं तत्थ गन्तव्वम्।[1]

इस पद्य में 'विहरति' तथा 'दानविनोदी' के अन्तिम त तथा द का लोप तथा सहचरैः के च का लोप इसके महाराष्ट्री प्राकृत होने के परिचायक हैं। इस पद्य में भी कर्णपूर ने उक्त प्राकृत के नियमों का पूरा पालन नहीं किया है अन्यथा 'कधं' के स्थान पर 'कहं' पाठ बनना उचित था।

तृतीय पद्य इस प्रकार है-

मुक्किअ लवंगलदिअं चवलो महुसूअणो एसो।
पिअसहि अणिअदपेम्मो तुह मुहगन्वेण अन्धिओ भमई[2]**।**

'मुक्त्वा' के संयुक्त वर्ण के स्थान पर द्वित्व, लतिकां के अन्तिम व्यञ्जन का लोप, मधुसूदनः के 'ध' का 'ह' तथा सूदन के 'द' का लोप तथा अन्ततः भ्रमति के भमई रूप से ज्ञात होता है कि यहाँ महाराष्ट्री प्राकृत है। वस्तुतः इन प्राकृतों के नियम परस्पर इतना साम्य रखते हैं कि समस्त नहीं केवल कुछ एक विशेषताओं तथा वक्ता के आधार पर उस उस प्राकृत का श्रेणी-निर्धारण किया जाता है।

शौरसेनी तथा महाराष्ट्री के अतिरिक्त सार्वभौम के भृत्य की भाषा में अर्धमागधी के लक्षण दृष्टिगोचर होते हैं। केवल कतिपय पंक्तियों में भृत्य ने अपना वक्तव्य कहा है अतः उसमें अर्धमागधी के सभी लक्षण खोजना व्यर्थ है। भृत्य का कथनांश इस प्रकार है-

'अले, ण आणासि। सेज्जाए अणुत्थिदेज्जेव भट्टाचालिए एसेअ अम्हादो सजगधरधुआले गदे। तदो बहुएण कहिअम् - भट्टाचालि भट्टाचालिअ, उत्थेहि, उत्थेहि। से सण्णासी आअदो' त्ति । तदो घसमसिज भट्टाचालिए उत्थिअ इमस्स चलणे पडिए। तदो इमिणा जहण्णाहस्स पसाअभत्तं हत्थे कदुअ 'भुंक्ष्वंति गदिदवन्तो। तदो अम्हाणं ईसले उम्मत्ते विअ अकिअविचाले तक्खणभेत्तेण तं भत्तं गिलिअवन्ते अकिदसिणाणे ज्जेव अकिअंमुहपक्खालणे ज्जेव। गिलिऊण उम्मत्ते विअ कण्ठइदस-अलंगेण अणअलत्थिमिदवसणे घग्घलकण्ठसद्दे अवम्हाललोअविवसे विअ भविअ महीदले लुण्ठादि [3]**।'**

अर्धमागधी एक ओर मागधी प्राकृत से और दूसरी ओर महाराष्ट्री प्राकृत से साम्य रखती है । मागधी के समान 'र' का बाहुल्य से 'ल' होना तथा साथ ही महाराष्ट्री आदि के समान दन्त्य 'स' का प्रयोग होना अर्धमागधी के विशेष चिह्न हैं।

प्रस्तुत गद्यांश में- अरे-अले, भट्टाचार्य - भट्टाचालिए

---

[1] वही, पृ० 57

[2] वही, पृ० 59

[3] वही, पृ० 118

अपस्माररोगविवशः- अवम्हाललोअविवसे, द्वारे-दुआले,
चरणे - चलणे, ईश्वर - ईसले, अकृतविचारः-अकिअविचाले,
सर्वाङ्ग - सअलंगे, घर्घर - घग्घल,

में सर्वत्र 'र' वर्ण का 'ल' वर्ण में रूपान्तर हो गया है जो अर्धमागधी का प्रधान चिह्न है तथा उसके मागधी से सम्पर्क को द्योतित करता है। इसके साथ ही महाराष्ट्री के समान स्वरमध्यवर्ती वर्णों का लोप यथा अकृतविचार-अकिअविचाले, सर्वाङ्गः - सजलंग तथा 'प' का व होना यथा अपस्मार-अवम्हाल आदि परिवर्तन स्पष्ट हैं। अर्धमागधी का विशेष परिचायक दन्त्य 'स' में अन्य श तथा ष का बदल जाना भी प्रस्तुत गद्यांश में बाहुल्य से दृष्टिगोचर होता है, यथा-

शय्याः - सेज्जाए, एषः - एस, शयनगृह - सजणघर,
ईश्वरः - ईसल, कण्ठशब्द - कण्ठसद्दे, विवशः - विवसे आदि

इन सब विशेषताओं से यह अर्धमागधी प्राकृत ही ज्ञात होती है।

कर्णपूर के भाषा-विषयक प्रयोग के सन्दर्भ में, प्राकृत का उचित विनियोजन भी स्पष्ट हो जाता है जिसमें पात्रों के अनुरूप शौरसेनी, महाराष्ट्री तथा अर्धमागधी प्राकृत का उन्होंने प्रयोग किया है।

अलङ्कार-योजना

कर्णपूर ने 'चैतन्यचन्द्रोदय' में शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार, दोनों का ही पर्याप्त प्रयोग किया है । कर्णपूर की भाषा का स्वाभाविक प्रवाह इी अलङ्कार से सज्जित होकर निकलता है । उनके गद्य भाग के विवेचन से स्पष्ट हो गया है कि वे क्लिष्ट तथा समास बहुल गद्य का पर्याप्त प्रयोग करते हैं । उनके गद्य का एक और वैशिष्ट्य है उसका पद पद पर यमक से सज्जित होना । कुछ विशेष स्थलों पर लेखक सचेतन होकर यमकों का इतना आडम्बर खड़ा कर देते हैं कि वहाँ भाषा से भाव तक पहुँचना ही कठिन प्रतीत होता है -

**चैतन्यतन्यमानतिरोभावभावभावितभानसारुषापरुषाऽपद्
दशावशादशतशातवैमुख्येन मुख्येन हेतुना.....[1]।**

अन्यत्र स्वाभाविक रूप से भी यमक का प्रयोग मिलता है-अन्तर्यामी यामीहते[2], भक्तियोगो योऽगोचरः शास्त्रकृताम्[3], ब्राह्मणचेलयोः कुचेलयो....[4] इत्यादि। गद्यभाग में

---

[1] वही, पृ० 2

[2] वही, पृ० 4

[3] वही, पृ० 5

[4] वही, पृ० 11-12

यमक उनका सबसे प्रिय शब्दालङ्कार रहा है जो अनेक स्थलों पर तो भावों के साथ ही उपस्थित हुआ सा लगता है।

गद्य भाग में यमक के अतिरिक्त 'अनुप्रास' का भी पर्याप्त प्रयोग हुआ है- 'मरीचिवीचिनिचयरुचिमञ्जरीभिः.....[1]' इत्यादि में केवल 'च' वर्ण की ही नहीं वरन् 'चि' की ही आवृत्ति दर्शनीय है।

गद्य-भाग में कर्णपूर ने शब्दालङ्कारों में से केवल इन दोनों यमक तथा अनुप्रास का ही प्रयोग किया है। शब्दश्लेष अथवा उस पर आधारित विरोधाभास जैसे अलङ्कार सर्वत्र वर्जित ही रहे हैं। नाटक के पद्यभाग में भी शब्दालङ्कारों में से इन्हीं दो का प्रयोग आधिक्य से हुआ है। यमक का एक निदर्शन प्रस्तुत है-

हेलोद्धूलिखेदया विशदया प्रोन्मीलदामोदया
शाम्यच्छास्त्र विवादया रसदया चित्तार्पितोन्मादया[2]।

प्रस्तुत उद्धरण में प्रत्येक पद के अन्त में 'दया' इस 'पद-भाग' की आवृत्ति हुई है । इसी प्रकार का एक अन्य प्रयोग है-

प्रियस्वरूपे दयितस्वरूपे प्रेमस्वरूपे सहजाभिरूपे ।
निजानुरूपे प्रभुरेकरूपे ततानरूपे स्वविलासरूपे [3]।

यमक का प्रयोग गद्य के पद-पद पर होने पर भी पद्य में उसका अल्प प्रयोग दृष्टिगोचर होता है । अनुप्रास का पद्य-भागों में तदपेक्षा अधिक प्रयोग हुआ है । यमुना की स्तुति में अनुप्रास की छटा अवलोकनीय है-

चिदानन्दमानोः सदा नन्दसूनोः परमप्रेपात्री द्रवब्रह्मगात्री।[4] इत्यादि।

कर्णपूर ने यद्यपि अपने 'अलङ्कारकौस्तुभ' में चित्रबन्ध काव्य का विस्तृत उल्लेख किया है तथापि प्रस्तुत ग्रन्थ में उनका कुत्रापि प्रयोग न करना उनकी निपुणता का ही द्योतक है। शब्दालङ्कारों के अन्य भेद नाटक में उपलब्ध नहीं है।

अर्थालङ्कारों में से कर्णपूर ने अनेक अलङ्कारों का प्रयोग 'चैतन्यचन्द्रोदय' में किया है। यहाँ उनके द्वारा प्रयुक्त कुछ विशेष अलङ्कारों का ही उल्लेख किया जा रहा है।

अर्थालङ्कारों में महत्त्वपूर्ण तथा सादृश्यमूलक अलङ्कारों में प्रधान उपमा अलङ्कार का 'चैतन्यचन्द्रोदय' में प्रयोगबाहुल्य है। उपमा की सार्थकता कवि के वक्तव्य को पूर्ण सफलता के साथ उपस्थित करने में है । गुण्डिचामार्जन के अवसर पर सम्मार्जनी से युक्त

---

[1] वही, पृ० 13

[2] वही, पृ० 141

[3] वही, पृ० 175

[4] वही, पृ० 90

एवं मकड़ी के जाले से व्याप्त गौरवर्ण के चैतन्य कलङ्क से व्याप्त चन्द्रमा के समान चित्रित किये गये हैं-

पाणौ कृत्वा मधुरमृदुले शोधनीमूर्ध्वमूर्ध्वं
सर्वैः सार्धं स्वयमयमसौ गुण्डिचामण्डपान्तः।
लूतातन्तून्मलिनरजसः सारयन्नैव तैस्तै-
र्व्याप्तो गौरः शशधर इव व्यक्तलक्ष्मा बभूव[1]।

उपमा के पूर्णा, लुप्ता आदि भेदों के साथ मालोपमा का भी सुन्दर प्रयोग हुआ है। उसका एक उदाहरण है -

मूर्तास्त्रय इव वेदाः शम्भोस्त्रीणीव नयनानि।
तिस्र इवामरसरितो धाराः पुरतो रथत्रयी स्फुरति[2]।

प्रस्तुत उदाहरण में श्रीजगन्नाथ के तीनों रथों के उपमान रूप में मूर्तिमान् तीनों वेद, शिवजी के तीन नेत्र तथा गङ्गा की स्वर्ग, मर्त्य तथा पाताल की तीनों धाराओं, इन तीनों को ही उपमान के रूप में ग्रहण करने के कारण मालोपमा अलङ्कार है। यहाँ कर्णपूर की उपमान-चयन में एक विशेषता उल्लेखनीय है कि जगन्नाथ के रथ की पवित्रता तथा अलौकिकता को स्पष्ट करते हुये उन्होंने पावनता के सूचक तथा अलौकिक पदार्थों को ही उपमान के रूप में ग्रहण किया है।

भगवान् जगन्नाथ के मन्दिर को देखकर मुकुन्द की यह कल्पना सन्देह अलङ्कार की सुन्दर योजना करती है-

उत्क्षिप्तः किमयं भुवा दिनमणेराकर्षणार्थं भुजः
पातालात्किमु सत्यलोकमयितुं शेषः समभ्युत्थितः।
किं वा नागफणामणीन्द्रमहसां शशिर्जिहाणो दिवं
दिव्यं देवकुलं प्रभोरिदमिदं भो देव विद्योतते [3]।

उद्धृत अलङ्कार में भी जगन्नाथ के देवकुल को देखकर उपस्थापित सन्देह में लेखक ने किसी पार्थिव अथवा सामान्य कोटि के अप्रस्तुत का चयन न करके पृथ्वी, शेष-नाग तथा नाग समूह को ग्रहण कर प्रस्तुत विषय की उदात्तता बनाये रखने के साथ-साथ सन्देह की सुन्दर कल्पना की है।

भक्तिलोक के अधिवासी होने के कारण कर्णपूर की दृष्टि नारी के अन्तः अथवा बाह्य सौन्दर्य का सामान्यतः वर्णन नहीं करती है परन्तु राधा के उल्लेख में जहाँ

---

[1] वही, पृ० 195

[2] वही, पृ० 156

[3] वही, पृ० 106

अतिशयोक्ति अलङ्कार की सुन्दर योजना हुई है वहीं कवि की काव्यात्मकता भी दर्शनीय है-

एतत् स्वर्णसरोरुहं तदुपरि श्रीनीलरत्नोत्पले
तत्पश्चात् कुरुविन्दकन्दलपुटे तत्रापि मुक्तावली।
सर्वं दृश्यत एव किन्तु निभृता या हेमकुम्भद्वयी
किं वान्यन्नयसे नयेति तदिदं बाले विचार्यं मया[1]।।

उत्प्रेक्षा 'चैतन्यचन्द्रोदय' में कर्णपूर का प्रिय अलङ्कार प्रतीत होता है जिसका अनेक बार प्रयोग किया गया है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है[2] -

श्रीवत्सस्य च कौस्तुभस्य च रमादेव्याश्च गर्हाकरो
राधापादसरोजयावकरसो वक्षःस्थलस्थो हरेः।
बालार्कद्युतिमण्डलीव तिमिरैश्छन्देन बन्दीकृता
कालिन्द्याः पयसीव पीवविकचं शोणोत्पलं पातु नः[3]।

प्रस्तुत पद्य में कवि ने श्रीहरि के वक्षस्थल में अङ्कित श्रीराधा के चरणकमल के लाक्षारस की उत्प्रेक्षा प्रातःकालीन लाल वर्ण की धूप से तथा कृष्ण की अन्धकार से सुन्दर रूप में की है।

रूपक अलङ्कार नाटक में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण है क्योंकि नाटककार ने इसके प्रायः सभी भेदों को इसमें प्रदर्शित किया है । यहाँ आरोप्यमाण तथा आरोप्य विषयों का शब्दशः कथन रूप तथा केवल आरोप्यमाण विषयों का शब्दशः कथन रूप रूपक अलङ्कार का उदाहरण प्रस्तुत किया जा रहा है-

आश्चर्यं यस्य कन्दो यतिमुकुटमणिर्माधवाख्यो मुनीन्द्रः
श्रीलाद्वैतः प्ररोहस्त्रिभुवनविदितः स्कन्ध एवावधूतः।
श्रीमद्वक्रेश्वराद्या रसमयवपुषः स्कन्धशाखास्वरूपो
विस्तारो भक्तियोगः कुसुममथ फलं प्रेमनिष्कैतवं यत्[4]।

प्रस्तुत पद्य में एक रूपक अलङ्कार के माध्यम से लेखक ने सम्पूर्ण गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय का उसके महत्त्व के साथ परिचय दे दिया है। जिस सम्प्रदाय का मूल उद्देश्य भक्तियोग की स्थापना तथा उसके माध्यम से अहैतुकी प्रेम का प्रचार है

---

[1] वही, पृ० 67

[2] कर्णपूर ने 'अलङ्कारकौस्तुभ' (8/59) में उत्प्रेक्षा के उदाहरण रूप में इसी श्लोक का चयन किया है ।

[3] नाटक, पृ० 130

[4] वही, पृ० 4

उसे एक वृक्ष के रूप में माना गया है। यहाँ आरोप के विषय माधवेन्द्रपुरी, अद्वैत, नित्यानन्द, अवधूत, वक्रेश्वर तथा स्वरूप हैं। उन पर क्रमशः वृक्ष के कन्द, प्ररोह, स्कन्ध, रसमयवपुः तथा शाखा स्कन्ध का आरोपण हुआ है। भक्तियोग पर कुसुम तथा प्रेम पर फल का आरोपण है। इस प्रकार आरोप्यमाण वस्तुओं के साथ आरोप्य विषयों का भी शोभन कथन हुआ है।

आरोप के विषय का कथन न करके केवल आरोप्यमाण-विषय के कथन का उदाहरण है -

मधुरिमरसवापीमत्तहंसीप्रजल्पः प्रणयकुसुमवाटीभृङ्गसङ्गीतघोषः।
सुरतसमरभेरीभाङ्कृतिः पूतनारे-र्जयति हृदयदंशी कोऽपि वंशीनिनादः[1]।

प्रस्तुत पद्य में कवि की काव्यात्मकता दर्शनीय है। कृष्ण का वंशीनिनाद मधुर रस का उद्दीपक विभाव है अतः वापी तथा उसमें मदमत्त हंसी के शब्द के साथ उसका साम्य जोड़ना रसाभिव्यक्ति की दृष्टि से उपकारक है। इसी प्रकार प्रणय-कुसुम की वापी में भ्रमर का सङ्गीत घोष मदन का उद्दीपक होता है, उसी का यहाँ उल्लेख हुआ है। अन्तिम उपमान भी उसी भाव को व्यञ्जित कर रहा है। मधुर रस के विषय आलम्बन कृष्ण का शब्दशः कथन नहीं हुआ है अतः केवल आरोप्यमाण विषय के कथन रूप रूपक अलङ्कार है।[2]

दीपक अलङ्कार की योजना भी 'चैतन्यचन्द्रोदय' में द्रष्टव्य है। आनन्दसिन्धु के विवरों में निमज्जित करती हुई भक्ति देवी की अनेक क्रियाओं का चित्रण दर्शनीय है-

अन्तःप्रसादयति शोधयतीन्द्रियाणि मोक्षं च तुच्छयति किं पुनरर्थकामौ।
सद्यः कृतार्थयति सन्निहितैव जीवानानन्दसिन्धुविवरेषु निमज्जयन्ती[3]।

एकावली अलङ्कार का अधिक प्रयोग न होने पर भी उसकी योजना भी नाटक में भली प्रकार हुई । केवल इस एक अलङ्कार के माध्यम से नवद्वीप में सर्वत्र व्याप्त भक्ति का अपने अङ्गों पूजा, कीर्तन आदि के साथ शोभन चित्रण हुआ है-

नवद्वीपे नासीदहह स जनो यस्य न पुरे हरेर्गेहं नो तद्यदपि भगवन्मूर्तिरहितम्।
न सा यस्याः सेवा न भवति न सा या न सरसा रसो नासौ सङ्कीर्तननटनमुख्यो न खलु यः[4] ।

प्रस्तुत श्लोक में हरेर्गेह, भगवन्मूर्ति, सेवा, सरसा ये उत्तर में विशेषण के रूप में प्रयुक्त होने से एकावली अलङ्कार है।

दृष्टान्त का प्रयोग 'चैतन्यचन्द्रोदय' में अनेक बार हुआ है।

---

[1] वही, पृ० 53

[2] अलङ्कारकौस्तुभ (8/72) में उद्धृत

[3] नाटक, पृ० 27

[4] वही, पृ० 29

नानालीलारसवशतया कुर्वतो लोकलीलां साक्षात्कारेऽपि च भगवतो नैव तत्त्वबोधः।
ज्ञातुं शक्नोत्यहह न पुमान्दर्शनात्स्पर्शरत्नं यावत्स्पर्शाज्जनयतितरां लोहमात्रं न हेम[1]।

प्रस्तुत श्लोक में स्पर्श रत्न (पारसमणि) का दृष्टान्त देते हुये लेखक ने स्पष्ट कर दिया है कि चैतन्य के साक्षात् भगवान् होने पर भी केवल उनके साक्षात्कार से कोई उनकी भगवत्ता को नहीं जान सकता है। जब तक स्पर्शरत्न लोहे को छू कर सोना न बना दे तब तक उसकी पहचान नहीं होती है।

नाटक में 'समासोक्ति' अलङ्कार को बहुत कम अवसर मिला है तथापि जो एकाध चित्रण हैं, अच्छे हैं। यथा-

नाम्नैव मे त्वमसि किन्त्वखिलग्रहाणां विश्रामपात्रमिति तत्पतिनाभिशस्ता।
तत्प्रत्यया परितप्तमयो दधाति संन्ध्यार्कबिम्बकपटादिव वारुणी दिक्[2]।

यद्यपि इस पद्य में उत्प्रेक्षा तथा अपह्नुति की भी योजना है तथापि 'समासोक्ति' ही विशेष चमत्काराधायक बन पड़ी है। ग्रहों का वारुणी दिशा अर्थात् पश्चिम दिशा में अस्त होना और उस दिशा के द्वारा रक्तिम वर्ण, अस्ताचलगामी सूर्य मण्डल को धारण करना आदि प्रस्तुतों के माध्यम से कवि ने पति द्वारा अन्यासक्ति के कारण पत्नी पर आक्षेप लगाना तथा पत्नी द्वारा विश्वास उत्पन्न करने हेतु अपनी परीक्षा देना आदि का सुन्दर कथन समासोक्ति अलङ्कार द्वारा किया है।

नाटक में विरोधाभास अलङ्कार के बहुत कम प्रयोग हुये हैं, उनमें से एक है-

अभ्रंलिहोऽपि जगतां हृदयं प्रविष्टः स्थूलोऽपि लोचनयुगान्तरमभ्युपेतः।
सिद्धः शिलाभिरपि यो रसवर्षशाली प्रासाद एषः पुरतः स्फुरतीश्वरस्य[3]।

नीलाचलचन्द्र के देवालय के आकाशचुम्बी होने पर भी उसको हृदय में प्रवेश करने वाला इत्यादि बतलाकर चैतन्य की उस देवालय के प्रति प्रगाढ़ अनुरक्ति को ही व्यक्त किया गया है। विरोध का सुन्दर प्रयोग भी परिलक्षित हुआ है। अर्थान्तरन्यास नाटककार का प्रिय अलङ्कार प्रतीत होता है क्योंकि अनेकधा इसका शोभन प्रयोग दर्शनीय है। एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

आशापाशद्विगुणवलितैस्तद्गुणैरेव बद्धाः प्राणा नो यद्विरहविधुरा हन्त गन्तुं न शेकुः।
सम्प्रत्येतैरुपकृतमहो तन्मुखं दर्शयद्भिर्दिष्टे हीष्टे भवति सहसा हन्त वामोऽप्यवामः[4]।

अद्वैताचार्य श्रीचैतन्य के विरह से कातर होने पर जब उनके पुनर्दर्शन का आश्वासन

---

[1] वही, पृ० 120

[2] वही, पृ० 73

[3] वही, पृ० 107

[4] वही, पृ० 91

प्राप्त करते हैं तो वे अपने प्राणों द्वारा शरीर-परित्याग न करने को उपकार ही मानते हैं। इस विशेष बात को वे एक सामान्य कथन से समर्थित करते हैं कि दैव के इष्ट होने पर प्रतिकूल विषय भी अनुकूल हो जाता है। अतः यहाँ साधर्म्य से अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

कविकर्णपूर ने 'चैतन्यचन्द्रोदय' में श्लेष अलङ्कार, चाहे शब्द श्लेष हो या अर्थ श्लेष, का यथासाध्य परिहार ही किया है। यदि कहीं प्रयोग किया भी है तो बड़े अनायास तथा सरल ढंग से। शब्द श्लेष का एक उदाहरण है-

भो अद्वैत स्मर किमु वयं हन्त नाद्वैतभाजो भेदस्तस्मिंस्त्वयि च यदियान्स्पतो लिङ्गतश्च[1] ।

यहाँ 'अद्वैतभाजः' पद एक ओर जहाँ श्रीचैतन्य के प्रधान पार्षद अद्वैताचार्य को बता रहा है वहीं अद्वैत मार्ग का भी वाचक है।

शब्द श्लेष की अपेक्षा श्लेष-वक्रोक्ति का नाटक में अधिकता से प्रतिपादन हुआ है। ललिता के प्रश्नोत्तर में इसका उदाहरण द्रष्टव्य है-

कस्त्वं भो ननुमाधवः कथमहो वैशाख आकारवा-
न्मुग्धे विद्धि जनार्दनोऽस्मि तदिदं ब्रूते वनावस्थितिः।
मां गोवर्धनधारिणं न धरणौ को वेत्ति हुं वर्धनं
हिंसा हे वृषहन् बिभर्षि तद्वधद्वारैव गोवर्धनम्।[2]

प्रस्तुत पद में माधव लक्ष्मीपति के लिये, जनार्दन नारायण के लिये तथा गोवर्धनधारी श्रीकृष्ण के लिये प्रयुक्त होने पर भी श्लेष से उनका अर्थ क्रमशः वसन्त, जनों का अर्दन् अर्थात् पीड़न करने वाला तथा गोवर्धन में वर्धन को हिंसार्थक लेकर गौ के प्रति हिंसक अर्थ लिया गया है। यहाँ श्लेष के माध्यम से अन्य अर्थ में कहे वाक्य की दूसरे अर्थ में योजना करने के कारण श्लेष वक्रोक्ति है।

अर्थश्लेष तथा शब्दश्लेष की संसृष्टि भी द्रष्टव्य है-

आह्लादयन्नक्षि जगज्जनानां प्रेमामृतस्यन्दसुषीमपादः।
उल्लासयन् कौमुदमुज्जिहीते चन्द्रश्च विश्वम्भरचन्द्रमाश्च।।[3]

जगत् के जनों के नेत्रों को आह्लादित करना रूप कार्य चन्द्र तथा विश्वम्भर, दोनों के पादों के साथ अन्वित हो रहा है। यहाँ आह्लादित करने का अर्थ प्रधान है। इस शब्द का परिवर्तन करने पर भी श्लेष बना रहेगा । अतः प्रथम पाद में अर्थ श्लेष है । अन्यत्र

---

[1] वही, पृ० 96

[2] वही, पृ० 67

[3] वही, पृ० 74

'कौमुदम्' चन्द्र के सम्बन्ध में कुमुद नामक पुष्प समूह का वाचक तथा विश्वम्भर के सम्बन्ध में 'को' पृथ्वी का मुद अर्थात् हर्ष का वाचक है। ये दोनों अर्थ 'कौमुदम्' शब्द विशेष से प्रकट हो रहे हैं अतः शब्द श्लेष है। पद्य में दोनों की संसृष्टि है।

'चैतन्यचन्द्रोदय' में प्रयुक्त अनेकों अलङ्कारों में से केवल कतिपय अलङ्कारों का सङ्केत मात्र दिया गया है। यहाँ यह बताना अत्यन्त आवश्यक है कि कर्णपूर पद्यों में एक से अधिक अलङ्कारों का प्रयोग करने में भी निपुण हैं। वे अलङ्कार कहीं तो परस्पर निरपेक्ष अतः 'संसृष्टि' के उदाहरण बन जाते हैं और कहीं परस्पर सापेक्ष होने के कारण 'सङ्कर' हैं। ऊपर के पद्य में शब्द तथा अर्थश्लेष की 'संसृष्टि' है तो अन्यत्र केवल अर्थालङ्कारों अथवा केवल शब्दालङ्कारों की संसृष्टि के उदाहरण भी मिलते हैं किन्तु शब्दालङ्कार, विशेषकर अनुप्रास या यमक, के साथ किसी अर्थालङ्कार की संसृष्टि ही अधिकतर दृष्टिगोचर होती है। उदाहरणस्वरूप-

स्वजनहृदयसद्मा नाथ पद्माधिनाथो भुविचरसि यतीन्द्रच्छद्मना पद्मनाभः।
कथमिह पशुकल्पास्त्वामनल्पानुभावं प्रकटमनुभवामो हन्त वामो विधिर्नः[1]।

इस श्लोक में अनुप्रास तथा यमक के साथ 'काव्यलिङ्ग' अर्थालङ्कार का प्रयोग हुआ है। परस्पर निरपेक्ष इन शब्द तथा अथालङ्कारों से यहाँ प्रधान संसृष्टि अलङ्कार है।

सङ्कर अलङ्कार का भी एक निदर्शन उपस्थित है-

सायाह्नसङ्गसुखलुप्तधियः प्रतीच्याः शोणाभ्रवाससि समुच्छ्वसिते नितम्बात्।
काञ्चीकलापकुरुविन्दमणीन्द्ररूपी कालक्रमाद् दिनपतिः पतयालुरासीत्[2]।

प्रस्तुत पद्य में सन्ध्याकाल तथा पश्चिम दिशा के व्यवहार में नायक-नायिका का आरोप होने के कारण समासोक्ति, लाल वर्ण के मेघों को वस्त्र रूप में लेने से रूपक एवं काञ्चीकलापकुरुविन्दमणीन्द्र आदि के रूप से अर्थात् व्याज से अपह्नुति अलङ्कार है। इसमें इन तीनों अलङ्कारों में से रूपक तथा अपह्नुति निरपेक्ष नहीं वरन् समासोक्ति के परिपोषक बन कर आये हैं अतः यहाँ सङ्कर अलङ्कार हैं।

कर्णपूर द्वारा 'चैतन्यचन्द्रोदय' में प्रयुक्त अलङ्कारों के इस परिचयात्मक विवेचन से स्पष्ट है कि नाटककार इस क्षेत्र में पूर्ण सफल है। अनुप्रास आदि शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कारों के प्रयोगाधिक्य से उनकी भाषा कहीं भी कृत्रिम अथवा भाराक्रान्त नहीं बनी है। कर्णपूर के काव्यों से उनकी बहुमुखी प्रतिभा तथा अप्रतिम पाण्डित्य का बोध होता है। दार्शनिक तो वे हैं ही। नाटक में अनेक स्थलों पर दार्शनिक विवेचन भी हुआ है। कवि के

---

[1] वही, पृ० 120

[2] वही, पृ० 74

रूप में उनकी यह बहुत बड़ी सफलता है कि उपमानों के चयन में उन्होंने इस पाण्डित्य को आने नहीं दिया है। परिणामतः उनके अलङ्कार हृदयावर्जक तथा स्वाभाविक बन पाये हैं। इन अलङ्कारों के माध्यम से उनका 'कवि अपने सच्चे रूप में सामने आता है। शास्त्रीय उपमानों का चयन करने से काव्य में क्लिष्टता स्वाभाविक रूप से आ जाती है। इस कारण कविकर्णपूर ने सामान्य जन जीवन अथवा कतिपय पौराणिक उपमानों तक अपना क्षेत्र सीमित किया है। फलतः अलङ्कार-योजना से भाषा क्लिष्ट अथवा दूरान्वय के दोष से मुक्त रही है। कर्णपूर के उपमानों के चयन में सूक्ष्म सौन्दर्य दृष्टि तथा औचित्य का मापदण्ड अत्यधिक उच्चकोटि का न होने पर भी, किसी भी दृष्टि से उनका अलङ्कार प्रयोग गर्हित भी नहीं है। अतः अलङ्कार योजना में कर्णपूर अच्छे कवि सिद्ध हुये हैं।

छन्दो-योजना

'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक के कुल दस अङ्कों में 468 श्लोक हैं। इनमें से 44 श्लोक नाटककार ने 'श्रीमद्‌भागवत', 'गीता' तथा अन्य स्थलों से उद्धृत किये हैं। इस प्रकार नाटक में कवि के स्वरचित श्लोकों की संख्या 424 है। इन श्लोकों को नाटककार ने विविध छन्दों में उपनिबद्ध किया है। इन छन्दों में तेइस विविध वार्णिक तथा मात्रिक ख्यात छन्द एवं कतिपय अख्यात मात्रिक छन्द प्रयुक्त हुये हैं। ख्यात छन्दों में सर्वाधिक उपयोग 'शार्दूलविक्रीडितम्' का किया गया है जिसमें 88 श्लोकों की रचना हुई है । कर्णपूर वर्ण्यविषय अथवा रस या भाव की दृष्टि से इन छन्दों की योजना नहीं करते हैं। 'शार्दूलविक्रीडितम्' जैसे बड़े छन्द की रचना एक ओर गुम्फित शब्द योजना तथा अधर्म के स्वामी 'कलि' की प्रचण्डता को द्योतित करने के लिये की गई है-

यस्योच्चैर्भुजदण्डचण्डिममहामार्तण्डतेजोभयान्मूको धूक इवाद्रिकन्दरगतः पादैकशेषो वृषः।[1]

तो इसके विपरीत चैतन्य के महाभिषेक में अन्तराल से योगदान देने वाली अतएव गङ्गा से कलशों में जल लाने वाली क्लान्त तथा कम्प, अश्रु, स्वेद आदि सात्त्विक भावों से युक्त नारियों के चित्रण में भी उसी शार्दूलविक्रीडित छन्द का प्रयोग किया गया है-

यान्त्यायान्ति च हन्त मङ्गलघटव्यग्राग्रहस्ताः स्त्रियो
या एताः परितः पुरात्सुरधुनीं तत्कूलमूलात्पुरम्।
तासां वाचि तदीहितं नयनयोरसं तनौ वेपथु-
र्धमिल्ले श्लथता कपोलफलके रोमाञ्च इत्यद्भुतम्।।[2]

'वसन्ततिलका' कविकर्णपूर का द्वितीय प्रिय छन्द है जिसमें साठ श्लोकों की रचना हुई है। इसके साथ उल्लेख योग्य 'मन्दाक्रान्ता' तथा 'शिखरिणी' छन्द हैं जिनमें क्रमशः

---

[1] वही, पृ० 7

[2] वही, पृ० 14

43 तथा 37 श्लोकों की रचना हुई है।

दो छन्दों के सङ्कर से बना 'उपजाति' छन्द भी कर्णपूर को विशेष प्रिय रहा है। उन्होंने उपजाति के बहुख्यात इन्द्रवज्रा तथा उपेन्द्रवज्रा के मिश्रण रूप का ही नहीं वरन् अन्य भी दो छन्दों के सङ्कर रूप उपजाति का प्रयोग 'चैतन्यचन्द्रोदय' में किया है। प्रस्तुत श्लोक में-

दम्भेकमात्रप्रथनाय केवलं चर्माम्बरत्वादि न वस्तुसाधनम्।
चलद्भिरुर्वीमृजुनैव वर्त्मना सुखेन गम्यस्य समाप्यतेऽवधिः।[1]

प्रथम पंक्ति में इन्द्रवंशा तथा नीचे की पंक्ति में वंशस्थ के लक्षण होने के कारण दोनों का सङ्कर 'उपजाति' छन्द है।

कर्णपूर ने अनुष्टुप् के भेदों के अतिरिक्त सामान्य नियमानुसार आर्या छन्द तथा उसके भेदों का प्रयोग किया है।

नाटक में प्रयुक्त छन्द हैं-अनुष्टुप्, आर्या, इन्द्रवज्रा, इन्द्रवंशा, उपजाति, उपेन्द्रवज्रा, औपछान्दसिक, कालभारिणी, पृथ्वी, पुष्पिताग्रा, प्रहर्षिणी, भुजङ्गप्रयात, मन्दाक्रान्ता, मालिनी, रथोद्धता, वसन्ततिलका, वंशस्थ, शार्दूलविक्रीडिम्, शिखरिणी, सुन्दरी, स्रग्धरा, स्वागता तथा हरिणी।

प्रकृति चित्रण

संस्कृत का काव्य हो अथवा नाटक, उसमें प्रकृति वर्णन आवश्यक है । प्रकृति का प्रमुखतः आलम्बन तथा उद्दीपन, दो रूपों में वर्णन होता है । आलम्बन में प्रकृति ही वर्ण्य विषय होती है तथा उद्दीपन में किसी रस अथवा भाव के पोषक रूप में प्रकृति को लिया जाता है।

'चैतन्यचन्द्रोदय' में प्रतिपादित कथानक एवं रस दोनों ही सामान्य संस्कृत नाटकों से विलक्षण हैं। अतः नाटककार को प्रकृति वर्णन का बहुत कम अवसर मिला है। उन्होंने मुख्यतः प्रकृति को उद्दीपन विभाव के रूप में ही अङ्कित किया है। भक्त्यावेश में श्रीचैतन्य वृन्दावन के वृक्ष, लता, पशु, पक्षी, वन, उपवन, प्रत्येक प्राकृतिक उपादान को व्रजनन्दन कृष्ण से सम्बद्ध मानते थे अतः उनका दर्शन चैतन्य को विह्वल बना देता था। इस प्रसङ्ग में द्रष्टव्य है-

मदमुदितमयूरकण्ठकान्तद्युतिमभिवीक्ष्य कुतश्चिदप्यकस्मात्।
स्खलति लुठति वेपते विरोति द्रवति विषीदति हन्त मूर्च्छतीशः।[2]

---

[1] वही, पृ० 143

[2] वही, पृ० 174

इसी सन्दर्भ में नाटककार ने प्रकृति का मानवीकरण भी किया है । कुञ्जों की सीमा में पृथ्वी तल पर मूर्च्छित प्रभु के मुख के झाग को हरिणों द्वारा पीने तथा पक्षियों द्वारा नयन जल-पीने का चित्रण अच्छा है-

कुञ्जसीमनि कदापि यदृच्छा मूर्च्छया निपतितस्य धरण्याम्।
आलिहन्ति हरिणा मुखफेनानापिबन्ति शकुना नयनाम्भः[1]।

कर्णपूर द्वारा चित्रित प्रकृति जड़ नहीं वरन् सहृदय प्राणी है जो मानव के सुख-दुःख में समभागी बनती है। यही कारण है कि एक ओर मृग तथा पक्षी चैतन्य के झाग तथा आंसू पोंछ कर उनकी सेवा करते हैं तो दूसरी ओर करुण स्वर में विलाप करते हुये चैतन्य के समव्यथी मयूर अपना नृत्य छोड़कर उनके साथ विलाप करते हैं-

विलपति करुणस्वरेणदेवे जलधरधीरगभीरनिःस्वनेऽपि
चिरमनुविलपन्ति वाष्पकण्ठः क्वचनचलास्यमपास्यनीलकण्ठा।[2]

प्रस्तुत प्रसङ्ग के चित्रण अच्छे होने पर भी मौलिकता के अभाव में ये महत्त्वहीन हो जाते हैं क्योंकि इन वर्णनों में प्रकृति के प्रिय गायक कवि कालिदास का स्वर ही प्रतिध्वनित होता प्रतीत होता है[3]।

श्रीकृष्ण के वंशीनिनाद को सुनते हुये प्राकृतिक उपादानों का मानवोचित व्यवहार अन्यत्र भी चित्रित हुआ है-

'विततिरपि गिरीणां मुञ्चतीवाश्रुधारां पुलकयति तरुणां वीरुधां चैष वर्गम्।
इत्यादि'[4] परन्तु यहाँ भी कवि की कल्पना का दैन्य अखरता है।

नाटक में अन्यत्र प्रकृति के आलम्बन-चित्रण अल्प हैं। उसमें भी प्रकृति की सुषमा की अपेक्षा अन्य विषय महत्त्वपूर्ण बन गये हैं यथा अद्वैताचार्य का सन्ध्याकालीन सूर्य का यह वर्णन-

नाम्नैव मे त्वमसि किंत्वखिलग्रहाणां विश्रामपात्रमिति तत्पतिनाभिशस्ता।
तत्प्रत्ययाय परितप्तमयो दधाति सन्ध्यार्कबिम्बकपटादिव वारुणी दिक्।[5]

पाठक के मानस में सन्ध्याकालीन लालिमा से युक्त पश्चिम दिशा का चित्र उद्घाटित करने के स्थान पर पति को अपने सच्चारित्र्य का विश्वास दिलाने के लिये कठोर परीक्षा देती हुई पत्नी के दयनीय रूप को ही स्पष्ट करता है ।

इसी प्रकार निम्नाङ्कित चित्रण में सन्ध्याकाल में पश्चिम दिशा में सूर्यास्त का वर्णन

---

[1] वही, पृ० 174

[2] वही, पृ० 174

[3] उग्गलिअदब्भकवला भिआ परिच्चच्चणच्चणा मोरा
ओसरिअपण्डुपत्ता मुअन्ति अस्सूणि विअ लदाओ ।।
अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4/12

[4] नाटक, पृ० 53-54

[5] वही, पृ० 73

गौण हो गया है एवं उसके स्थान पर रूपक, अपह्नुति तथा समासोक्ति अलङ्कारों का सङ्कर ही प्रधानतया चमत्कार का विषय बन गया है-

सायाह्नसङ्गसुखलुप्तधियः प्रतीच्या : शोणाभ्रवाससि समुच्छ्वसिते नितम्बात् ।
काञ्चीकलापकुरुविन्दमणीन्द्ररूपी कालक्रमाद्दिनपतिः पतयालुरासीत् ।[1]

'चैतन्यचन्द्रोदय' में जो बहुत थोड़े प्रकृति वर्णन के चित्रण हैं उनमें से निम्न पद्य कुछ सुन्दर बना है । प्रातःकाल उदित होते हुये सूर्य की बालक के रूप में कल्पना की गई है जो उदयाचल के तटप्रान्त को थोड़ा सा लांघ कर पूर्व दिशा के अन्तरिक्ष का सहारा लेता हुआ, अपने किरण रूपी चरणों को फैलाने में शिशुता के कारण अपटु होने पर भी समय के साथ उदित हो रहा है-

उल्लंघ्य किञ्चिदुदयाचलवप्रधारा प्राच्यादिशेऽम्बरतटीमवलम्बमानः ।
पादप्रसारणविधावपटुस्तथापि बालोरविः कलय कालवशादुदेति ।।[2]

भाषा की सङ्गीतात्मकता तथा अलङ्कार के कारण निम्न पद्य काव्य के सुन्दर उदाहरण के रूप में उपस्थित होने पर भी इसमें चित्रित प्रकृति एकदम प्राणवन्त अथवा हृदयग्राही नहीं है । इसमें केवल प्राकृतिक सामग्रियों के नाम मात्र गिनाये गये प्रतीत होते हैं-

हसन्ती वासन्ती वलितमुकुलो बालवकुलो, विशोकश्चाशोकः सुलभविचयश्चम्पकचयः
अनागः पुन्नागः स्तबककमनः पश्य सुमनः कुटीर पाटीरश्वसनसुरभिर्भाति सुरभिः ।[3]

इनके अतिरिक्त उपमानों के रूप में अनेक स्थलों पर प्रकृति का ग्रहण हुआ है परन्तु वह कहीं भी विशेष उल्लेखनीय नहीं है।

कर्णपूर का प्रकृति-चित्रण स्वल्प होने पर भी हृदयग्राही नहीं है, यह तो इस विवेचन से स्पष्ट हो गया है। संस्कृत कवियों में जो प्रकृति के जड़ रूप को न केवल मूर्त रूप देने वरन् उसका सरस, सुमधुर वर्णन प्रचलित है उसका भी कर्णपूर में सर्वथा अभाव है।

'चैतन्यचन्द्रोदय' ऐतिहासिक, सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित तथा चरितात्मक नाटक है जिसकी रचना के अन्तराल में नाटक के चरितनायक तथा नाटककार के अभीष्ट एवं आराध्यदेव श्रीचैतन्य के जीवन चरित की उदात्तता, अलौकिकता और सर्वोपरि उनकी भगवत्ता को प्रतिष्ठित करना तथा गौड़ीय वैष्णव धर्म एवं दर्शन को नाटक के माध्यम से लोकप्रिय बनाना ही उद्देश्य था । अतः ऐसी रचना में काव्यात्मकता का सफल निर्वाह सर्वत्र न तो अपेक्षित होता है और न सम्भव। इतना होने पर भी चैतन्यचन्द्रोदय काव्यात्मकता की दृष्टि से अच्छा प्रयास तो कहा ही जा सकता है। सामान्यतया नाटकानुकूल भाषा-प्रयोग, सुन्दर अलङ्कार-योजना, छन्दःवैविध्य नाटक में आशानुरूप हैं इसमें सन्देह नहीं।

---

[1] वही, पृ० 74

[2] वही, पृ० 77

[3] वही, पृ० 54

अष्टम परिच्छेद

चैतन्यचन्द्रोदय – सामाजिक चित्रण

पारिवारिक स्थिति

वर्णव्यवस्था

वर्गव्यवस्था

नारी की स्थिति

धार्मिक अवस्था

आर्थिक अवस्था

राजनैतिक अवस्था

अन्य विषय

अष्टम परिच्छेद
चैतन्यचन्द्रोदय-सामाजिक चित्रण

वस्तुतः 'चैतन्यचन्द्रोदय' अलौकिक नायक तथा उससे सम्बन्धित अलौकिक वातावरण पर आधारित कृति है किन्तु नरलीला परायण परमेश चैतन्य के चित्रण के माध्यम से उनके आसपास का मानवीय समाज भी प्रस्तुत रचना में प्रतिफलित हो गया है। यत्र-तत्र विकीर्ण उन तथ्यों के आधार पर एक सर्वाङ्गीण सामाजिक चित्र उपस्थित किया जा रहा है। यहाँ यह स्पष्ट करना परमावश्ययक है कि 'चैतन्यचन्द्रोदय' एक विशेष सम्प्रदाय-भुक्त नाटक है। स्वाभाविकरूपेण नाटककार ने जिस समाज का चित्रण नाटक में किया है, वह एक सार्वभौमिक समाज का प्रतिनिधित्व न करके अधिकतर एक विशेष प्रान्त, पश्चिम बंगाल, उसमें भी विशेषतः 'नवद्वीप' की तथा कहीं कहीं उत्कल के जगन्नाथपुरी की सामाजिक विशेषताओं का ही परिचय प्रस्तुत करता है।

किसी भी समाज का पूर्ण परिचय तब तक उपलब्ध नहीं होता है जब तक उस समाज में रहने वाले व्यक्तियों की पारिवारिक अवस्था, वर्ण एवं वर्ग-व्यवस्था, उस काल में नारी की स्थिति, धार्मिक अवस्था, आर्थिक तथा राजनैतिक अवस्था एवं शिक्षा प्रणाली आदि का पूरा विवरण न प्राप्त कर लें। नाटक में इस परिगणित सूची में से जिन उपादानों का साक्षात्कार होता है उनका ही विवेचन किया जा रहा है।

पारिवारिक स्थिति

कविकर्णपूर के नाटक में तत्कालीन पारिवारिक जीवन का परिचय यत्र तत्र मिल जाता है । उस समय संयुक्त परिवार की प्रथा प्रचलित थी । श्रीवास का उनके भाइयों के साथ उल्लेख हुआ है कि वे सभी भाई एक साथ मिलकर एक संयुक्त परिवार के रूप में रहते थे[1] । ऐसे संयुक्त परिवार में घर के वयोवृद्ध व्यक्ति का निर्देश सर्वमान्य होता था। श्रीचैतन्य के अभिषेक के अवसर पर घर के सभी व्यक्तियों का श्रीवास के आदेशानुसार कार्य-सम्पन्न करना इसी का परिचायक है[2] । दान-लीला अभिनय के अवसर पर श्रीवास के नारद का अभिनय करने पर उनके भाइयों ने भी अभिनय में भाग लिया[3] । परिवार में

---

[1] नाटक पृ० 8

[2] वही, पृ० 13

[3] वही, पृ० 47

बड़ों का सम्मान था परन्तु भाइयों के मध्य में व्यर्थ का सङ्कोच न था अतः सभी सहोदर साथ ही अभिनय में भाग ले रहे थे। परिवार में शिष्टाचार का पूरा ध्यान रखा जाता था। भाई-बहन, माता-पिता अथवा अन्य किसी गुरुजन से मिलने पर उन्हें प्रणाम करने का नियम था[1]। माननीय व्यक्ति का सर्वथा उचित आदर होता था[2]।

समाज के साधारण व्यक्ति के पारिवारिक जीवन के साथ ही नाटक में समाज-पति-नरपति के पारिवारिक जीवन की भी स्वल्पमात्रा में झलक मिलती है। राज-परिवार का समाज में विशिष्ट तथा सम्मानित स्थान होता था। राजा के साथ सामान्य जनों के व्यवहार में प्राचीन काल की अपेक्षा कुछ परिवर्तन हो गया था। प्राचीन काल में राजा के समक्ष आने वाले ब्राह्मण आदि पूज्य जनों के अतिरिक्त सभी राजा की जयकार करते थे कर्णपूर के समय में यद्यपि राजा पहले की ही भांति दौवारिक आदि से परिवेष्टित होता था, परन्तु वे राजा के समक्ष आकर सीधे अपने कथनीय विषय पर आ जाते थे। राजा शिष्टाचार का पूरा पालन करता था[3]। राज परिवार के लिए राजा का जयकार रूप शिष्टाचार प्रचलित था। राजा की महिषी भी राजा के समक्ष आने पर जयकार करती थी।[4]

राजा कितना भी निरभिमानी क्यों न हो, उसे अपनी मर्यादा का पालन करना पड़ता था। कोई भी आगन्तुक बिना पूर्व सूचना के राजा का समीपस्थ नहीं हो सकता था। राजाज्ञा से उसे प्रवेश करवाया जाता था। परम्परा का इस प्रकार पालन करना राज-परिवार की स्त्रियों के लिये भी आवश्यक था। अन्तःपुर में केवल पारम्परिक कञ्चुकी को ही प्रवेशाधिकार था। वही अन्तःपुर से रानियों का सन्देश बहिर्भागस्थ राजा तक पहुँचाया करता था[5]। रानियों को कञ्चुकी के अतिरिक्त अन्य परपुरुषों के समक्ष जाने की अनुमति नहीं थी[6]।

जनसामान्य में राजा तथा राजपरिवार का विशेष समादर था। राजा तथा उसका परिवार उत्सवादि के अवसर पर भी जनसमाज से मर्यादित दूरी पर रहता था। इसी उद्देश्य से धार्मिकोत्सव आदि देखने के लिये उनके अन्तःपुर के सदस्यों के लिए निर्धारित स्थान हुआ करता था[7] राजा भी स्वयं अपने आप्तजनों सहित अपने विशिष्ट स्थान पर

---

[1] वही, पृ० 27, 70

[2] वही, पृ० 108

[3] वही, पृ० 124

[4] वही, पृ० 188

[5] वहीं, पृ० 188

[6] वही, पृ० 191

[7] वही, पृ० 186

ही बैठता था । चाहने पर भी वह अपनी सीमा का अतिक्रमण करके जन समुदाय से नहीं मिल सकता था[1] । राजा के लिए बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी[2] ।

प्रस्तुत नाटक में राजा के अन्तःपुर-सहाय रूप में कञ्चुकी, धर्म-सहाय रूप में पुरोहित तथा अर्थ-सहाय रूप में अमात्य तथा उसके अन्तर्गत कर-एकत्रित करने वाले घट्टपालों का उल्लेख मिलता है । कञ्चुकी का कर्मक्षेत्र राज-अन्तःपुर तक सीमित था। पुरोहित के राजा के सन्दर्भ में करणीय कार्य का उल्लेख नहीं मिलता है।

वर्ण व्यवस्था

कविकर्णपूर विरचित नाटक में यद्यपि चैतन्य-मान्यतानुसार जाति प्रथा की अवहेलना तथा समता का सिद्धान्त अपनाया गया है तथापि नाटक में यत्र तत्र पुरातन जाति-प्रथा के अवशेष दृष्टिगोचर होते हैं। चैतन्य-भक्तों में यद्यपि निम्न-जाति के भी व्यक्ति थे तो भी समाज में ब्राह्मणों को पूरा सम्मान मिलता था। धार्मिक-कृत्यों में कतिपय अधिकार केवल ब्राह्मणों तथा उनकी स्त्रियों तक ही सीमित थे[3]। यह ठीक है कि उस समय यह बन्धन शिथिल हो रहे थे। जाति के भेदभाव दूर करने के सम्बन्ध में पुराने संस्कारों तथा नई चेतना के मध्य संघर्ष अपरिहार्य था। म्लेच्छ जैसी अभिधा को धारण करने वाला दूर से ही वर्जनीय व्यक्ति भी भक्त बन कर सिद्ध पुरुष की कोटि तक पहुँच सकता था। समाज में आगत नई चेतना के परिणामस्वरूप पुरातन जाति, शील, आश्रम, धर्म, विद्या, कुल आदि समाज के बाधक तत्त्व उपेक्षणीय बन गए थे[4]। चाण्डालादि भी ब्राह्मण जैसे उच्च वर्णों के साथ सहयात्रा पर जाते थे[5]। पहले की मान्यतानुसार ब्राह्मण का परिचारक ब्राह्मणेतर नहीं हो सकता था पर इस समाज में यह बन्धन भी शिथिल हो रहा था। साधारण व्यक्ति ही नहीं अपितु ईश्वरपुरी के समान संन्यासी प्रवर भी ब्राह्मणेतर परिचारक की परिचर्या ग्रहण करते थे[6]। वर्ण-व्यवस्था का पूर्णतः उन्मूलन न होने पर भी अपने से निम्न वर्ण को हेय दृष्टि से नहीं देखा जाता था।

वर्ग व्यवस्था

वर्ण-व्यवस्था की शिथिलता के साथ-साथ वर्गभेद की दृढ़ता भी समाप्त हो रही थी । राजा अपनी मर्यादाओं को तोड़कर जनप्रवाह में मिलने के लिये आतुर हो रहा था, जो

---

[1] वही, पृ० 191

[2] देव्यः (सोत्कण्ठं निरीक्ष्य प्रणमन्ति) (यहाँ सम्मान के लिये बहुवचन नहीं है), वही, पृ० 199

[3] वही, पृ० 13

[4] वही, पृ० 31

[5] वही, पृ० 178

[6] वही, पृ० 142

समय सापेक्ष था[1]। इससे पहले तक राजा तथा प्रजा के दो पूर्ण विपरीत वर्ग थे जिनके मध्य का व्यवधान बहुत विस्तृत था। समाज में आने वाली चेतना का ही परिणाम था कि यह व्यवधान कम होता जा रहा था। समाज का दूसरा महत्त्वपूर्ण वर्ग-भेद धनी तथा निर्धन का होता है। उस समय इन दोनों वर्गों में भी ऐसी पृथकता की स्थिति नहीं थी। सहस्र व्यक्तियों के शिवानन्द के साथ प्रतिवर्ष नीलाचल जाने की घटना से यह स्पष्ट हो जाता है कि समाज में धनी समृद्ध व्यक्ति निर्धनों की उपेक्षा नहीं करते थे वरन् वे उनके प्रतिपालकस्वरूप थे । शोषित तथा शोषक का वर्ग एक ही भक्ति धारा में प्रवाहित होकर अपनी भिन्नता को भूल चुका था। धनिकों ने संरक्षण देने की प्रवृत्ति को स्वीकार कर लिया था अतः जनसामान्य का समस्त मार्ग व्यय आदि शिवानन्दसेन जैसे समृद्ध व्यक्ति ही वहन करते थे[2]।

समाज का एक अन्य-महत्त्वपूर्ण वर्ग स्वामि-सेवक का है। तत्कालीन समाज में समृद्ध व्यक्तियों के घर पर एकाधिक सेवकों की नियुक्ति होती थी। वे सेवक दास मात्र न थे। अपने कर्तव्य के साथ-साथ परिस्थितिजन्य दायित्व का भी अनुभव करते थे। इससे पता चलता है कि उनकी स्थिति बुरी नहीं थी। अद्वैत आचार्य के घर पर भगवान् के भिक्षा-ग्रहण के अवसर पर दौवारिक जन समाज को शान्ति पूर्वक बैठने का आदेश देता है जिससे भगवान् की भिक्षा में विघ्न उत्पन्न न हो[3]। सेवकों का संस्कृत भाषा का प्रयोग भी समाज में उनकी अच्छी स्थिति का परिचायक है।

नारी की स्थिति

नाटक में जिस समाज का चित्रण किया गया है वह समाज प्रेम तथा भक्ति की दोला में दोलायित होकर अपनी पुरातन जाति-वर्ग आदि की श‍ृङ्खलाओं को विस्मृतप्रायः करने में लगा था परन्तु उस समाज का बहुत भयङ्कर अभिशाप था कि स्त्री की अवस्था उन्नत न होकर ह्रासोन्मुख थी। नारी-पात्रों का नाटक में अत्यल्प-संख्या में प्रयोग हुआ है तथापि जो सङ्केत उपलब्ध होते हैं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि उस समाज में नारी यदि केवल भोग की सामग्री ही नहीं थी तो पूजा की पात्र भी नहीं थी।

पत्नी पति की उन्नति के मार्ग में सहगामिनी नहीं हो सकती थी। अतः वैराग्य शिक्षा के लिए पति के द्वारा पत्नी का परित्याग अवश्यम्भावी था[4]। गृहस्थाश्रम को स्वीकार करके मध्य में ही पति के संन्यास-ग्रहण कर लेने पर समाज अवलम्बनहीना नारी के प्रति पति की दायित्वहीनता को कोई दोष नहीं देता था । इसके पीछे समाज की यही भावना थी

[1] वही, पृ० 195

[2] वही, पृ० 179-180

[3] वही, पृ० 95

[4] वैराग्यशिक्षां प्रकटीकरिष्यन्हास्यत्यथैनां स नवां नवीनः । वही, पृ० 9

कि नारी पुरुष के लिये क्रीड़ा बिडाल के समान थी[1] अर्थात् नारी तथा पुरुष जीवन-में एक दूसरे के पूरक नहीं माने जाते थे वरन् नारी का पुरुष को उन्मार्ग की ओर ले जाने वाली के रूप में तिरस्कार किया जाता था। विषयी लोगों तथा स्त्रियों का दर्शन मात्र विषभक्षण से अधिक हानिकर माना जाता था[2]। साधु पुरुष को नारी के आकार से भी बचने का उपदेश दिया जाता था क्योंकि वह सांप के समान होती है[3]। ये सभी तथ्य समाज में नारी के अनादर तथा हेयावस्था के परिचायक हैं।

तत्कालीन समाज में नारी के व्यक्तिगत अस्तित्व को मूल्य नहीं दिया जाता था। पति अथवा गृह-प्रधान पुरुष के परिचय से ही उनको परिचित करवाया जाता था[4]। पति के साहचर्य में वह धर्म कार्यों में भी भाग लेती थी किन्तु लोक-चक्षु के अन्तराल में रहकर ही वह कार्य सम्पन्न किया जाता था। महाप्रभु के अभिषेक के अवसर पर श्रीवास के घर की स्त्रियां पृष्ठभूमि से ही अपना सहयोग देती हैं[5]।

नारी समाज में पर्दा-प्रथा थी। पर-पुरुष-दर्शन का परिहार राजा की पत्नियों द्वारा भी किया जाता था तथा इस कार्य में उनके पतियों का निर्देश होता था[6]। परिवार में ज्येष्ठ भ्राता से कनिष्ठ-भ्राताओं की पत्नियां पर्दा करती थी तथा उनमें पारस्परिक वार्तालाप भी नहीं होता था। देवर का अपनी भ्रातृ-वधू से स्वाभाविक तथा स्वस्थ व्यवहार था। यही कारण है कि श्रीवास श्रीराम, श्रीपति तथा श्रीकान्त की पत्नियों को अभिषेक के कार्य के लिये स्वयं निर्देश न देकर श्रीकान्त के माध्यम से उनसे अपना वक्तव्य कहलाता है[7]।

समाज में पत्नी की अपेक्षा माता का अधिक सम्मानित तथा विशिष्ट पद होता था । पुत्र तथा पुत्र-स्थानीय परपुरुषों के सम्पर्क में आना उनके लिए अनुचित न था। सन्तान का चरित्र-गठन माता की चारित्रिक विशेषताओं से सम्पन्न होना माना जाता था। सन्तान के अच्छे-बुरे होने के पीछे माता की ही विशेषता मानी जाती थी[8]। सन्तान भी माता पर अपने कल्याण-अकल्याण का दायित्व समर्पित करके निश्चिन्त हो जाती थी[9]। यद्यपि घर

---

[1] वही, पृ० 10

[2] संदर्शनं विषयिणामथ योषितां च हा हन्त हन्त विषभक्षणतोऽप्यसाधु । वही, पृ० 145

[3] वही, पृ० 145

[4] वही, पृ० 70

[5] वही, पृ० 14

[6] वही, पृ० 191

[7] वही, पृ० 13

[8] वही, पृ० 85

[9] वही, पृ० 100

से बाहर सामाजिक क्षेत्र में नारी का कोई योगदान नहीं था तथापि धार्मिक कृत्यों में वे पति की सहचारिणी होती थीं। पति के धार्मिक अनुष्ठानों में सम्मिलित होने के लिये बाहर जाने पर उनकी पत्नियां भी साथ जाती थीं[1]। गौड़ से नीलाचल जाने वाले तीर्थयात्रियों का यद्यपि कहीं भी सपत्नीक जाने का उल्लेख नहीं है फिर भी उनके बच्चों के निर्देश से स्पष्ट होता है कि बच्चों की माताएं भी साथ आती थीं। वासुदेव, शिवानन्द सेन तथा रामानन्दवसु आदि भक्तजनों के अपत्यों के नीलाचलागमन का स्पष्ट उल्लेख है। शिवानन्द सेन के छोटे बेटे, जिसे महाप्रभु ने पहले नहीं देखा था, का उल्लेख इस तथ्य को और अधिक पुष्ट करता है कि वे तीर्थयात्री परिवार सहित भी आते थे[2]। विशेष अवसरों पर पत्नियां भी अपने पति के साथ विशेष धार्मिक अनुष्ठनादि देखने की अधिकारिणी होती थीं। यद्यपि शची माता का, उनके पति के मरणोपरान्त ही चित्रण किया गया है फिर भी तत्कालीन समाज में विधवा स्त्री की अवस्था पर कोई विशेष प्रकाश नहीं पड़ता है। सधवा स्त्री पति के सौभाग्य से ही सौभाग्यवती मानी जाती थी[3]।

नारी का विवाह के बाद भी अपने पितृ-गृह से अच्छा तथा मधुर सम्पर्क बना रहता था। शिवानन्द सेन के भागिनेय श्रीकान्त की अपने मातुलगृह में पर्याप्त प्रतिपत्ति थी। मामा के साथ उसके नीलाचल जाने तथा मामा से प्रायः उसके मिलने का उल्लेख है। इसी प्रकार श्यालक तथा भगिनीपति का चिराचरित हास-परिहास युक्त मधुर सम्पर्क तत्कालीन समाज में भी विराजित था। सार्वभौम भट्टाचार्य जैसे प्रकाण्ड-पण्डित तथा विशिष्ट व्यक्तित्व सम्पन्न व्यक्ति से स्वच्छन्दतापूर्वक बोलने का साहस उनके भगिनीपति गोपीनाथाचार्य इसी मधुर सम्पर्क के आधार पर ही कर सकते थे[4]। पिता, पितामह के परिचय के समान मातामह का नाम भी परिचिति के लिये सादर लिया जाता था[5]।

धार्मिक-अवस्था

चैतन्य की भक्ति धारा के प्रवाहित होने से पूर्व तक धार्मिक अवस्था अच्छी नहीं थी। धर्म के नाम पर केवल बाह्याडम्बर का आधिक्य था। शौच, सत्य, शम, दम, नियम, शान्ति, क्षान्ति, मैत्री तथा दया आदि सभी अभ्यन्तर गुण नष्ट प्रायः हो गये थे। शैव, बौद्ध आदि धार्मिक सम्प्रदाय भित्तिहीन आडम्बर का प्रासाद मात्र रह गए थे। इसके साथ ही कपिल, कणाद, पतञ्जलि तथा जैमिनि के मतों को आश्रय बनाकर विविध दार्शनिक शाखा वाले आपस में विवाद करते रहते थे। पाखण्ड का भाव सर्व व्यापक हो गया था।

[1] वही, पृ० 160

[2] वही, पृ० 184-185

[3] वही, पृ० 106

[4] वही, पृ० 112

[5] वही, पृ० 110

धर्म ध्येय नहीं जीविका का साधन मात्र बन गया था। यह स्थिति केवल पूर्व-भारत की ही नहीं थी वरन् दक्षिण में भी इसी प्रकार के पाखण्ड का साम्राज्य था। विभिन्न सम्प्रदाय परस्पर लड़ते रहते थे, जिससे शासक भी व्याकुलता का अनुभव करते थे[1]।

ऐसी विषम स्थिति में भी केवल वैष्णव जन ही वास्तव में धार्मिक थे। चैतन्य-मत के साथ-साथ भक्ति भावना का प्रचार-प्रसार होने लगा था। इससे जन-सामान्य भक्ति से विभोर हो उठा। घर-घर पर देवगृह बनने लगे तथा देवता की पूजा होने लगी। नाटक का तत्कालीन समाज धार्मिक उत्थान का काल था। उस समय धर्म बाह्य-आडम्बर रहित था तथा अनेक सामाजिक कुरीतियों का स्वतः ही खण्डन प्रारम्भ हो गया था। जाति-पाति की भेदक रेखा को समाप्त करना ही इस धर्म का लक्ष्य था। अन्ध परम्परा के बन्धनों को काटा जा रहा था[2]।

हिन्दू धर्म की सुदृढ़ श्रृंखला कुछ उदार होने लगी थी। ब्राह्मण-प्रधान समाज में जहाँ पहले यवन अस्पृश्य माने जाते थे तथा 'म्लेच्छ' जैसी अनुदार अभिधा से अभिहित किए जाते थे, वहीं अब वे मानसिक परिवर्तन के कारण धर्म-नेताओं के द्वारा समादृत होने लगे थे। मुसलमान दर्जी इसी प्रकार के चैतन्य अनुयायी थे जिनकी गणना उनके प्रमुख भक्तों में होती थी[3]। कर्मकाण्डों का स्थान केवल भक्ति ने ले लिया जिससे जाति, कुल, आश्रम, विद्या, शील आदि सभी उपेक्षणीय बन गए थे। सङ्कीर्तन प्रधान चैतन्य का मत ही सर्वव्याप्त था।

लोगों में देवालयों के प्रति प्रगाढ़ आस्था थी। लोग तीर्थों पर जाते थे। जगन्नाथपुरी का महत्त्व अत्यधिक था। गृहस्थ भी सपरिवार अनेक कष्टों को सहन करके विशेष उत्सवों यथा रथयात्रा आदि के अवसर पर वहाँ पहुँचा करते थे। हिन्दू शासक भी ऐसे धार्मिक कृत्यों में पूर्ण सहयोग करते थे[4]। मन्दिरों में तो त्रिकाल सन्ध्या-आरती आदि होती ही थी। सामान्य गृहस्थ भी अपने घर पर देवता की अर्चना तथा भोगादि की व्यवस्था करते थे।

हिन्दू संस्कारों का पूरा पालन होता था। माता-पिता की मृत्यु पर 'गया' जाकर पिण्ड देना प्रचलित था । समाज में संन्यासियों का समादर था। जनसमूह उन्हें विशेष रूप से पूजनीय मानते थे तथा उन्हें अपने आवास पर भिक्षा करवाना अपना सौभाग्य मानते थे। संन्यासियों के भी अलग-अलग सम्प्रदाय होते थे। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि चैतन्य-देव के धार्मिक-आन्दोलन से पूर्व देश की धार्मिक अवस्था जितनी अधिक

---

[1] वही, पृ० 133

[2] वही, पृ० 28

[3] वही, पृ० 31

[4] वही, पृ० 194

शोचनीय थी, इस आन्दोलन के पश्चात् उतनी अधिक आकर्षणीय बन गई थी।

आर्थिक अवस्था

नाटक में राजा के आय-साधन का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता है । केवल एक साधन का पता चलता है कि 'मार्ग-कर' के रूप में प्रति यात्री की दर से धन संग्रह किया जाता था[1]।

सामान्य जनता की आर्थिक अवस्था साधारण रूप से सन्तोषप्रद ही प्रतीत होती है। धनाभाव का कहीं भी उल्लेख नहीं हुआ है। गौड़ देशीय कतिपय पर्याप्त धनाढ्य व्यक्ति जैसे शिवानन्दसेन तथा अद्वैताचार्यादि का परिचय मिलता है परन्तु नाटककार ने उनकी आय के साधन की कोई सूचना नहीं दी है।

वर्ण-व्यवस्था तथा वर्ग-भेद के विषय में पहले ही सूचना दे दी गई है। उससे स्पष्ट है कि वर्ण-व्यवस्था के बन्धन शिथिल हो रहे थे। नाटक में लोगों के जीविकोपार्जन के लिये मात्र कुछ कार्यों का उल्लेख मिलता है। मुसलमान दर्जी के रूप में कार्य करने का उल्लेख अवधूत के पूर्ववर्ती जीवन में हुआ है जो श्रीवास के गृहप्राङ्गण में बैठकर कपड़े सीता था[2]। कुछ व्यक्ति गोपालन द्वारा जीविकार्जन करते थे। ब्राह्मणेतर व्यक्ति समृद्ध व्यक्तियों के परिचारक के रूप में कार्य करते थे। पुरी का जगन्नाथदेव का मन्दिर अनेक व्यक्तियों को जीविका देने का साधन बना हुआ था । पुरोहित, अङ्ग सेवक, स्वर्णवेत्रधारी, लेखनाधिकारी, महानसाधिकारी आदि वहाँ के पद थे। सम्भवतः मन्दिर से बाहर भी अन्य कुछ लोग इसी प्रकार के कार्यों द्वारा जीविका अर्जित करते हों। ब्राह्मण वर्ग अधिकतर अध्ययन-अध्यापन करता था।

इन जीविकोपार्जन के साधनों के अतिरिक्त दो और साधन दृष्टि को आकर्षित करते हैं। नाटक के भौगोलिक क्षेत्र अधिकतर जल-प्रधान गौड़ देश हैं। अतः स्थल मार्ग के अतिरिक्त स्थलों में एक स्थान से दूसरे स्थान पर अधिकतर जलमार्ग द्वारा ही आया जाया जाता था। अतएव स्वाभाविकरूपेण आवागमन के साधन के रूप में नौका का पर्याप्त मात्रा में प्रयोग होता था[3]। नाविकों की संख्या भी कम न थी। जलमार्ग से जाने वाले यात्रियों को पारापार करके ही वे अपनी उदर-पूर्ति करते थे अधिक संख्यक होने के कारण उनमें भी श्रेणी-भेद था। नाविकों के सन्दर्भ में यह बताना भी सम्भवतः अप्रासङ्गिक न होगा कि उस समय जल-मार्ग में जल-दस्यु का आतङ्क सर्वदा रहता था[4] ।

दूसरा आवागमन से सम्बद्ध जीविकोपाय था जङ्घाजीवियों का। उस समय यान-

---

[1] वही, पृ० 180

[2] वही, पृ० 30

[3] वही, पृ० 169

[4] वही, पृ० 169

वाहन की अनुन्नत अवस्था होने के कारण सन्देश लाने ले जाने के लिये कोई शीघ्रगामी साधन उपलब्ध न था। अतः सन्देश-वाहक के रूप में इन जङ्घजीवियों का उपयोग होता था। अपने पैरों को बासों में फंसाकर शीघ्रतापूर्वक आवागमन करने वाले समुदाय को इस नाम से पुकारा जाता था। सुदीर्घ वंश खण्डों में पैरों को फंसाने के कारण बांसों की लम्बाई के अनुरूप लम्बे पद-विक्षेपों के द्वारा अत्यल्प समय में ही वे दीर्घ मार्ग का अतिक्रमण कर लेते थे

राजनैतिक अवस्था

राजनैतिक उत्थान-पतन शान्ति-अशान्ति आदि का समाज पर बहुत ही स्पष्ट एवं उल्लेखनीय प्रभाव होता है। नाटक-कालीन भारत विभिन्न प्रान्तों में विभक्त था, परिणामस्वरूप एकछत्र साम्राज्य के स्थान पर देश कई छोटे-छोटे राज्यों में विभाजित था। गौड़देश यवनराज के अधीन था तो उत्कल में हिन्दू राजा गजपति प्रतापरुद्र का आधिपत्य था[1]। सुदूर दक्षिण में कर्णाटपति थे[2]। गौड़ एवं उत्कल के सम्बन्ध परस्पर अच्छे नहीं थे। उत्कल से गौड़ देश में आवागमन भी सरल नहीं था। गौड़ सीमा में प्रवेश करने के दोनों स्थल मार्ग सेना-सज्जित होने के कारण आवागमन के लिये सुगम न थे[3]। जलमार्ग भी विदेशी शासक के कारण भयोत्पादक ही था। यवन आक्रान्ता हुसैनशाह के कारण सामान्य जीवन का किसी-किसी क्षेत्र में अस्त व्यस्त होना भी स्वाभाविक था। सार्वभौम की सहायता के बिना अपरिचित बहिरागत चैतन्य आदि का अनायास देवमन्दिर में प्रवेश इसीलिये सम्भव न था[4]। उत्कल नरेश धार्मिक प्रवृत्ति के उदारचेता शासक थे। कर्णाटनरेश से उनका प्रीतिपूर्ण सम्पर्क था[5]।

राजा के कार्यभार में उनके सहायक अमात्य-वर्ग तथा अन्य अधिकारी होते थे। एक राजा अपने मित्र प्रान्त के राजा के पास उपहार सहित अपने अमात्य को भेजा करता था[6]। शासक की अनुपस्थिति में उसका कार्यभार अमात्य-वर्ग देखते थे। परिणामस्वरूप अनेक बार उनके अत्याचार तथा अनाचार से प्रजा पीड़ित भी हो जाती थी। साधारण जनता को आतङ्कित करके तथा औचित्य को भङ्ग करके ही वे व्यक्तिगत सम्पत्ति का संग्रह कर लिया करते थे[7]।

---

[1] वही, पृ० 124

[2] वही, पृ० 132

[3] वही, पृ० 168

[4] मजुमदार, चै०च०उ०, पृ० 344

[5] नाटक, पृ० 132

[6] वही, पृ० 132

[7] वही, पृ० 180

शासक के विजातीय होने के कारण गौड़देश में धर्म के क्षेत्र में उसका हस्तक्षेप भी होता था। विशेषकर किसी यवन के हिन्दू धर्म के प्रति आस्थावान् होने पर ऐसा अत्याचार अधिक होता था[1]। नगर के संरक्षण के लिये नगर की सीमा पर दृष्टि रखी जाती थी जिससे बाहर से आने वाले सशस्त्र अथवा निरस्त्र व्यक्तियों का बोध पहले से ही हो सके तथा उसके लिए उचित व्यवस्था भी की जा सके[2]। उत्कल नरेश को बाह्य-आक्रमण की आशङ्का, विशेषकर गौड़देश से, सर्वदा बनी रहती थी । उसके प्रतिरोध के लिये सेना भी प्रस्तुत होती थी।

यद्यपि तत्कालीन दण्ड विधान का स्पष्ट परिचय नाटक में नहीं मिलता है तथापि अत्याचारी अधिकारी शारीरिक पीड़न करने में पीछे न थे इसका अनेक बार सङ्केत मिलता है। शिवानन्दसेन से कर लेने के प्रसङ्ग में गजपति के अमात्य तथा अन्य अधिकारियों द्वारा उन्हें बन्दी बनाना इसी बात का सूचक है[3]।

अन्य विषय

सामाजिक अवस्था के आधार रूप इन परिगणित तत्त्वों के अतिरिक्त नाटक में कुछ अन्य प्रसङ्ग भी दृष्टिगोचर होते हैं। इनसे तत्कालीन सामाजिक अवस्था पर कुछ और प्रकाश डाला जा सकता है। इनमें से एक महत्त्वपूर्ण विषय है शिक्षा।

शिक्षा

इस सन्दर्भ में तत्कालीन प्रख्यात पण्डित सार्वभौम के प्रसङ्ग से ही कुछ तथ्य समक्ष आ सकते हैं। ज्ञात होता है कि उस समय शिष्य अपने गुरु के घर विद्यार्जन के लिये जाते थे। गुरु-गृह के बाह्य-भाग में ही उनकी चतुष्पाठी होती थी[4]। औपचारिक वातावरण न होने पर भी शिष्यों में शिष्टाचार का अभाव नहीं होता था। व्यर्थ का सङ्कोच भी न था। यही कारण है कि गुरु सार्वभौम के साथ गोपीनाथाचार्य की शास्त्रार्थ चर्चा होने पर शिष्य पूर्ण स्वाधीनता के साथ उसमें योगदान करते थे[5]। ऐसी विचारगोष्ठी में गुरु शिष्यों की जिज्ञासा को प्रोत्साहित करते थे[6]।

शिक्षा पूर्ण होने पर गुरु के आदेश पर शिष्य अध्यापन कार्य को ग्रहण कर लेता था।

---

[1] वही, पृ० 31

[2] वही, पृ० 136

[3] वही, पृ० 179-180

[4] वही, पृ० 109

[5] वही, पृ० 111

[6] वही, पृ० 112

अनिच्छा होने पर अस्वीकृति की भी पूरी स्वाधीनता शिष्य को होती थी[1]।

जनविश्वास

प्राचीन काल से चले आ रहे अनेक जन-विश्वास समाज में प्रचलित थे यथा शकुन, अपशकुन में अङ्गों का स्फुरण तथा स्वप्न, दुस्वप्न[2]। नरेङ्गित अथवा सहसोत्थित वाक्य को भी शुभ शकुन के रूप में लिया जाता था[3]। भूत, प्रेत, ग्रह आदि पर भी विश्वास था[4]।

रहन-सहन तथा खान-पान के सम्बन्ध में केवल कुछेक सङ्केत मिलते हैं जो महत्त्वपूर्ण नहीं हैं।

पूजा के आडम्बर पर बल न देकर हरिनामसङ्कीर्तन पर बल दिया जाता था, सामूहिक रूप से कीर्तन तथा उसके साथ नृत्य भी होता था[5]।

आवागमन के साधन रूप में सामान्यतया राजमार्गों का प्रचलन था[6]। सुरक्षा की दृष्टि से ये ही उत्तम थे। जलमार्ग में नौका पारापार का साधन थी[7]। जल-मार्ग प्रायः वर्जित किये जाते थे। शिष्टाचार का पर्याप्त ध्यान रखा जाता था। आगे बढ़कर स्वागत करने की परम्परा थी[8]।

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि 'चैतन्यचन्द्रोदय' में चित्रित समाज अपनी पुरानी कुरीतियों का परिहार एवं परिष्कार करके एक नूतन रूप धारण कर रहा था। इस परिवर्तन के मूल में स्वयं महाप्रभु चैतन्य थे। मूलतः समाज-सुधारक न होकर, धर्म-प्रचारक होने पर भी उनका भक्ति सिद्धान्त अनायास ही अनेक सामाजिक कुरीतियों को दूर करने वाला था।

---

[1] चैतन्यानन्द शिष्यः परमविरक्तो भगवद्भक्तोऽतिविद्वान्कश्चिद्दामोदरस्वरूपं नाम । य खलु गुरुणा बहुतरमभ्यर्थितोऽपि वेदान्तमधीत्याध्यापयेति न च तच्च कृतवान् । वही, पृ० 141

[2] वही, पृ० 107-108

[3] वही, पृ० 42

[4] वही, पृ० 73

[5] वही, पृ० 191-193

[6] वही, पृ० 103

[7] वही, पृ० 169

[8] वही, पृ० 103

नवम परिच्छेद

गौड़ीय वैष्णव साहित्य में चैतन्यचन्द्रोदय का स्थान

नवम परिच्छेद

गौड़ीय वैष्णव साहित्य में चैतन्यचन्द्रोदयं का स्थान

सम्पूर्ण गौड़ीय वैष्णव साहित्य को प्रथमतः दो भागों में विभाजित किया जा सकता है, साहित्यिक ग्रन्थ तथा सैद्धान्तिक ग्रन्थ। साहित्यिक ग्रन्थों में विषय वस्तु की दृष्टि से भिन्नता है अर्थात् कुछ ग्रन्थ श्रीकृष्ण तथा उनकी लीला को प्रतिपाद्य बनाकर लिखे गये हैं तथा अन्य ग्रन्थों की विषय-वस्तु श्रीचैतन्य एवं उनकी लीला है। 'चैतन्यचन्द्रोदय' पूर्णतः श्रीचैतन्य का लीला विषयक नाटक है।

कर्णपूर की रचनाओं के अतिरिक्त श्रीचैतन्य के जीवन-चरित पर आधारित काव्यों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि मुरारिगुप्त रचित 'श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृत' अथवा 'कड़चा' के अतिरिक्त सम्पूर्ण चैतन्य-जीवन से सम्बन्धित पूर्ण काव्य गोविन्दकवि विरचित 'गौरकृष्णोदय' तथा रघुनन्दनदास गोस्वामी की 'गौराङ्गविरुदावली' ही उपलब्ध कृतियां हैं। इनमें से मुरारि गुप्त की 'कड़चा' ही इस क्षेत्र में प्रथम उपलब्ध कृति होने के कारण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है परन्तु मुरारि ने अधिकतर चैतन्य की नवद्वीप लीला पर अपना ध्यान केन्द्रित रखा है। श्रीचैतन्य की दक्षिण-यात्रा का वर्णन उन्होंने पूर्णरूप से उपेक्षित ही रहने दिया है। इसके अतिरिक्त श्रीचैतन्य के उत्तरवर्ती जीवन की अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाओं की भी अवहेलना की गई है । परिणामतः 'कड़चा' भी इस दृष्टि से एकाङ्गी जीवन-चरित रह गया है। 'गौराङ्गविरुदावली' में कथ्य विषय की अपेक्षा कथनीय शैली अधिक महत्त्वपूर्ण बन गई है। अतः विशेष सम्प्रदाय के काव्य की दृष्टि से वह कम गौरवपूर्ण कृति है। 'गौरकृष्णोदय' महाकाव्य कृष्णदास कविराज की रचना के आधार पर लिखित होने के कारण मौलिकता के अभाव में उसका महत्त्व भी अल्प है। कविकर्णपूर की अपनी प्रथम कृति 'चैतन्यचरितामृत' महाकाव्य प्रौढ़ावस्था की रचना 'चैतन्यचन्द्रोदय' के समक्ष स्वतः म्लान है। मुरारि का अत्यधिक मात्रा में अनुसरण करने के कारण जहाँ इस काव्य की मौलिकता को आघात पहुँचा है वहीं इस काव्य में भी चैतन्य के उत्तरवर्ती जीवन की अनेक घटनायें उपेक्षित ही रह गई हैं। अतः कर्णपूर रचित होने पर भी यह 'चैतन्यचरितामृत' महाकाव्य 'चैतन्यचन्द्रोदय' का समकक्ष नहीं हो सकता है । इस विवेचन से स्पष्ट है कि 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक गौड़ीय वैष्णव साहित्य के चैतन्य सम्बन्धित

संस्कृत ग्रन्थों में सर्वोत्तम स्थान का अधिकारी है।

गौड़ीय वैष्णव साहित्य में द्वितीय प्रकार के सैद्धान्तिक ग्रन्थों में वृन्दावन के तीन गोस्वामियों श्रीसनातन, श्रीरूप तथा श्रीजीव के ग्रन्थ उल्लेखनीय हैं। उन ग्रन्थों में से भी श्रीरूप का 'भक्तिरसामृतसिन्धु' तथा श्रीजीव का 'षट्सन्दर्भ' वैष्णव-धर्म एवं दर्शन के आधारभूत ग्रन्थ माने जाते हैं जिनमें अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्तों को विवेचित किया गया है। कविकर्णपूर ने इस प्रकार के सैद्धान्तिक ग्रन्थ के रूप में 'चैतन्यचन्द्रोदय' की रचना न करके, उसे एक साहित्यिक विधा 'नाटक' के रूप में उपस्थित किया है किन्तु कर्णपूर की निपुणता इसी में है कि उन्होंने नाटक के आवरण में वैष्णव-दर्शन को जनसामान्य के लिए बोधगम्य बना दिया है। चैतन्य की लीला के वर्णन के माध्यम से गौड़ीय मान्यता, 'चैतन्य-श्रीकृष्ण के ऐक्य' की शोभन रूप से स्थापना की गई है। श्रीजीव ने जहाँ कृष्ण को ही ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान् के रूप में विवेचित किया था, वहीं प्रस्तुत नाटक में चैतन्य अथवा कृष्ण को परमतत्त्व के रूप में विवेचित किया गया है। इसी के साथ नवद्वीप में प्रवर्तित गौर-पारम्यवाद के अनुरूप चैतन्य को ही उपास्य रूप में स्वीकार किया गया है।

गौड़ीय-दर्शन का प्रमुख आधार भक्ति, उसमें भी वैधी की अपेक्षा विशिष्ट रागानुगा भक्ति की महिमा नाटक में प्रतिपादित की गई है। उसके साथ ही भक्ति के प्रधान साधन नामसङ्कीर्तन का महत्त्व भी स्थापित किया गया है । अन्य आवश्यक दार्शनिक विषयों का भी विवेचन किया गया है। भक्ति के साथ भक्तिरस तथा चरम प्रेमभक्ति का भी स्थल विशेष पर उल्लेख हुआ है। कहना न होगा कि शुद्ध सैद्धान्तिक ग्रन्थ न होने पर भी अपने सम्प्रदाय के मूल-भूत सिद्धान्तों को 'चैतन्यचन्द्रोदय' में सङ्कलित कर दिया गया है। परिणामस्वरूप शुद्ध साहित्यिक कृतियों के साथ सैद्धान्तिक ग्रन्थ के रूप में भी गौड़ीय वैष्णव साहित्य में 'चैतन्यचन्द्रोदय' का विशिष्ट स्थान है।

संस्कृत में रचित गौड़ीय-वैष्णव साहित्य के साथ बंगला में रचित इस सम्प्रदाय के साहित्य में भी कर्णपूर के 'चैतन्यचन्द्रोदय' का स्थान निर्धारित करना वाञ्छनीय है।

बंगला में रचित चैतन्य-चरितकाव्यों में कालक्रम की दृष्टि से प्रथम उल्लेखनीय ग्रन्थ वृन्दावनदास का 'चैतन्यभागवत' है। बङ्गीय वैष्णव समाज में सर्वाधिक समादृत ग्रन्थ यही 'चैतन्यभागवत' है। पाण्डित्य के प्रभाव से मुक्त, सिद्धान्तों की बोझिलता से रहित, सहज सरल भाषा में वर्णित चैतन्य-लीला-परक इस ग्रन्थ की लोकप्रियता अक्षुण्ण है। वस्तुतः गौडीय वैष्णव धर्म के प्रचार-प्रसार के लिये तथा चैतन्य की भगवत्ता को जनसामान्य के लिये विश्वसनीय बनाने में सबसे महत्त्वपूर्ण साधन 'चैतन्यभागवत' है। इस दृष्टि से 'चैतन्यभागवत' की महिमा अत्यधिक है।

'चैतन्यचन्द्रोदय' के साथ 'चैतन्यभागवत' की तुलना करने पर निस्सन्देह 'चैतन्यभागवत' अधिक लोकप्रिय तथा जनसामान्य में समादृत ज्ञात होता है परन्तु चैतन्य-जीवन की ऐतिहासिकता तथा गौड़ीय-सिद्धान्तों की प्रतिष्ठा की दृष्टि से 'चैतन्यचन्द्रोदय' का स्थान कहीं अधिक महत्त्वपूर्ण है। 'चैतन्यभागवत'-रचयिता वृन्दावनदास व्यक्तिगत जीवन में नित्यानन्द के शिष्य थे। वृन्दावनदास ने चैतन्यदेव का सम्भवतः साक्षात्कार भी नहीं किया था। उन्होंने नित्यानन्द प्रभु से जिस प्रकार चैतन्य-लीला का श्रवण किया, उसी आधार पर अपने ग्रन्थ की रचना की। नित्यानन्द का चैतन्य के साथ मिलन चैतन्य के 'गया' से प्रत्यागमन के पश्चात् हुआ था, जो साहचर्य केवल चैतन्य की दक्षिण-यात्रा, वृन्दावन गमन तथा वाराणसी भ्रमण आदि इन कतिपय अवसरों के अतिरिक्त प्रायः चैतन्य-लीला के अन्त तक बना रहा। नित्यानन्द के उक्त अवसरों की लीला का प्रत्यक्ष दर्शन न करने के कारण वृन्दावनदास को भी इनके सम्बन्ध में विवरण प्राप्त न हो सका। परिणाम स्वरूप 'चैतन्यभागवत' में इन वर्णनों का प्रायः परिहार किया गया है। इसके विपरीत कर्णपूर ने शैशव में चैतन्य-लीला को देखा था पर उससे भी महत्त्वपूर्ण विषय था चैतन्य के निकट परिकर अपने पिता शिवानन्द सेन को चैतन्यलीला के स्रोत के रूप में प्राप्त करना। परिणामतः उन्होंने चैतन्य-जीवन की अनेक ऐसी घटनाओं को 'चैतन्यचन्द्रोदय' के माध्यम से उपस्थित किया है, जिनको उनके किसी पूर्ववर्ती चरितकार ने वर्णित नहीं किया था। इन घटनाओं की ऐतिहासिकता भी प्रमाणित है[1]। इस दृष्टि से 'चैतन्यचन्द्रोदय' की उपादेयता स्वतः सिद्ध है। इसके साथ ही 'चैतन्यभागवत' में चैतन्य की भगवत्ता की स्थापना अतिशयोक्ति-पूर्ण रूप से करने पर भी दार्शनिक विवेचन का अभाव है। इस दृष्टि से भी 'चैतन्यचन्द्रोदय' महत्त्वपूर्ण है।

'चैतन्यभागवत' के अनन्तर बंगला चरितकाव्यों में उल्लेखनीय ग्रन्थ कृष्णदास कविराज विरचित 'चैतन्यचरितामृत' है। 'चैतन्यचरितामृत' वह अतिद्वयी ग्रन्थ है जिसमें काव्यात्मकता के साथ-साथ दार्शनिक-चिन्तन का गाम्भीर्य भी सन्निवेशित हुआ है। कृष्णदास ने चैतन्य-लीला का सर्वाङ्गीण चित्रण किया है तथा उसके साथ ही गौड़ीय-सिद्धान्तों का दार्शनिक विश्लेषण भी उपस्थित किया है। इस दृष्टि से इसे वस्तुत; कर्णपूर के 'चैतन्यचन्द्रोदय' का समकक्ष अथवा काव्यात्मकता की दृष्टि से उससे शोभनतर ग्रन्थ कहा जा सकता है। कविकर्णपूर की रचना नाटक होने के कारण दार्शनिक सिद्धान्तों के विश्लेषण तथा नायक की भगवत्ता की रक्षा में उसकी नाटकीयता का अनेकधा हनन हो गया है। अतः सैद्धान्तिक रूप से सफल होने पर भी अनभिनेयता के समावेश से नाटक के रूप में 'चैतन्यचन्द्रोदय' को पूर्ण सफल कृति नहीं कहा जा सकता है। इसके विपरीत चरितकाव्य

[1] द्र० प्रस्तुत पुस्तक का तृतीय परिच्छेद

होने के कारण 'चैतन्य-चरितामृत' का दार्शनिक विश्लेषण काव्यात्मकता के मार्ग में कभी बाधक नहीं बना है। अतः दोनों ग्रन्थों की तुलना में कविराज का 'चैतन्यचरितामृत' ही सफल रचना कही जा सकती है। इस तुलना के सन्दर्भ में यह नहीं भूला जा सकता है कि कृष्णदास कविराज अपनी काव्य-रचना में कर्णपूर के अत्यधिक ऋणी हैं। नाटक में वर्णित प्रायः सभी घटनाओं का समावेश 'चैतन्यचरितामृत' में हुआ है[1]। इन घटनाओं का उल्लेख नाटक से पहले किसी चरितकाव्य में नहीं हुआ। न केवल घटनायें वरन् 'चैतन्यचन्द्रोदय' में प्रतिपादित अनेक दार्शनिक सिद्धान्तों का भी यथायथ चयन 'चैतन्यचरितामृत' में किया गया है, यथा चैतन्य-रामानन्द संवाद। संक्षेपतः कृष्णदास कविराज पर कर्णपूर के 'चैतन्यचन्द्रोदय' का सर्वाङ्गीण प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है । सर्वतोमुखी प्रतिभासम्पन्न कृष्णदास कविराज के 'चैतन्यचन्द्रोदय' से इस प्रकार प्रभावित होने से ही प्रस्तुत नाटक का महत्त्व स्पष्ट होता है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि गौड़ीय वैष्णव साहित्य में कविकर्णपूर के 'चैतन्यचन्द्रोदय' का सुनिश्चित प्रतिष्ठित स्थान है। संस्कृत भाषा में निबद्ध होने के कारण, दार्शनिक सिद्धान्तों के विवेचन से स्थल विशेष पर क्लिष्ट हो जाने के कारण तथा सर्वोपरि अपनी प्रतिद्वन्द्विता में कृष्णदास विरचित बंग भाषा में रचित 'चैतन्यचरितामृत' की उपस्थिति में 'चैतन्यचन्द्रोदय' को पर्याप्त लोकप्रियता नहीं मिल सकी तथापि 'चैतन्यचन्द्रोदय' की रचना के डेढ़ सौ वर्ष अनन्तर 'प्रेमदास' नामक कवि के द्वारा 'चैतन्यचन्द्रोदयकौमुदी'[2] नाम से 'चैतन्यचन्द्रोदय' नाटक का बङ्गभाषा में पद्यानुवाद किया जाना इसी तथ्य को स्पष्ट करता है कि अपने से अधिक लोकप्रिय रचनाओं की उपस्थिति में भी यह नाटक कदापि उपेक्षणीय अथवा विस्मृत नहीं हुआ है। अनुवादकर्ता ने स्वयं सूचित किया है कि साधु-जनों की आज्ञा से ही उसने इस नाटक का भाषा (अर्थात् रचना-स्थल-बंगाल की जन भाषा बंगला) में अनुवाद किया है[3]। 1572 ई० में रचित 'चैतन्यचन्द्रोदय' का 1733 ई०[4] में किया गया यह पद्यानुवाद नाटक की महत्ता तथा गौड़ीय वैष्णव समाज एवं साहित्य में

[1] वही,

[2] प्रेमदास, चैतन्यचन्द्रोदय कौमुदी, पृ० 142 M.s No. 5444, A Descriptive Catalogue of the Vernacular Mss. of Royal Asiatic Society of Bengal, 1941, इस पद्यानुवाद का एक संस्करण, श्रीजाह्नवीमाता अनुगत श्रीरामचन्द्र-शिष्य श्री प्रेमदासरचित, 'श्रीचैतन्यचन्द्रोदयश्' नाटक नाम से प्रकाशित भी हुआ है ।

[3] शिवानन्दसेन पुत्र कविकर्णपूर । गौरमिलाये वर्णिला नाटक मधुर ।।
तार पद सुसम्पद आनन्दे बन्दिया । रचिल नाटक भाषा साधु आज्ञा पाञा ।।
प्रेमदास, चैतन्यचन्द्रोदयकौमुदी, वही

[4] वेदनेत्ररसक्षोणी सिते शाके मुदान्वितः लिलेख प्रेमदासः श्रीकौमुदीं चन्द्रोदयस्य वै । वही

उसके उच्च स्थान की ही घोषणा करता है।

संस्कृत नाट्य साहित्य में चैतन्यचन्द्रोदय का स्थान

नाटकीय तत्त्वों के आधार पर 'चैतन्यचन्द्रोदय' की समीक्षा से स्पष्ट हो गया है कि नाटकीय मापदण्ड पर 'चैतन्यचन्द्रोदय' पूर्ण सफल नाटक सिद्ध नहीं होता है। संस्कृत के सफल नाटककारों ने जहाँ वस्तु की सफल योजना, पात्रों के उदात्त चित्रण तथा रस की सफल अभिव्यक्ति के माध्यम से अभिनेय सफल नाटकों की सृष्टि करके संस्कृत साहित्य को समृद्ध किया है वहीं कविकर्णपूर का 'चैतन्यचन्द्रोदय' एक चरित-कथा तथा कुछ अंशों में सैद्धान्तिक ग्रन्थ मात्र रह गया है। सम्प्रदाय विशेष की रचना के रूप में सफल होने पर भी नाटकीयता की दृष्टि से असफल होने का कारण 'चैतन्यचन्द्रोदय' रचयिता का नाट्यशास्त्रीय ज्ञान का अभाव कदापि नहीं है। 'अलङ्कारकौस्तुभ' के समान उपादेय अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ का रचयिता नाट्यशास्त्र के सामान्य नियमों से अपरिचित था और इसीलिए 'चैतन्यचन्द्रोदय' सफल नाटक नहीं बन सक ऐसा मानना अनुचित है। वास्तविक स्थिति यह है कि कर्णपूर के लिये नाटक के नियम उपेक्षणीय अतः गौण हो गये। उनका प्रधान लक्ष्य था-वैष्णव धर्म एवं दर्शन को नाटक के माध्यम से लोकप्रिय बनाना। अतएव वे नायक की भगवत्ता तथा अलौकिकता की स्थापना में ही प्रयत्नशील रहे । परिणामस्वरूप सम्प्रदाय विशेष में समादृत होने पर भी 'चैतन्यचन्द्रोदय' संस्कृत नाट्य साहित्य में किसी उल्लेखनीय स्थान का अधिकारी न बन सका।

परिशिष्ट

सूक्ति – समावेश

चैतन्यचन्द्रोदय– विविध संस्करण

पुस्तक में प्रयुक्त ग्रन्थ– सूची

परिशिष्ट

सूक्ति समावेश		नाटक पृ०
1.	आनन्दमयो हि जीवानानन्दयितुमर्हति ।	8
2.	केन कोपो विजेयः ।	11
3.	स्वप्रकर्षजननीं बिना चमूं केवलो जयति किं चमूपतिः ।	14
4.	जेतुं शक्यो भवति नितरां हन्त केनापि लोभः ।	14
5.	महेशशीर्षादपि भूमिमध्यं गतैव गङ्गा मुदमातनोति ।	30
6.	न जातिशीलाश्रमधर्मविद्याकुलाद्यपेक्षी हि हरेः प्रसादः ।	31
7.	आनन्द एव भगवतो रूपम् ।	31
8.	उदयात्पूर्वमर्कस्य विनिहन्ति तमोऽरुणः ।	40
9.	स्वभावोऽपि भाव नापह्नोतुं शक्यते ।	41
10.	शास्त्रीयः खलु मार्गः पृथगनुरागस्य मार्गोऽन्यः	49
11.	किमपरं सम्भाव्यमक्ष्णोः फलम् ।	52
12.	अपराध एव दण्डः ।	60
13.	अलौकिके वस्तुनि को विरोधः ।	68
14.	अलौकिकत्वस्य स कोऽपि हेतुः ।	68
15.	अग्न्यातपाभ्यां जनितो जलानां नैवोष्णभावश्चिरकालवर्ती ।	69
16.	कोऽपराधो जनन्याः पुत्रेषु ।	71
17.	लोकोत्तरचरितानां तुल्ये काठिन्यकारुण्ये	85
18.	निघ्नानन्दो भवति भगवान् जीवआनन्दनिघ्नः ।	88
19.	दिष्टे हीष्टे भवति सहसा हन्त वामोऽप्यवामः ।	91
20.	ह्यनाहार्यवस्तु प्रकृतिविकृतिभ्यां समरसम् ।	94
21.	विना सर्वत्यागं भवति भजनं न ह्यसुपतेः ।	96

22.	तर्हि फलितं सुकृतद्रुमेण ।	109
23.	ज्ञातुं शक्नोत्यहह न पुमान्दर्शनात्स्पर्शरत्नम् ।	120
24.	हन्त वामो विधिर्नः ।	120
25.	प्रकृतिमहतां तुल्यौ स्यातामनुग्रहनिग्रहौ ।	124
26.	भगवत्प्रभावो हि स्वतः प्रकाशी ।	125
27.	मनो यदि न निर्जितं किममुना तपस्यादिना	128
28.	लक्ष्मी प्रकृत्यैव जनैः समीयते ।	132
29.	पुण्यात्मनो हि नरदेवा देवांशभूता एव ।	136
30.	न जाने कीदृशं जनयति फलं भाग्यविटपी ।	139
31.	कस्यापि रत्नाकरमन्तरेण कुत्रापि नास्था न च सन्निवेशः ।	140
32.	यथाहेर्मनसः क्षोभस्तथा तस्याकृतेरपि ।	145
33.	पूर्णाऽपि रजनीनाथो रिक्त एवांशुभिर्विना ।	156
34.	साहस क्व च गुणाय कल्पते क्वापि दूषणतया च सिद्ध्यति ।	159
35.	ईश्वरोऽसौ स्वतन्त्रः ।	169
36.	यावन्मनोजयो न भवति तावदेव भगवती मत्सरलता न किञ्चिदपि मुञ्चति।	175
37.	सर्वेषां हि प्रकृतिमधुरो हन्त तुल्येन योगः ।	184
38.	बन्धूनां गुणदोषयोरपि गुणे दृष्टिर्न दोषग्रहः ।	186
39.	तत्कृपादेव्यैव शरणम् ।	198
40.	प्रणयिनीनां प्रकृतिरेवेयं यत्स्वायोग्यतां नेक्षन्ते ।	203
41.	या यादृशी तस्याः खलु तथाविधं वैदग्ध्यम् ।	204
42.	योग्या एव हि भोग्यतां दधति ।	204
43.	ऐश्वर्यं हि मदहेतुः ।	205
44.	भृत्यापराधे स्वामिनो दण्डः ।	205

चैतन्यचन्द्रोदय विभिन्न संस्करण

1. आर०एल० मित्र सम्पादित बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता, सन् 1854
2. जीवानन्द विद्यासागर-सम्पादित एवं प्रकाशित, कलकत्ता, सन् 1885
3. काव्यमाला, 87, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् 1917
4. रामनारायण विद्यारत्न-अनूदित, रामदेव मिश्र द्वारा प्रकाशित, राधारमण प्रेस, मुर्शिदाबाद, बहरमपुर, 1330 बङ्गाब्द
5. पुरीदास महाशय सम्पादित, हरिदास शर्मा प्रकाशित वृन्दावन, 1954
6. श्रीमणीन्द्रनाथ गुह तथा श्रीसावित्री गुह द्वारा बङ्गानुवाद सहित प्रकाशित, पानिहाटी, 24 परगना, 1378 बङ्गाब्द।
7. आचार्य रामचन्द्र मिश्र कृत हिन्दी व्याख्या सहित, हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला, 267, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1966

पुस्तक में प्रयुक्त ग्रन्थों की सूची
मूल संस्कृत ग्रन्थ

ग्रन्थकार	ग्रन्थ	सम्पादन व प्रकाशन
अभिनवगुप्त	अभिनवभारती	डॉ. नगेन्द्र, सम्पादित, हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, सन् 1960
कविकर्णपूर टीकाकार विश्वनाथ चक्रवर्ती	अलङ्कारकौस्तुभ सुबोधिनी टीका सहित	पुरीदास सम्पादित, हरिदास शर्मा प्रकाशित, वृन्दावन सन् 1955
कविकर्णपूर	आनन्दवृन्दावनचम्पू	वनमालिदास शास्त्री सम्पादित एवं प्रकाशित, श्रीकृष्णानन्द स्वर्गाश्रम, वृन्दावन, सन् 1974
वही	वही	रामनारायण विद्यारत्नानुवादित, राधारमण प्रेस, मुर्शिदाबाद, बहरमपुर, 404 चैतन्याब्द
कविकर्णपूर	आनन्दवृन्दावनचम्पू सुखवर्त्तनी टीका सहित	पुरीदास महाशय सम्पादित, हरिदास शर्मा प्रकाशित, वृन्दावन, सन् 1954
कविकर्णपूर	आर्याशतकम्	हरिदास दास प्रकाशित, हरिबोल कुटीर, नवद्वीप, 461 गौराब्द
कविकर्णपूर	कृष्णाह्निककौमुदी	हरिदास दास सम्पादित हरिबोल कुटीर, नवद्वीप, 1940
कविकर्णपूर	गौरगणोद्देशदीपिका	रामदेव मिश्र प्रकाशित राधारमण प्रेस, मुर्शिदाबाद, बहरमपुर, 1329 बंगाब्द
वही	वही	'ग्रन्थरत्नपञ्चकम्' में सङ्कलित, सङ्कलनकर्ता कृष्णदास बाबा, कुसुमसरोवर, मथुरा, संवत् 2011
कविकर्णपूर	चैतन्यचन्द्रोदय	आर०एल० मित्र सम्पादित,

कविकर्णपूर	चैतन्यचन्द्रोदय	आर०एल० मित्र सम्पादित, बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता सन् 1854
वही	वही	जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित, कलकत्ता, सन् 1885
वही	वही	पं० केदारनाथ एवं वासुदेव शर्मा शास्त्री पणशीकर द्वारा सम्पादित काव्यमाला, 87, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, सन् 1917
कविकर्णपूर	पारिजातहरण महाकाव्य	प्रो० अनन्तलाल ठकुर सम्पादित, मिथिला इन्स्टीट्यूट, दरभङ्गा, सन् 1956
कविकर्णपूर	श्रीकृष्णचैतन्यचरितामृत महाकाव्य	रामनारायण विद्यारत्न अनूदित राधारमण प्रेस, मुर्शिदाबाद, बरहमपुर, 1291 बङ्गाब्द
वही	वही	श्री प्राणकिशोर गोस्वामी सम्पादित एवं प्रकाशित श्रीगौराङ्ग मन्दिर, 1377, बङ्गाब्द
वही	वही	श्रीरूप की हस्तलिखित प्रति,ACC. No. 7686, वृन्दावन शोध संस्थान, वृन्दावन
कृष्णमिश्र	प्रबोधचन्द्रोदय	वासुदेव शर्मा द्वारा संशोधित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, सन् 1935
गोविन्दकवि	गौरकृष्णोदय	विमलाप्रसाद सिद्धान्त सरस्वती सम्पादित तथा प्रकाशित, कलकत्ता, 427 गौराब्द
श्रीजीवगोस्वामी	तत्त्वसन्दर्भ	अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय-काशी, संवत् 2014

श्रीजीवगोस्वामी	परमात्मासन्दर्भ	डॉ० चिण्मयी चट्टोपाध्याय सम्पादित, यादवपुर यूनिवर्सिटी, कलकत्ता, सन् 1972
श्रीजीवगोस्वामी	भक्तिसन्दर्भ	श्रीकृष्णगोपाल गोस्वामी सम्पादित, कलकत्ता विश्वविद्यालय, कलकत्ता, सन् 1962
श्रीजीवगोस्वामी	भगवत्सन्दर्भ	डॉ० चिण्मयी चट्टोपाध्याय सम्पादित, यादवपुर यूनिवर्सिटी, कलकत्ता, सन् 1972
दिङ्नाग	कुन्दमाला	के०के० दत्त शास्त्री सम्पादित, संस्कृत कॉलिज, कलकत्ता, सन् 1964
धनञ्जय (धनिककृत अवलोक सहित)	दशरूपक	श्रीरामनारायण आचार्य-संशोधित, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, सन् 1941
नागेशभट्ट्	परिभाषेन्दुशेखर	जीवानन्द विद्यासागर-प्रकाशित, कलकत्ता, सन् 1892
पण्डितराज जगन्नाथ	रसगङ्गाधर	मधुसूदन शास्त्री सम्पादित, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, वाराणसी, संवत् 2020
प्रबोधानन्द सरस्वती	चैतन्यचन्द्रामृतम्	कृष्णदास बाबा प्रकाशित, कुसुमसरोवर, मथुरा, संवत 2008
भरत	नाट्यशास्त्र-खण्ड-1	मनमोहन घोष सम्पादित, मनीषा ग्रन्थालय, कलकत्ता, सन् 1967
भोजराज	सरस्वतीकण्ठभरण	आनन्दोराम बरुआ सम्पादित पब्लिकेशन बोर्ड, आसाम, गोहाटी सन् 1969
श्रीमधुसूदन सरस्वती	भगवद्भक्ति-रसायनम्	जनार्दनशास्त्री पाण्डेय अनूदित, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, संवत् 2018

मम्मटाचार्य	काव्यप्रकाश	आचार्य विश्वेश्वर सम्पादित, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी सन् 1960
वही टीकाकार वी.आर. झलकीकर	काव्यप्रकाश बालबोधिनी टीका सहित	भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, सन् 1950
मुरारिगुप्त	श्रीकृष्ण चैतन्यचरितामृत (कड़चा)	मृणालकान्ति घोष प्रकाशित तृतीय संस्करण, 545 गौराब्द
रघुनन्दनदास गोस्वामी	गौराङ्गविरुदावली	हरिदास प्रकाशित, 456 गौराब्द
श्रीरघुनाथ गोस्वामी	स्तवावली	रामदेवमिश्र प्रकाशित, राधारमण प्रेस, मुर्शिदाबाद, बहरमपुर, 1339 साल
श्रीरूपगोस्वामी	उज्ज्वलनीलमणि	कृष्णदास बाबा प्रकाशित कुसुमसरोवर, राधाकुण्ड मथुरा, संवत 2022
श्रीरूपगोस्वामी	नाटकचन्द्रिका	बाबूलाल शुक्ल सम्पादित, चौखम्बा संस्कृत सीरिज़, वाराणसी, सन् 1964
श्रीरूपगोस्वामी	पद्यावली	एस०के०दे० सम्पादित, ढाका विश्वविद्यालय, ढाका, सन् 1934
श्रीरूपगोस्वामी	भक्तिरसामृतसिन्धु	डॉ० नगेन्द्र सम्पादित, हिन्दी विभाग, दिल्ली, विश्वविद्यालय, दिल्ली, सन् 1963
श्रीरूपगोस्वामी	स्तवमाला (श्रीजीवगोस्वामी कृत भाष्यसहित)	निर्णयसागर प्रेस, मुम्बई सन् 1903
विश्वनाथ	साहित्यदर्पण	शालग्रामशास्त्री सम्पादित, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली सन् 1973

विश्वनाथ चक्रवर्ती	भक्तिरसामृतसिन्धुबिन्दु	श्यामदास सम्पादित, हरिनाम सङ्कीर्तन मण्डल, वृन्दावन, सन् 1974
श्रीशिङ्गभूपाल	रसार्णवसुधाकर	डॉ. रेवाप्रसाद द्विवेदी सम्पादित, संस्कृत परिषद्, सागर विश्व-विद्यालय, सागर, सन् 1969
सागरनन्दी	नाटकलक्षणरत्नकोश	बाबूलाल शुक्ल सम्पादित, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी सन् 1972
	तैत्तिरीयसंहिता	स्वाध्याय मण्डल द्वारा प्रकाशित भारत मुद्रणालय, सूरत, सन् 1957
	तैत्तिरीयोपनिषद् (उपनिषत् संग्रह के अन्तर्गत)	पं० जगदीश शास्त्री सम्पादित मोतीलाल बनारसीदास सन् 1970
	पैङ्गलोपनिषत् (उपनिषत्संग्रह के अन्तर्गत)	पं० जगदीश शास्त्री द्वारा सम्पादित, मोतीलाल बनारसी दास, सन् 1970
	ब्रह्मसूत्रम्	हनुमानदास षट्शास्त्री सम्पादित, विद्याभवन, वाराणसी
	रामपूर्वतापिन्युपनिषत् (उपनिषत्संग्रह के अन्तर्गत)	पं० जगदीश शास्त्री सम्पादित, मोतीलाल बनारसीदास, सन् 1970
	भागवतमहापुराण	श्रीरामतेज पाण्डेय की टीका सहित पण्डित पुस्तकालय, राजा दरवाजा, काशी, सन् 1952
	महाभारतम् (द्वितीय भाग)	गीता प्रेस, गोरखपुर
	नारदपुराण-खण्ड-2	श्रीराम शर्मा-सम्पादित, संस्कृति संस्थान, बरेली

	पद्मपुराण	आनन्द आश्रम प्रेस, पूना, सन् 1935
	भगवद्गीता	डॉ० राधाकृष्णन की व्याख्या सहित राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली सन् 1972
	विष्णुसहस्रनाम	चिण्मयानन्द पब्लिकेशन ट्रस्ट, मद्रास-3, 1969

मूल बंगला ग्रन्थ

ईशान नागर	अद्वैत प्रकाश	मृणालकान्ति घोष प्रकाशित बागबाजार, कलकत्ता
कृष्णदास कविराज	चैतन्यचरितामृत	सुकुमार सेन सम्पादित, साहित्य अकादेमी, नई दिल्ली, सन् 1963
श्रीनरहरि चक्रवर्ती	भक्तिरत्नाकर	श्रीमत्सुन्दरानन्द विद्याविनोद द्वारा प्रकाशित
नित्यानन्ददास	प्रेमविलास	रासबिहारी सांख्यतीर्थ संशोधित, रामदेव मिश्र प्रकाशित, राधारमण प्रेस, मुर्शिदाबाद, बहरमपुर, 425 चैतन्याब्द
प्रेमदास कृत बङ्गानुवाद	चैतन्यचन्द्रोदय	प्रकाशन अज्ञात
वृन्दावनदास ठकुर	चैतन्यभागवत	मृणालकान्ति घोष प्रकाशित पत्रिका हाऊस, बाग बाजार, कलकत्ता, बङ्गाब्द 1356
	गौरपदतरङ्गिणी	मृणालकान्ति घोष, प्रकाशित, द्वितीय संस्करण, बङ्गाब्द 1341

मूल हिन्दी ग्रन्थ

श्रीनाभास्वामी जी	भक्तमाल (प्रियदास जी कृत टीका सहित)	ठाकुर प्रसाद एण्ड सन्ज, बुक सेलर, वाराणसी

मिश्रित

	साधककण्ठभूषण (वैष्णव वन्दना व परिचय)	कृष्णदास बाबा-प्रकाशित, कुसुमसरोवर, मथुरा, संवत् 2025

समालोचनात्मक ग्रन्थ
बंगला ग्रन्थ

अमूल्यधनराय भट्ट	गौड़ीय चरितअभिधान (प्रथम खण्ड)	मानसी प्रेस, कलकत्ता 1331 बङ्गाब्द
गोपीनाथकविराज महामहोपाध्याय	भारतीय साधनार धारा	संस्कृत, कॉलिज, कलकत्ता, सन् 1965
डॉ० चिण्मयी चट्टोपाध्याय	भक्तिरसेर विवर्तन	संस्कृत कॉलिज, कलकत्ता सन् 1972
श्रीदीनेशचन्द्र भट्टाचार्य	बाङ्गालीर सारस्वत अवदान (प्रथम खण्ड)	बङ्गीय साहित्य परिषत्, कलकत्ता, सन् 1951
राधागोविन्दनाथ	चैतन्यचरितामृतेर भूमिका	भक्ति-ग्रन्थ प्रचार भण्डार, बालिगञ्ज, कलकत्ता 1355 बङ्गाब्द
विमान विहारी मजुमदार	चैतन्य चरितेर उपादान	कलकत्ता विश्वविद्यालय, सन् 1959
हरिदास दास	गौड़ीय वैष्णव अभिधान (2-4 खण्ड)	हरिबोल कुटीर, श्रीधाम नवद्वीप, 471 चैतन्याब्द
हरिदास दास	गौड़ीय वैष्णव साहित्य	हरिबोल कुटीर, श्रीधाम, नवद्वीप, 462 चैतन्याब्द

हिन्दी ग्रन्थ

ए०सी० बूलनर	प्राकृत प्रवेश (Introduction to Prakrit)	ओरियण्टल बुक्स रिप्रिण्ट कोरपोरेशन बुक पब्लिशर्स, दिल्ली 1968
रत्नकुमारी	सोलहवीं शती के हिन्दी और बंगला वैष्णव कवि	भारती साहित्य मन्दिर, फव्वारा, दिल्ली
वाचस्पति गैरोला	संस्कृत साहित्य का इतिहास	चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1960
श्यामसुन्दर दास	साहित्यालोचन	इण्डियन प्रेस, प्रा० लिमिटेड, प्रयाग,

अंग्रेजी ग्रन्थ

A.B. Keith	Sanskrit Drama	Oxford, 1924
A.C. Bhaktivedanta Swami	Teachings of Lord Caitanya	Iskon Books, Los Angeles, New York, 1972
A.K. Majumdar	Caitanya : His Life and Doctrine-A Study in Vaishnavism	Bhartiya Vidya Bhavan Chowpatty, Bombay 1969.
Backson & Ganz	A Reader's Guide to Literary Terms	Thames and Hudsson, London, 2nd Ed., 1966
D.C. Sen	Vaisnava Literature of Mediaeval Bengal	University of Calcutta, 1917
George Sampson	A Concise Cambridge History of English Literature	Cambridge University Press, 3rd ed., 1972.
K.K.Datta Sastri	Bengal's Contribution to Sanskrit Literature	Sanskrit College, Calcutta, 1974
M.Krishmachariar	History of Classical Sanskrit Literature	Motilal Banarsi Das,1970
Sushil Kumar De	Early History of the Vaisnava Faith and Movement in Bengal	Firma K.L. Mukhopadhyaya, Calcutta 1961

Sushil Kumar De	History of Sankrit Poetics	Firma K.L. Mukhopadhyaya, Calcutta 1961
V. Varadachari	History of Sankrit Literature	Ram Narain Lal Beni Prasad

पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित निबन्ध

- Sanskrit Literature of the Vaisnavas of Bengal, Chintaharan Chakravarti, ABORI, Vol. X, 1929.
- Date of Sridharasvamin, author of the commentaries on the Bhagavata Purana and other works, P.K. Gode, ABORI, Vol. XXX, 1949.
- The Contribution of Kavikarnapura to Indian Peotics, Ramaranjan Mukherjee, Anviksa, Research Journal of the Department of Sanskrit, Jadavpur University, Calcutta, Vol. I, Part, I, 1956.
- The Psychological Tenets of the Vaishnavas, R.L. Mitra, JASB, Vol. LIII, Pt. I, Calcutta, 1884.
- Two Ascriptions Examined - Sivaprasad Bhattacharya, Our Heritage, Vol, IV, Part I, Sanskrit College, Calcutta, 1956.
- पदावली साहित्ये प्रेमेर स्वरूप, रवीन्द्रनाथ घोष ठाकुर, Sahitya Patrika, Journal of the Department of Bengali, Dacca University, 1962.
- A Catalogue of Sanskrit Manuscripts, India Office, Part IV.
- A Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts in Vangiya Sahitya Parishat.
- A Descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts, Univeristy Library, Varanasi, 1965.
- A Descriptive Catalogue of the Vernacular Manuscripts, Royal Asiatic Society of Bengal, 1941
- Catalogus Catalogorum, Vol. V, 1969
- New Catalogus Catalogorum, 1962, 1966, 1967.